श्रीशंकरस्तुतिः

१

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणाकरम्।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम्॥

२

वेदान्तार्थ- तदाभास--क्षीरनीरविवेकिनम्।
नमामि भगवत्पादं पाखण्डध्वान्तभास्करम्॥

—अमलानन्द सरस्वती

३

अज्ञोऽप्यभूत्प्राज्ञ आशु किल ज्ञानयोगी यत्कृपया।
निखिलकलाविमलनिशं तमहं प्रणमामि शङ्कराचार्यम्॥

—सच्चिदानन्द स्वामिनः

४

अद्वैतामृतवर्षिभिः परगुरुव्याहारधाराधरैः
कान्तैर्हन्त समन्ततः प्रसृमरैर्निष्कृततापत्रयैः।
दुर्भिक्षं स्वपरैकताख्यजगतः दुर्भिक्षसम्पादितं
शान्तं सम्प्रति खण्डिताऽत्र निबिडा पाखण्डवल्लीवनाः॥

— माधवाचार्यस्य

समर्पणम्

इतिहासपरां रीतिमवलम्ब्य धिया स्वया ।
विचार्य 'त्रिजयानां' च वृत्तं निरवशेषतः ॥१॥
भक्तिपूतेन मनसा बलदेवेन शर्म्मणा ।
विषयानां समग्राणां सन्निवेश इहाहृतः ॥२॥
गम्भीरं क्वार्यचरितं क्व चाल्पविषयामतिः ।
वृत्ताम्बुधिस्तु संतीर्णो विश्वनाथप्रसादतः ॥३॥
नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते ।
इति प्रतिज्ञा-निर्वाहः कृतो मतिपुरःसरः ॥४॥
शङ्कराचार्यचरितं श्री शङ्कर—कराम्बुजे ।
परमा श्रद्धया प्रेम्णा समर्प्यत इदं मया ॥५॥
इतिहासकथास्वादरसिकाः सुधियो मुदा ।
आलोचयन्तु चरितमित्येषाऽभ्यर्थना मम ॥६॥

———

प्रस्तावना

आज शङ्कराचार्य का जीवनचरित हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय मुझे अपार आनन्द हो रहा है। राजनैतिक आन्दोलन के इस युग में हम अपने धर्म के संरक्षकों तथा प्रतिष्ठापकों को एक तरह से भूलते चले जा रहे हैं। परन्तु आचार्य शङ्कर का पावन चरित भुलाने की वस्तु नहीं है। यह तो हमारे निरन्तर मनन का प्रधान विषय है। आचार्य का हमारे ऊपर इतना अधिक उपकार है कि उसका स्मरण न करना हमारे लिये घोर अपराध है। शङ्कर की जयन्ती हमारे लिए राष्ट्रीय पर्व है। उनका चरित्र परमार्थ पथ के पथिकों के लिये एक बहुमूल्य सम्बल है। आचार्य के जीवन-चरित के सम्बन्ध में यद्यपि बहुत से ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध होते हैं, तथापि आवश्यकता इस बात की थी कि उनके वृत्त को सर्व साधारण तक पहुँचाने के लिये उक्त ग्रन्थों का ऊहापोह कर हिन्दी में एक प्रामाणिक जीवन-चरित प्रस्तुत किया जाय। इसी अभाव की पूर्ति करने के लिए यह ग्रन्थ रचा गया है।

ग्रन्थ में चार खण्ड हैं — प्रवेश खण्ड (२) चरित खण्ड (३) रचना खण्ड (४) दर्शन खण्ड। **प्रवेश खण्ड** में हमने आचार्य के जीवन चरित को ठीक ठीक समझने के लिये जो आवश्यक उपकरण हैं उनका वर्णन किया है। पहले परिच्छेद में मैंने इस जीवन चरित के लिखने की शैली कैसी होनी चाहिए? इस विषय पर विशेष विचार किया है। द्वितीय परिच्छेद में उपलब्ध उपकरणों की समीक्षा की गयी है। तीसरे परिच्छेद में शङ्कर पूर्व भारत की एक भव्य झाँकी है, जिसके देखने से इनके जीवन चरित का महत्त्व भलीभाँति समझा जा सकता है। चौथे परिच्छेद में शङ्कराचार्य के आविर्भाव काल का पूरा विवेचन किया गया है।

'चरित खण्ड' में ६ परिच्छेद हैं जिनमें शङ्कर का जीवन चरित क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड के लिखने में हमारा यही अभिप्राय नहीं है कि केवल शङ्कर का ही जीवन चरित दिया जाय, प्रत्युत उनके समसामयिक महापुरुषों का, विशेषतः कुमारिलभट्ट, का जीवन वृत्त, भी साथ साथ निबद्ध किया गया है। **रचनाखण्ड** में शङ्कर के रचनात्मक कार्यों का विवरण है। इसके पहले परिच्छेद में शङ्कर के ग्रन्थों का विशेष रूप से विवरण दिया गया है और यथाशक्ति उनके असली ग्रन्थों की छानबीन युक्तियों के सहारे की गयी है। इसके दूसरे परिच्छेद में शिष्यों का विस्तृत परिचय है। शङ्कर के प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। मण्डन और सुरेश्वर की एकता को लेकर आधुनिक विद्वानों ने बहुत कुछ शोध किया है। हमने यह सप्रमाण दिखलाया है कि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इसके तीसरे परिच्छेद में आचार्य द्वारा स्थापित मठों के विवरण के साथ वहाँ के विशिष्ट आचार्यों का भी आवश्यक परिचय बड़ी छानबीन के साथ दिया गया है। मैंने मठाम्नाय के उस मूल अंश को भी अन्यत्र परिशिष्ट के रूप में दे दिया है जिसमें शङ्कर ने इन मठों के संचालन के नियम निर्धारित किये हैं।

दशनामी सम्प्रदाय की उत्पत्ति, विकास, उसके उद्देश्य तथा वर्तमान स्थिति का वर्णन भी इस परिच्छेद के अन्त में किया गया है।

अन्तिम खण्ड—**दर्शन खण्ड**—आचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित तथा उपबृंहित अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक तथा दार्शनिक परिचय प्रस्तुत करता है। इसके पहले परिच्छेद में प्राचीन वेदान्त का विशिष्ट परिचय है। आचार्य के पहले भी जिन वेदान्ताचार्यों ने वेदान्त की भूयसी प्रतिष्ठा की थी और जिनके नाम भी हम भूलते जाते हैं उनका विस्तृत उल्लेख किया गया है। अनन्तर शङ्कर के परवर्ती वेदान्ताचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इस प्रकार इस परिच्छेद में प्राचीन वेदान्त और अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक विवरण विशेष खोज के अनन्तर प्रस्तुत किया गया है। इस खण्ड के दूसरे परिच्छेद में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। पाठकों के सौकर्य के लिये स्थान स्थान पर मूल ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं। वर्णन संक्षिप्त ही है। केवल तत्त्वज्ञान और आचारमीमांसा का ही वर्णन है। प्रमाणमीमांसा का वर्णन स्थानाभाव से कारण छोड़ दिया गया है। अन्तिम परिच्छेद आचार्य के उदात्त चरित्र का विशिष्ट समीक्षण है जिसमें उनकी बहुमुखी अलौकिकी प्रतिभा तथा व्यापक व्यक्तित्व की विशेषताएँ समझायी गयी हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में शङ्कर के समय, समकालीन व्यक्ति, जीवन चरित, ग्रन्थ, शिष्य, मठ तथा उनकी व्यवस्था, उनके विचार आदि समस्त आवश्यक विषयों का संक्षिप्त अथच प्रामाणिक वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ को प्रामाणिक बनाने के लिए मैंने यथाशक्ति खूब परिश्रम किया है। शङ्कर के जीवन चरित के ऊपर संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, बँगला, मराठी भाषाओं में लिखे गये उपलब्ध ग्रन्थों का यथाविधि तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया है। 'नामूलं लिख्यते किञ्चित् नानपेक्षितमुच्यते' इस मल्लिनाथी प्रतिज्ञा के निबाहने का मैंने भरसक प्रयत्न किया है। जो कुछ लिखा गया है वह प्रमाण पुरःसर लिखा गया है। बहुत से प्रमाण यथास्थान दे दिये गये हैं। जहाँ नहीं दिये गये हैं वहाँ भी प्रमाण विद्यमान हैं। इसकी भाषा भी ऐसी रक्खी गयी है जिसे सर्वसाधारण समझ सकें। दार्शनिक विवेचन में भी भाषा-सम्बन्धी दुरूहता भरसक नहीं आने पायी है। इस प्रकार ग्रन्थ को सरल, सुबोध तथा उपयोगी बनाने के लिये मैंने यथाशक्य यत्न किया है। अन्त में उन सज्जनों को धन्यवाद देना चाहता हूँ जिनके सत्परामर्श तथा सहायता से यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ है। सर्वप्रथम मैं पूज्यवर महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज जी को धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ में आवश्यक परामर्श देकर हमें अनुगृहीत किया है। ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने में तथा शीघ्र तैयार करने में तीन व्यक्तियों ने मेरा पर्याप्त सहायता की है—एक तो हैं मेरे अनुज पं० कृष्णदेव उपाध्याय एम. ए. साहित्यशास्त्री साहित्यरत्न; दूसरे हैं मेरे सुयोग्य छात्र वंशीधर मिश्र एम० ए० तथा तीसरे हैं मेरे चिरंजीवी पुत्र गौरीशङ्कर उपाध्याय एम० ए०। इन तीनों सज्जनों ने यदि मेरे लिए लेखक बनना स्वीकार नहीं किया होता तो यह कार्य इतनी जल्दी सम्पन्न नहीं होता। इस लिये ये मेरे आशीर्वाद के भाजन हैं।

अन्त में, पाठकों को यह बता देना चाहता हूँ कि काशी में जिस स्थान पर निवास करते हुए आचार्य शङ्कर ने अपने अमर ग्रन्थों की रचना की तथा अपनी आध्यात्मिक साधना को फलवती बनाया, उस स्थान के पास ही शङ्कर के इस चरित की रचना की गयी है। जिनकी पावन नगरी में निवास कर इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है उन आशुतोष बाबा विश्वनाथ से मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि शङ्कराचार्य का यह चरित ग्रन्थ अपने उद्देशों में सफल हो और भारत के प्रत्येक घर में आचार्य का अमृतमय उपदेश पहुँचाता रहे।

आज लगभग पाँच वर्षों के अनन्तर आचार्य श्री शङ्कर का यह चारु चरित प्रकाशित हो रहा है। दो वर्षों तक तो कागज की कमी के कारण यह यों ही पड़ा रहा और उतने ही दिनों तक यह प्रेस के गर्भ में सोता था। सौभाग्यवश आज यह विद्वानों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है। छपाई की व्यवस्था के दूर रहने के कारण इस शोभन ग्रन्थ में अनेक अशोभन अशुद्धियों की सत्ता बेतरह खटक रही है। विज्ञ पाठकों से प्रार्थना है कि वे इन्हें शुद्ध कर लेने की कृपा करें।

एक बात। इस ग्रंथ के सप्तम परिच्छेद में कुमारिल भट्ट के विषय में उपलब्ध सामग्री के आधार पर विशेष मीमांसा की गई है। उनकी जन्मभूमि का प्रश्न अब भी विवादास्पद ही है, परन्तु मुझे तो यह निश्चित रूप से प्रतीत हो रहा है कि वे बिहार प्रान्त के ही निवासी थे। मिथिला की प्रसिद्धि उन्हें मिथिला-निवासी मण्डन मिश्र का बहनोई बतलाती है। आनन्दगिरि उन्हें उदक् देश (उत्तर देश) से आकर जैनों तथा बौद्धों के परास्त करने की बात कहते हैं जिनसे उनका उत्तर भारतीय होना तो निःसन्देह सिद्ध होता है। उनकी शिक्षा मगध के प्रमुख विद्यापीठ नालन्दा में होती है। उनके पास धान के विशाल खेत होने का उल्लेख तिब्बती अनुश्रुतियों में स्पष्ट किया गया है। इस सब प्रमाणों का सामूहिक निष्कर्ष यही है कि वे मगध के ही निवासी थे जहाँ आज भी धान की विशेष खेती होती है।

ग्रन्थ के अन्त में दो नवीन अनुक्रमणी जोड़ दी गई हैं। पहिली में अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थकारों का और दूसरी में अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों का निर्देश एकत्र कर दिया गया है। यह सूची पूर्ण होने का दावा नहीं करती, परन्तु विख्यात आचार्य तथा उनकी रचनाओं की सूचिका होने का गौरव उससे छीना भी नहीं जा सकता।

पौषी पूर्णिमा, सम्वत् २००६
३—१—५०
काशी

बलदेव उपाध्याय

कृतज्ञता-प्रकाश

स्वर्गीय राय राजेश्वर बली की प्रेरणा से कई वर्ष पूर्व नए ग्रंथों की रचना में सहायता देने के लिए जो धन हिंदुस्तानी एकेडेमी को अनेक दाताओं द्वारा प्राप्त हुआ था, उसमें गणेश फ्लावर मिल के श्री महानारायण जी से प्राप्त १२००) की रक़म भी थी। दाता की इच्छा थी कि यह रक़म श्री शंकराचार्य पर पुस्तक लिखाने में व्यय की जाय। उपर्युक्त रक़म प्रस्तुत पुस्तक के लेखक को पारिश्रमिक स्वरूप भेंट की गई है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के अवसर पर हम एकेडेमी की ओर से दाता के प्रति उनकी उदारतापूर्ण सहायता के लिए कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

धीरेंद्र वर्मा
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष
हिंदुस्तानी एकेडेमी

१४—३—५०

विषय-सूची

३—रचना-खंड

चतुर्दश परिच्छेद : शंकर के ग्रन्थ १२५-१४७

पंचदश परिच्छेद : शिष्य-परिचय १४८-१६४

षोडश परिच्छेद : मठों का विवरण १६५-२१४

४—दर्शन खंड

सप्तदश परिच्छेद : अद्वैत वेदांत का इतिहास २१५-२४२

वृत्त के परिचायक जितने ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं उनका तुलनात्मक अध्ययन कर ही यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया है। पूर्वोक्त दो परम्पराओं में माधव के दिग्विजय में निर्दिष्ट परम्परा विशेष प्रसिद्ध, विद्वज्जनमान्य तथा व्यापक है। अतः उसी का अनुकरण मूल ग्रन्थ में है। पाद-टिप्पणियों मे दूसरी परम्पराओं की विशिष्ट बातें स्थान स्थान पर दे दी गई है।

डाक्टर औफ्रेक्ट की बृहत् हस्तलिखित ग्रन्थसूची (कैतेलोगोरुस कैतेलोगारुम्) तथा अन्य सूची देखने से 'शंकरविजय' या 'शङ्करदिग्विजय' के नाम से निर्दिष्ट ग्रन्थ निम्नलिखित हैं:—

शंकरविजयों की सूची

	ग्रन्थ	लेखक
(१)	शङ्कर दिग्विजय	माधवाचार्य
(२)	शंकरविजय	आनन्दगिरि
(३)	"	चिद्विलास यति
(४)	"	व्यासगिरि
(५)	शंकर विजयसार	सदानन्द व्यास
(६)	आचार्य चरित	गोविन्दानन्द यति
(७)	शंकराभ्युदय	राजचूडामणिदीक्षित
(८)	शङ्करविजयविलासकाव्य	शङ्करदेशिकेन्द्र
(९)	शंकरविजयकथा	
(१०)	शंकराचार्यचरित	
(११)	शंकराचार्यावतारकथा	आनन्दतीर्थ
(१२)	शंकरविलास चम्पू	जगन्नाथ
(१३)	शंकराभ्युदयकाव्य	रामकृष्ण
(१४,	शंकरदिग्विजयसार	व्रजराज
(१५)	प्राचीन शङ्करविजय	मूकशङ्कर
(१६)	बृहत् शङ्करविजय	सर्वज्ञ चित्सुख
(१७)	शंकराचार्योत्पत्ति	
(१८)	गुरुवंशकाव्य	लक्ष्मणाचार्य
(१९)	शंकराचार्यचरित	गोविन्दनाथ[1]
(२०)	शंकरविलास	विद्यारण्य[2]
(२१)	आचार्यदिग्विजय	वल्लीसहाय कवि[3]
(२२)	शङ्करानन्द चम्पू	गुरु स्वयंभूनाथ[4]

---

१ कैटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दि इंडिया आफिस लायब्रेरी, जिल्द ७, भाग २, न० ५९६४

२ वही, सं० ६९५७

३ गवर्नमेंट ओरियंटल लायब्रेरी, मद्रास, संख्या २०८७२

४ वही, संख्या २०८७५

उपर्युक्त सूची के अनेक ग्रन्थ अभी तक हस्तलिखित रूप में ही उपलब्ध होते हैं; कतिपय ग्रन्थ छप कर प्रकाशित भी हुए हैं। इन ग्रन्थों के अनुशीलन करने पर भी इनके रचना-काल का ठीक ठीक पता नहीं चलता, जिससे इनके पौर्वापर्य का निर्णय भली भाँति किया जा सके। इसी से इदमित्थ रूप से इन दिग्विजयों के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। हम जिस परिणाम पर पहुँचे हैं उनका उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा।

(१) आनन्दज्ञान (आनन्दगिरि) —बृहत् शंकरविजय। हमारी दृष्टि में यही 'शंकरविजय' सब विजयों में सब से अधिक प्राचीन है। इस ग्रन्थ के अस्तित्व का पता हमें माधवकृत शंकरदिग्विजय के टीकाकर्ता धनपति सूरि के इस कथन से लगता है—एतत् कथाजालं 'बृहच्छंकरविजय' एव श्रीमदानन्द ज्ञानाख्यानन्दगिरिणा रचिते द्रष्टव्यमिति दिक्[1]। अर्थात् ये कथासमूह आनन्दज्ञान आनन्दगिरि रचित 'बृहत् शंकरविजय' में उपलब्ध होते हैं। धनपति सूरि ने अपनी टीका मे लगभग १३५० श्लोकों को दिग्विजय के वर्णन के समय किसी ग्रन्थ से उद्धृत किया है जिसका नाम उन्होंने कहीं भी निर्दिष्ट नहीं किया। इस में १५ सर्ग २ श्लोक की व्याख्या मे ५८१ श्लोक, चौथे श्लोक की व्याख्या में ४०२ श्लोक तथा २८ वें श्लोक की व्याख्या मे ३५१ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। हमारा दृढ़ अनुमान है कि ये श्लोक आनन्दज्ञान के 'बृहत्-शंकरविजय' से ही हैं जिसका उल्लेख १६ वें सर्ग के १०३ श्लोक की टीका में उन्होंने किया है। 'आनन्दज्ञान' का ही प्रसिद्ध नाम आनन्द गिरि है, जिन्होंने शंकराचार्य के भाष्यों के ऊपर बड़ी ही सुबोध तथा लोकप्रिय टीकायें रची हैं। शारीरक भाष्य की टीका 'तात्पर्य-निर्णय' इनकी ही अनमोल कृति है। इन्होंने शंकराचार्य की गद्दी सुशोभित की थी। किसी मठ के अध्यक्ष थे। कामकोटि पीठ वाले इन्हें अपने मठ का अध्यक्ष बतलाते हैं, द्वारिका पीठ वाले अपने मठ का। जो कुछ भी हो, इनका समय निश्चितप्राय है कि विक्रम की १२ वीं शताब्दी में ये अवश्य विद्यमान थे। यह ग्रन्थ आजकल कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। कालक्रम के अनुसार यह ग्रन्थ सब से प्राचीन तथा प्रामाणिक प्रतीत होता है।

आनंद-ज्ञान शंकरविजय

(२) आनन्द गिरि—शंकरविजय। इस ग्रन्थ को जीवानन्द विद्यासागर ने कलकत्ते से १८८१ ई० में प्रकाशित किया, जिसमें ग्रन्थकर्ता का नाम 'आनन्दगिरि' मान लिया गया है, परन्तु ग्रन्थ की पुष्पिका में सर्वत्र ग्रन्थकार का नाम 'अनन्तानन्द गिरि' दिया गया है। इसमें ७४ प्रकरण हैं। आचार्य का कामकोटि पीठ से विशेष सम्बन्ध दिखलाया गया है। अतः अनेक विद्वानों की सम्मति है कि शृंगेरी पीठ की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा देख कर कामकोटि के अनुयायी किसी संन्यासी ने इस ग्रन्थ का निर्माण अपने पीठ के गौरव तथा महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए किया। अतः प्रसिद्ध आनन्दगिरि

आनन्दगिरि : शंकरविजय

---

[1] माधव—शंकरदिग्विजय, १६।१०३ की टीका (आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पृ० ६०१)

को इसका कर्ता मानना नितान्त भ्रमपूर्ण है। यह ग्रन्थ आचार्य के जीवनवृत्त के सांगोपांग वर्णन करने के लिए उतना उपादेय नहीं है जितना विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के विवरण प्रस्तुत करने में महत्त्वशाली है। इसके अनुशीलन से भारतीय विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं के रहस्य और पारस्परिक पार्थक्य का परिचय भली भाँति हो सकता है। आनन्दज्ञान के 'बृहत् शंकरविजय' का आशय लेकर यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया है। धनपति सूरि के द्वारा उद्धृत श्लोकों से इस ग्रंथ के वर्णन की तुलना से स्पष्ट है कि जो कुछ वहाँ संक्षिप्त रूप से है वही यहाँ बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। आनन्दज्ञान ने प्रमाण के तौर पर जिन वैदिक मन्त्रों को उद्धृत-मात्र किया है, उनकी विस्तृत व्याख्या तथा विशेष प्रपञ्चन इस ग्रन्थ में उपलब्ध है। ग्रन्थकार का भौगोलिक ज्ञान बहुत ही साधारण है, अन्यथा केदारनाथ के दर्शनानन्तर बदरीनारायण जाने के लिए कुरुक्षेत्र के मार्ग का उल्लेख नहीं होता। ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में अनंतानन्दगिरि ने आचार्य शङ्कर के द्वारा वैष्णवमत तथा कापालिकमत, सौरमत तथा गाणपत्यमत के स्थापनकी बात लिखी है !!!

(३) चिद्विलास यति—शङ्करविजय-विलास। यह ग्रन्थ गुरु-शिष्यके संवादरूप में लिखा गया है। गुरु का नाम है—चिद्विलास यति और शिष्य का विज्ञानकन्द। शिष्य ने गुरु से शंकराचार्य के जीवनवृत्त के विषय में जिज्ञासा की। उसी की निवृत्ति के लिए इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। अनन्तानन्द गिरि ने अपने शङ्करविजय में चिद्विलास तथा विज्ञानकन्द को आचार्य का साक्षात् शिष्य बतलाया है। इस ग्रन्थ तथा पूर्व ग्रन्थ में अनेक बातों में साम्य है—घटनाओं में तथा भौगोलिक स्थानों के नाम में भी। इस ग्रन्थमें ३२ अध्याय हैं। इस के आरम्भ में नारद जी के भूमण्डल की दशा देखते-देखते केरल देश में जाने का तथा धार्मिक दुरवस्था का विशेष वर्णन है। यह ग्रन्थ तैलङ्गाक्षरों में मद्रास से बहुत पहले ही प्रकाशित हुआ है। अब नागरी में काशी से प्रकाशित हो रहा है।

(चिद्विलासयतिः शंकरविजय-विलास)

(४) राजचूडामणि दीक्षित—शङ्कराभ्युदय। दीक्षित जी दक्षिण भारत के प्रसिद्ध कवियों में अन्यतम थे। इनके पिता का नाम था रत्नखेट श्रीनिवास तथा माता का कामाक्षी। वह तञ्जोर के राजा 'रघुनाथ' के आश्रय में रहते थे, जिनकी प्रशंसा उन्हों ने 'रघुनाथभूपविजय' काव्य में की है। ये दार्शनिक भी थे तथा साहित्यिक भी। जैमिनि सूत्रों की 'तन्त्र शिखामणि' नामक व्याख्या की रचना १६३६ ई० में हुई। 'रुक्मिणीकल्याण' काव्य में रुक्मिणी के विवाह की कथा विस्तार के साथ लिखी गई है। इन्हीं का लिखा हुआ 'शङ्कराभ्युदय' नामक काव्य भी है जिस के आदि के ६ सर्ग प्रकाशित हुए हैं।

(शंकराभ्युदय)

(५) माधव—शङ्करदिग्विजय। आचार्य शङ्कर के विषय में यही ग्रन्थ सब से अधिक लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। हमारा आचार्य-विषयक विशेष ज्ञान इस

ग्रन्थरत्न के ऊपर अवलम्बित है। ग्रन्थकार दर्शन के विशिष्ट विद्वान् प्रतीत होते हैं, क्योंकि इस ग्रंथ पर उनकी विद्वत्ता की गहरी छाप पड़ी हुई है। मण्डन मिश्र तथा भट्टभास्कर के साथ शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ के जो प्रसङ्ग नवम तथा पञ्चदश सर्ग में क्रमशः वर्णित हैं वे माधव के दर्शनज्ञान के उत्कृष्ट उदाहरण हैं[1]।

माधव—शङ्करविजय

प्रश्न यह है कि इसके रचयिता 'माधव' कौन हैं? परम्परा से विद्यारण्य स्वामी जिनके गृहस्थाश्रम का प्रसिद्ध नाम माधवाचार्य था इसके कर्ता माने जाते हैं। परन्तु विशेष अनुशीलन करने पर यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। इस निर्णय पर पहुँचने के अनेक कारण हैं :—

(क) विद्यारण्य स्वामी शृंगेरीमठ के अध्यक्ष थे। अतः उनके ग्रन्थ में उसी मठ की परम्परा तथा मान्यता का उल्लेख होना न्यायसंगत प्रतीत होता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। शृंगेरीमठ ने 'गुरुवंश-महाकाव्य' अपनी ओर से प्रकाशित किया है। इस काव्य में वर्णित शंकराचार्य का वृत्त माधव वर्णित चरित से मूलतः पृथक है।

(ख) शंकरदिग्विजय का रचयिता अपने आप को 'नवकालिदास' कहता है—

वागेषा नवकालिदासविदुषो दोषोज्झिता दुष्कवि-
व्रातैर्निष्करुणैः क्रियेत विहृता धेनुस्तुरुष्कैरिव। (१।१०)

माधवाचार्य के ग्रन्थ में इस उपाधि का कहीं भी उल्लेख नहीं है। अतः स्पष्टतः यह काव्य 'नवकालिदास' उपाधिधारी किसी माधव भट्ट की रचना होना चाहिए।

(ग) माधव (विद्यारण्य) के ग्रन्थों की सूची में इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता।

(घ) इस ग्रन्थ के पचीस श्लोक (सर्ग १२।१-२४ श्लोक) राजचूडामणि दीक्षित के शंकराभ्युदय (सर्ग ४, श्लोक ७६, ७।२४—७३) से ज्यों के त्यों उद्धृत किये गये हैं। अतः इसकी रचना १७ वीं शताब्दी के अनन्तर होनी चाहिए। माधव विद्यारण्य का समय १४ वीं शताब्दी है।

(ङ) माधव विद्यारण्य की प्रसन्न शैली से इस काव्य की शैली भिन्न पड़ती है। पदमैत्री उतनी अच्छी नहीं है। जान पड़ता है, कोई काव्यकला का अनभ्यासी व्यक्ति पद्य लिख रहा हो।

(च) इस काव्य में अनेक इतिहास-विरुद्ध बातें दीख पड़ती हैं जिनका उल्लेख विद्यारण्य जैसा माननीय आचार्य कभी नहीं करता। शैवसम्प्रदाय के आचार्य अभिनवगुप्ताचार्य का शास्त्रार्थ शंकर के साथ दिखलाना इतिहास तथा

[1] इस शंकरविजय का टिप्पणी तथा ऐतिहासिक भूमिका के साथ लेखक ने अनुवाद किया है जिसका प्रकाशन श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर (हरिद्वार) से हुआ है, सं० २०००।

कालगणना दोनो के विरुद्ध है। अभिनव गुप्त[1] काश्मीर के निवासी थे, कामरूप के नहीं। वे शंकर से तीन सौ वर्ष बाद अवतीर्ण हुए थे। उसी प्रकार शंकर का शास्त्रार्थ बाण, दण्डी, मयूर,[2] खण्डनकार[3] (खण्डनखण्ड खाद्य के रचयिता कविवर श्रीहर्ष), भट्ट भास्कर[4], उदयनाचार्य[3] (१० शतक) के साथ इस ग्रन्थ में दिखलाया गया है। इनमें प्रथम तीन ग्रन्थकार शंकर से प्राचीन हैं तथा अन्तिम तीन आचार्य शंकर से पश्चाद्वर्ती हैं। इन छहों की समसामयिकता प्रदर्शित करना नितान्त अनुपयुक्त है।

इन्हीं कारणों से बाध्य होकर हमें कहना पड़ता है कि माधव विद्यारण्य इसके कर्ता नहीं हैं। 'नवकालिदास' की उपाधि वाले, 'भारतचम्पू' के रचयिता माधव भट्ट के नाम से प्रख्यात हैं। वे ही इस दिग्विजय के भी रचयिता हैं। ये दक्षिण के निवासी थे और राजचूडामणि दीक्षित (१६ शतक) से भी अर्वाचीन हैं। 'भारतचम्पू' तथा इस विजय की काव्यशैली में नितान्त साम्य है।

इस काव्य के ऊपर दो टीकायें उपलब्ध होती हैं—

(१) **वेदान्तडिण्डिम**—जिसकी रचना काशी में सारस्वत पण्डित रामकुमार के पुत्र धनपति सूरि ने १८५५ विक्रमी में की। (२) **अद्वैतराज्यलक्ष्मी**—

टीकायें — लेखक अनेक ग्रन्थों के निर्माता अच्युतराय मोडक[5]।

(६) **सदानन्द व्यास—शंकरदिग्विजयसार**। सदानन्द पंजाब के रावलपिंडी के पास रहनेवाले थे। बालकपन में ही अशेष विद्याओं में प्रौढ़ता प्राप्त कर वे पौराणिक वृत्ति से अपनी जीविका चलाते थे। वे नानकपन्थी साधु बाबा रामदयाल जी के साथ काशी आये और रामघाट के पास 'नालूजीका फर्श' नामक मुहल्ले में पुराणों की कथा कहा करते थे। किसी धनाढ्य व्यक्ति ने साधुजी को बड़ी सम्पत्ति दी

सदानन्द—शंकरदिग्विजय सार

साधुजी थे विरक्त। उन्होंने उसमें से एक कौड़ी भी नहीं छुई और सम्पूर्ण धन व्यासजी को ही दे डाला। इसी रूपये से व्यासजी ने एक शिवमन्दिर मणिकर्णिका घाट पर बनवाया जो आज भी इनकी विमल कीर्ति की कहानी सुनाता हुआ खड़ा है। पण्डित रामकुमारजी नामक सारस्वत ब्राह्मण के पुत्र धनपति सूरि को इन्होंने विद्या का दान ही नहीं दिया, प्रत्युत अपनी गुणवती कन्या का भी विवाह

---

१ तदनन्तरमेव कामरूपानधिगत्याभिनवोपपदशब्दगुप्तम्।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकार स च भग्नो मनसेदमालुलोचे
१५।१५८

२ स कथाभिरवन्तीषु प्रसिद्धान् विबुधान् बाणमयूरदण्डिमुख्यान्।
शिथिलीकृतदुर्मताभिमानान् निजभाष्यश्रवणोत्सुकांश्चकार॥ शं० दि० १५।१४१

३ षड्युक्ति निकृत्त सर्वशास्त्रं गुरुभट्टोदयनादिकैरजय्यम्।
स हि खण्डनकारमूढदर्पं बहुधा व्यूह्य वशंवदं चकार॥ शं० दि० १५।१५७

४ द्रष्टव्य शं० दि० १५।८०—१४० तक भट्टभास्कर के साथ शास्त्रार्थ।

५ पहली व्याख्या का समग्र भाग तथा दूसरे का सारांश मूलग्रन्थ के साथ आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि में प्रकाशित हुआ है।

उन्हीं के साथ कर दिया। ये धनपति सूरि वे ही हैं जिन्होंने माधवकृत शङ्कर-दिग्विजय की 'डिण्डिम' नामक टीका का प्रणयन किया है। सदानन्द व्यास ने ग्रन्थों के निर्माण काल का भी उल्लेख किया है। शङ्करदिग्विजयसार का प्रणयन[1] १८३६ विक्रमी (= १७८० ई०) में तथा 'गीताभाव प्रकाश' का निर्माण[2] १८३७ विक्रमी (= १७८१ ई०) में किया गया। मणिकर्णिकाघाट पर शिव मन्दिरका निर्माण १८५३ विक्रमी से इन्होंने किया। अतः लगभग डेढ़ सौ वर्ष हुए इसी काशीपुरी में इनका निवास था।

इनके ग्रन्थों की संख्या अधिक है। इनके ग्रन्थों में कतिपय प्रकाशित हुए हैं तथा कतिपय अभी तक हस्तलिखित रूप में ही उपलब्ध हैं :—(१) अद्वैतसिद्धि-सिद्धान्त सार सटीक; (२) गीताभावप्रकाश (भगवद्गीता की पद्यमयी टीका); (३) प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि सटीक (छन्दोबद्ध वेदान्त का सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थ), (४) स्वरूप-निर्णय, (५) महाभारत-तात्पर्यप्रकाश, (६) रामायण-तात्पर्यप्रकाश, (७) महाभारत-सारोद्धार सटीक (८) दशोपनिषत्सार, (९) शङ्करदिग्विजयसार—यह ग्रन्थ माधव के दिग्विजय ग्रन्थ का सारांश है। कहीं कहीं तो माधव के श्लोक ज्यों के त्यों रख लिए गये हैं। उदाहरणार्थ पद्मपाद का आध्यात्मिक गायन (८।२१-३१) माधव के ग्रन्थ से ही अक्षरशः गृहीत हुआ है। इसे पढ़ कर माधव के बृहत् ग्रंथ का संक्षेप भलीभाँति जाना जा सकता है।

ग्रन्थ

(७) कामकोटि पीठ के सम्प्रदायानुसार आचार्य का चरित्त कई बातों में भिन्न है। यह पीठ माधव के दिग्विजय में श्रद्धा नहीं रखता, प्रत्युत निम्नलिखित ग्रन्थों को ही प्रामाणिक मानता है जिनका निर्माण इस पीठ के अध्यक्षों ने समय समय पर किया[3] :—

कामकोटिपीठ के अनुसार ग्रन्थ

(क) **पुण्यश्लोक मञ्जरी**—शंकर से ५४ वें पीठाध्यक्ष सर्वज्ञ सदाशिव-बोध (१५२३-१५३९ ई०) के द्वारा रचित यह ग्रन्थ गौरवशाली माना जाता है। इसमें १०९ श्लोक हैं, जिनमें पीठ के आचार्यों का जीवनवृत्त संक्षेप में दिया गया है।

(ख) **गुरुरत्नमाला**—काञ्ची के ५५ वें अध्यक्ष परम शिवेन्द्र सरस्वती के शिष्य सदाशिव ब्रह्मेन्द्र की यह कृति है जिसमें यहाँ के पीठाधीशों का वृत्त ८६ आर्याओं में निबद्ध किया गया है।

(ग) **परिशिष्ट तथा सुषमा**—काञ्चीके ६१ वें अध्यक्ष महादेवेन्द्र सरस्वती के शिष्य, आत्मबोध की ये दोनों रचनायें हैं। परिशिष्ट में केवल १३ श्लोक हैं जो मञ्जरी की रचना के अनन्तर होने वाले पीठाध्यक्षों (५४ वें—६०वें) का

[1] रसगुणवसुचन्द्रे विक्रमादित्यराज्यात् समफलवति वर्षे चाश्विने मासि शुद्धे।
श्रवणयुतदशम्यां भौमवारेऽलिलग्ने ग्रथित इति निबन्ध सिद्ध ईशप्रसादात्॥

[2] मुनिगुणवसुचन्द्रे विक्रमादित्यराज्यात् शुभफलवति वर्षे माघमासे सितेऽस्मिन्
पशुपतितिथिमध्ये चन्द्रवारे सुलग्ने लिखित इति निबन्धः सिद्ध ईशप्रसादात्॥

[3] इन ग्रन्थों के लिए द्रष्टव्य एन्० के० वेङ्कटेशनकृतः 'श्रीशङ्कराचार्य ऐंड हिज कामकोटि पीठ'।

पुराण[1] में तीर्थों के वर्णन के अवसर पर आचार्य का चरित संकेतित है अथवा वर्णित है। 'शिवरहस्य' के नवम अंश के १६ वें अध्याय में शंकर की अवतारकथा का विशिष्ट वर्णन है जो यहां परिशिष्टरूप में दिया जाता है। 'शिवरहस्य' अभी तक अमुद्रित ही है। यह एक प्रकाण्ड विपुलकाय ग्रन्थ है जिस का मुख्य विषय शिवोपासना है। इसके अनेक खण्ड हैं जिन्हें 'अंश' कहते हैं। यदि उपरि निर्दिष्ट ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय तो बड़ा ही अच्छा हो। इस समीक्षण से स्पष्ट है कि आचार्य के जीवनवृत्त लिखने की ओर प्रवृत्ति प्राचीन काल से ही है। क्यों न हो, आचार्य शङ्कर दिव्य विभूति हैं जिनके चरित्र तथा उपदेश का चिन्तन और अनुशीलन प्रत्येक भारतीय का ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का प्रधान कर्तव्य है। महत्त्व के कारण ही तो वे शंकर के अवतार माने जाते हैं।

पुराण में शंकरचरित

परिशिष्ट

श्रीशङ्कराचार्यावतारकथा।

स्कन्द उवाच

तदा गिरिजया पृष्टस्त्रिकालज्ञस्त्रिलोचनः।
भविष्यच्छिवभक्तानां भक्तिं संवीक्ष्य विस्मयन् ॥ १ ॥
मौलिमान्दोलयन् देवो बभाषे वचनं मुने।
शृणुध्वमेभिर्गणपैर्मुनीशैश्च सुरैस्तथा ॥ २ ॥

ईश्वर उवाच

प्रभावं शिवभक्तानां भविष्याणां कलावपि।
शृणु देवि भविष्याणां भक्तानां चरितं कलौ ॥ ३ ॥
वदामि सङ्ग्रहेणाहं शृण्वतां भक्तिवर्धनम्।
गोपनीयं प्रयत्नेन नाख्येयं यस्य कस्यचित् ॥ ४ ॥
पापघ्नं पुण्यमायुष्यं श्रोतॄणां मङ्गलावहम्।
पापकर्मैकनिरतान् विरतान् सर्वकर्मसु ॥ ५ ॥
वर्णाश्रमपरिभ्रष्टानधर्मप्रवणान जनान्।
कलयब्धौ मज्जमानांस्तान् दृष्ट्वाऽनुक्रोशतोऽम्बिके ॥ ६ ॥
मदंशजातं देवेशि कलावपि तपोधनम्।
केरलेषु तदा विप्रं जनयामि महेश्वरि ॥ ७ ॥
तस्यैव चरितं तेऽद्य वक्ष्यामि शृणु शैलजे।
कल्यादिमे महादेवि सहस्रद्वितयात् परम् ॥ ८ ॥

---

[1] चतुर्भिः सह शिष्यैस्तु शङ्करोऽवतरिष्यति।
व्याकुर्वन् व्याससूत्राणि श्रुतेरर्थं यथोचितम्।
स एवार्थः श्रुतेर्ग्राह्यः शङ्करः सवितानन।
—सौरपुराण

सारस्वतास्तथा गौडा मिश्राः कर्णाजिना द्विजाः।
आममीनाशना देवि ह्यार्यावर्तनिवासिनः॥ ९॥
औत्तरा विन्ध्यनिलया भविष्यन्ति महीतले।
शब्दार्थज्ञानकुशलास्तर्ककर्कशबुद्धयः॥ १०॥
जैना बौद्धा बुद्धियुक्ता मीमांसानिरताः कलौ।
वेदबोधदवाक्यानामन्यथैव प्ररोचकाः॥ ११॥
प्रत्यक्षवादकुशलाः शल्यभूताः कलौ शिवे।
मिश्राः शास्त्रमहाशस्त्रैरद्वैतोच्छेदिनोऽम्बिके॥ १२॥
कर्मैव परमं श्रेयो नैवेशः फलदायकः।
इति युक्तिपरामृष्टवाक्यैरुद्बोधयन्ति च॥ १३॥
तेन घोरकुलाचाराः कर्मसारा भवन्ति च।
तेषामुत्पाटनार्थाय सृजामीशे मदंशतः[1]॥ १४॥
केरले शशलग्रामे विप्रपत्न्यां मदंशतः।
भविष्यति महादेवि शङ्कराख्यो द्विजोत्तमः॥ १५॥
उपनीततदा मात्रा वेदान् साङ्गान् ग्रहिष्यति।
अब्दावधि तत. शब्दे विहृत्य स तु तर्कजाम्॥ १६॥
मतिं मीमांसमानोऽसौ कृत्वा शास्त्रेषु निश्चयम्।
वादिमत्तद्विपवरान् शङ्करोत्तमकेसरी॥ १७॥
भिनत्त्येव तदा बुद्धान् सिद्धविद्यानपि द्रुतम्।
जैनान् विजिग्ये तरसा तथाऽन्यान् कुमतानुगान्॥ १८॥
तदा मातरमामन्त्र्य परिव्राट् स भविष्यति।
परिव्राजकरूपेण मिश्रानाश्रमदूषकान्॥ १९॥
दण्डहस्तस्तथा कुण्डी काषायवसनोज्ज्वलः।
भस्मदिव्यत्रिपुण्ड्राङ्को रुद्राक्षाभरणोज्ज्वलः॥ २०॥
तारुद्रार्थपारीणः शिवलिङ्गार्चनप्रियः।
स्वशिष्यैस्तादृशैर्घुष्यन् भाष्यवाक्यानि सोऽम्बिके॥ २१॥

[1]कालट्याख्ये ग्रामवर्ये केरलालङ्कृतीकृते।
विद्याधिराजतनयः प्राज्ञश्शिवगुरुर्वभौ॥
ततस्सदाशिवश्शम्भुर्लोकानुग्रहतत्परः।
तपोमहिम्ना तत्पत्न्यां प्रविवेश स्वतेजसा॥
सा दधार सती गर्भमादित्यसमतेजसम्।
व्यजायत शुभे काले पञ्चोच्चग्रहसंयुते॥
आनन्दन् बान्धवास्सर्वे पुष्पवर्षैर्दिवश्च्युतैः।
शम्भोर्वरमनुस्मृत्य पिता शिवगुरुः किल॥
आयुषो ह्रस्वतां जानन्नपि नोवाच किञ्चन।
सर्वज्ञत्वादिसुगुणान् शम्भूचास्तस्य संस्मरन्॥
तेजसा तस्य च शिशोस्सूतिगेहोदरस्थितैः।
नैशं तमो निववृते तदद्भुतमिवाभवत्॥ (आनन्दगिरीये)

मद्दत्तविद्यया भिक्षुर्विराजति शशाङ्कवत् ।
सोऽद्वैतोच्छेदकान् पापानुच्छिद्याक्षिप्य तर्कतः ॥ २२ ॥
स्वमतानुगतान् देवि करोत्येव निरर्गलम् ।
तथापि प्रत्ययस्तेषां नैवासीत् श्रुतिदर्शने ॥ २३ ॥
मिश्राः शास्त्रार्थकुशलास्तर्ककर्कशबुद्धयः ।
तेषामुद्बोधनार्थाय तिष्ये भाष्यं करिष्यति ॥ २४ ॥
भाष्यघुष्यमहावाक्यैस्तिष्यजातान् हनिष्यति ।
व्यासोपदिष्टसूत्राणां द्वैतवाक्यात्मनां शिवे ॥ २५ ॥
अद्वैतमेव सूत्रार्थं प्रामाण्येन करिष्यति ।
अविमुक्ते समासीनं व्यासं वाक्यैर्विजित्य च ।
शङ्करं स्तौति हृष्टात्मा शङ्कराख्योऽथ मस्करी [1] ॥ २६ ॥

शंकर उवाच

सत्यं सत्यं नेह नानास्ति किञ्चिदीशावास्यं ब्रह्म सत्यं जगद्धि ।
ब्रह्मैवेदं ब्रह्म पश्चात्पुरस्तादेको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे ॥ २७ ॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढो नानाकारो भासि भावैस्त्वमात्मा ।
पूर्णापूर्णो नामरूपैर्विहीनो विश्वातीतो विश्वरूपो महेशः ॥ २८ ॥
भूतं भव्यं वर्तमानं त्वयीशे सामान्यं वै देश-कालादिहीनः ।
नो ते मूर्तिर्वेदवेद्यस्त्वसङ्गः सङ्गीव त्वं लिङ्गसंस्थो विभासि ॥ २९ ॥
त्वद्भासा वै सोम-सूर्यानलेन्द्रा भोषैवोदेत्येष सूर्यश्च देवः ।
त्वं वेदादौ स्वर एको महेशो वेदान्तानां सारवाक्यार्थवेद्यः ॥ ३० ॥
वेद्यो वैद्यः सर्ववेदात्मविद्यो भिद्येद् दृष्ट्या तव हृत्तमोऽद्य ।
ओङ्कारार्थः पुरुषस्त्वमृतं च सत्यज्ञानानन्दभूमासि सोम ॥ ३१ ॥
बद्धो मुक्तो नासी सङ्गी स्वसङ्गः प्राणप्राणो मनसस्त्वं मनश्च ।
त्वत्तो वाचो मनसा सन्निवृत्तास्त्वयानन्दज्ञानिनो बुद्धभावाः ॥ ३२ ॥
त्वत्तो जातं भूतजातं महेश त्वया जीवत्येवमेवं विचित्रम् ।
त्वय्येवान्ते संविशत्येव विश्वं त्वां वै को वा स्तौति तं स्तव्यमीशम् ।
किञ्चिज्ज्ञात्वा सर्वभास्येव बुद्ध्या त्वामात्मानं वेद्मि देवं महेशम् ॥ ३३ ॥

---

[1] ॐ व्यासदत्तायुरुत्कृष्टतेजः पूर्णकलेवर ।
यमी श्रीशङ्कराचार्यो ब्रह्मव्यासादयस्तथा ॥
विष्णुर्वाणीशसंयुक्तो महादेवस्तदद्भुतम् ।
स तु दत्वा मुनिश्रेष्ठ ब्राह्मणं वरमास्तिकः ॥
कृतार्थोऽस्मि भवत्पाददर्शनादित्यभाषत ।
श्रृणवाचार्य भिदा मिथ्याऽप्यद्वैत पारमार्थिकम् ॥
उपदेश तृणमेवं कुरु यत्नेन सर्वतः ।
इत्युक्त्वान्तर्दधे ब्रह्मा व्यासश्च भगवान्मुनिः ॥
इति आनन्दगिरीयदिग्विजये चतुःपञ्चाशप्रकरणे ।

ईश्वर उवाच

इति शङ्करवाक्येन विश्वेशात्प्रादहं तदा ।
प्रादुर्बभूव लिङ्गात् स्वाद् अलिङ्गोऽपि महेश्वरि ॥ ३४ ॥
त्रिपुण्ड्रविलसत्फालश्चन्द्रार्धकृतशेखरः ।
नागाजिनोत्तरासङ्गो नीलकण्ठस्त्रिलोचनः ॥ ३५ ॥
वरकाकोदरानद्धराजद्धारस्त्वयाऽन्वया ।
तमब्रुवं महादेवि प्रणतं यतिनां वरम् ॥ ३६ ॥
शिष्यैश्चतुर्भिः संयुक्तं भस्म-रुद्राक्षभूषणम् ।
मदंशतस्त्वं जातोऽसि भुवि चाद्वैतसिद्धये ॥ ३७ ॥
पापमिश्राश्रितैर्मार्गैर्जैनदुर्बुद्धिबोधनैः ।
भिन्ने वैदिकसंसिद्धे अद्वैते द्वैतवाक्यतः ॥ ३८ ॥
तद्भेदगिरिवज्रस्त्वं सञ्जातोऽसि मदंशतः ।
द्वात्रिंशत् परमायुस्ते शाश्र्वं कैलासमावस ॥ ३९ ॥
एतत् प्रतिगृहाण त्वं पञ्चलिङ्गं सुपूजय ।
भस्म-रुद्राक्षसम्पन्नः पञ्चाक्षरपरायणः[1] ॥ ४० ॥
शतरुद्रावर्तनैश्च तारेण भसितेन च ।
बिल्वपत्रैश्च कुसुमैर्नैवेद्यैर्विविधैरपि ।
त्रिवारं सावधानेन गच्छ सर्वजयाय च ॥ ४१ ॥
त्वदर्थे कैलासाचलवरसुपालीगतमहा-
समुद्यच्चन्द्राभं स्फटिकधवलं लिङ्गकुलकम् ।
समानीतं सोमोद्यतविमलमौल्यर्चय परं
कलौ लिङ्गार्चाया भवति हि विमुक्तिः परतया ॥ ४२ ॥
स शङ्करो मां प्रणनाम मस्करी मयस्करं तस्करवर्यमार्ये ।
सङ्गृह्य लिङ्गानि जगाम वेगाद् भूमौ स बुद्धार्हत-जैन-मिश्रान् ॥ ४३ ॥
तद्योग-भोग-वर-मुक्ति-सुमोक्ष-योगलिङ्गार्चनात् प्राप्तजयः स्वकाश्रमे ।
तान् वै विजित्य तरसाऽक्षतशास्त्रवादैर्मिश्रान् स काञ्च्यामथ सिद्धिमाप ॥ ४४[1] ॥

इति श्रीशिवरहस्ये सदाशिवाख्ये नवमांशे शङ्करप्रादुर्भावे षोडशोऽध्यायः ॥
॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

---

[1] ॐतस्मादुदङ्मार्गमवलम्ब्य योगविद्याप्राप्तवियत्पथसञ्चारः कैलासमधिगम्य पार्वतीसमेत परमेश्वरं प्राणमत् । स्वात्मतयाऽनुसन्धानशीलस्य च परमगुरोरमतः परमेश्वरः पञ्च स्फाटिकलिङ्गानि प्रकाशयामास । जगदनुग्रहायाम्बिकास्तवस्मरेण सह तान्यादाय पुनरवनीतलमासाद्य केदारक्षेत्र एकं मुक्तिलिङ्गाख्यं तत्र प्रतिष्ठाप्य तत्क्षेत्रपूजकान् पूजार्थं नियोजयामास । ततः कुरुक्षेत्रमार्गाद् बदरीनारायणदर्शनं कृत्वा तत्र शीतोदकस्नानस्यातिदुर्गमत्वाद् हिमवत्सान्निध्याच्च भगवन्तमिदमुवाच—भो नारायण ! स्वामिन् ! मह्यमुष्णोदकं स्नानार्थं देहीति । स तु नारायणः स्वपीठाधःप्रदेशादुष्णजलसरितमुत्पादयामास । सर्वे स्नात्वा श्रीशङ्कराचार्यं तुष्टुवुः । तस्माद् द्वारकादिदिव्यस्थलविलोकनवशात् प्रादक्षिण्येन नीलकण्ठेश्वरं नत्वा तत्र शिष्यैः पूज्यमानः

परमगुरुः वरनामकं लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य तत्प्रधान् पूजार्थे नियुज्य ततः क्रमाद्योध्यामवाप । इति आनन्दगिरीये पञ्चपञ्चाशप्रकरणे ।

[1]ॐततः परं सरस्वतीं मन्त्रबद्धां कृत्वा गगनमार्गादेव शृङ्गगिरिसमीपे तुङ्गभद्रातीरे चक्रं निर्माय तदग्रे परदेवतां सरस्वतीं निधाय, "एवमाकल्पं स्थिरा भव मदाश्रये" इत्याज्ञाप्य निजमठं कृत्वा तत्र विद्यापीठनिर्माणं कृत्वा·······भारतीसम्प्रदायनिष्ठाः परमगुरोराचार्यस्वामिनः षट्ाक्षलब्धविद्यावैशद्या इति व्यवहारः । यस्त्वद्वैतमते स्थित्वा भारतीपीठनिन्दकः। स याति नरकं घोरं यावदाभूतसम्प्लवम् । इत्यादि ६२ प्रकरणे ।

ॐतत्रैव श्रीपरमगुरुः द्वादशाब्दकालं विद्यापीठे स्थित्वा बहुशिष्येभ्यः शुद्धाद्वैतविद्यायाः सम्यगुपदेशं कृत्वा तदनन्तरं पद्मपादाख्यं कञ्चिच्छिष्यं पीठाध्यक्षं कृत्वा भोगनामकं लिङ्गं तस्मिन् पीठे निक्षिप्य स्वयं निश्चक्राम । इत्यादि ६३ प्रकरणे ।

अतः सर्वेषां मोक्षफलप्राप्तये दर्शनादेव श्रीचक्रं प्रभवतीति भगवद्भिराचार्यैः तत्र निर्मितम् तस्माद् मुक्तिकाङ्क्षिभिः सर्वैः श्रीचक्रपूजा कर्तव्या, इति निश्चित्य.........तत्रैव निजावासयोग्यं मठमपि परिकल्प्य तत्र निजसिद्धान्तमद्वैतं प्रकाशयितुमन्तेवासिनं सुरेश्वरमाहूय योगनामकं लिङ्गं पूजयेति तस्मै दत्वा, त्वमत्र कामकोटिपीठमधिवसेत्यवस्थाप्य शिष्यजनैः परिपूज्यमानः श्रीपरमगुरुः सुखमास । ६५ प्रकरणे ।

ॐतदनु सर्वलोकैकसाक्षिचैतन्यानुभवविदितभूत- भविष्यद्-वर्तमानकालः परमगुरुः स्वतन्त्रपुरुषः शुद्धाद्वैतनिष्ठागरिष्ठान् सेतु हिमाचलमध्यदेशस्थानशेषान् ब्राह्मणादीन् कृत्वा, तदीयानेवाङ्गीकारसमर्थनिजशिष्यपरम्परामाकल्पं काञ्चीपीठादितत्तत्पट्टणस्थायिनीं कृत्वा, तन्मूलादेव सकलशिष्येभ्यो मोक्षमार्गोपदेशं च कल्पयित्वा, ततः कलावस्मिन् युगे नानापायविध्वस्तज्ञानविद्याङ्कुरेषु मर्त्येषु शुद्धाद्वैतविद्यायामनधिकारिषु, तेषां वृत्तिः पुनरपि यथेच्छं विभ्रष्टं खलं भवतीति सम्यग्विचार्य, लोकरक्षार्थं वर्णाश्रमपरिपालनार्थं च मतकल्पनां जीवेशभेदास्पदां रचयितुमुपक्रम्य निजशिष्यपरमतकालानलं दृष्ट्वेदमाह—इत्यादि ६६ प्रकरणे ।

ॐततः परं सर्वलोकगुरुराचार्यः स्वशिष्यान् परमतकालानलादियतीन् तदन्यांश्च तत्र तत्र विषयेषु प्रेषयित्वा तदनन्तरं समीपस्थमिन्द्रसम्प्रदायानुवर्तिनं सुरेश्वराचार्यमाहूय 'भो शिष्य इदमोक्षलिङ्गं चिदम्बरस्थले प्रेषये' त्युक्त्वा, स्वयं स्वलोकं गन्तुमिच्छुः काञ्चीनगरे मुक्तिस्थले कदाचिदुपविश्य स्थूलशरीरं सूक्ष्मेऽन्तर्धाप्य तद्रूपो भूत्वा सूक्ष्मं कारणे विलीनं कृत्वा चिन्मात्रो भूत्वा, अङ्गुष्ठमात्रपुरुषस्तदुपरि पूर्णमखण्डाकारमानन्दं प्राप्य सर्वजगद्व्यापकचैतन्यमभवत् सर्वव्यापकचैतन्यरूपेणाद्यापि तिष्ठति । १३० प्रकरणे । इति । ओं तत् सत् ।

तृतीय परिच्छेद

शंकरपूर्व भारत

किसी धर्म का प्रवाह अविच्छिन्न गति से एक समान ही सदा प्रवाहित नहीं होता, उसकी गति को रोकने वाले अनेक प्रतिबन्ध समय समय पर उत्पन्न होते रहते हैं, परन्तु शक्तिशाली धर्म कभी इन प्रतिबन्धों की परवाह नहीं करता। यदि उस धर्म में जीवनी शक्ति की कमी नहीं होती, तो वह इन विभिन्न रुकावटों के दूर करने में सर्वथा समर्थ होता है। इस कथन की सत्यता का प्रमाण वैदिकधर्म के विकाश का इतिहास है। वैदिकधर्म की गति को अवरोध करने वाले अनेक विघ्न समय समय पर आते रहे, परन्तु इस धर्म में इतनी जीवट है, इतनी शक्ति-मत्ता है कि वह इन विघ्नों के प्रवाह को दूर हटाता हुआ आज भी सशक्त है—सभ्य संसार के धर्मों के सामने अपनी महनीयता के कारण अपना मस्तक ऊपर उठाये हुए है।

वैदिकधर्म का बौद्धधर्म से तथा जैनधर्म से संघर्ष सदा होता रहा। काल-गणना के हिसाब से जैनधर्म का उदय बौद्धधर्म से पूर्व हुआ, परन्तु प्रभावशालिता तथा व्यापकता में वह उससे घट कर ही रहा। अतः वैदिकधर्म का संघर्ष बौद्धधर्म के साथ ही विशेष रूप से होता रहा।

मौर्य काल

उत्पत्तिकाल में तो यह संघर्ष अत्यन्त साधारण कोटि का ही था। गौतमबुद्ध स्वयं वैदिकधर्म के अनुयायी थे। उन्होंने अपने आचारप्रधान धर्म का उपदेश उपनिषदों की भित्ति पर ही अवलम्बित रखा। बौद्धधर्म तथा दर्शन की मूल भित्ति उपनिषद् ही हैं। कर्मकाण्ड की अनुपादेयता, प्रपञ्च के मूल में अविद्या को कारण मानना, तृष्णा के उच्छेद से रागद्वेष आदि बन्धनों से मुक्ति पाना, कर्म सिद्धान्त की व्यापकता—आदि सामान्य सिद्धान्त दोनों में ही उपलब्ध होते हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति का बौद्ध सिद्धान्त भी छान्दोग्य उपनिषद् में निर्दिष्ट है। परन्तु परिस्थिति को ध्यान में रख कर गौतमबुद्ध ने अपने धर्म में अनेक ऐसी नवीन बातें सन्निविष्ट कर दीं जिनके लिए वेद में आधार मिलता ही नहीं। श्रुति को अप्रमाण मान कर उन्होंने आत्मवाद की अवहेलना तथा यज्ञभाग का घोर तिरस्कार कर दिया। विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक में मौर्यों के समय में बुद्धधर्म को राजाश्रय भी प्राप्त हो गया। बस, क्या था? इस धर्म की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी। अशोक प्रियदर्शी ने इसके विपुल प्रचार के लिए सारी शक्तियां खर्च कर डालीं। उसकी दृष्टि समन्वयात्मक थी, वह श्रमणों के समान ब्राह्मणों के प्रति भी उदारभाव रखता था। परन्तु फिर भी बौद्धधर्म ने उसके उत्तराधिकारियों के समय में वैदिकधर्म को पैर तले कुचलने का उद्योग किया। इसका फल वही हुआ जो धार्मिक संघर्ष के युग में प्रायः हुआ करता है। क्रिया के बाद प्रतिक्रिया जनमती ही है। मौर्यों के पतन के पीछे ब्राह्मणवंशी पुष्यमित्र ने सुंगवंश की

स्थापना की (द्वितीय शतक) और वैदिक के अतीत गौरव को जाग्रत् करने के लिए उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये । कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' का नायक इसी पुष्यमित्र का ज्येष्ठ तनय महाराज अग्निमित्र है। अयोध्या के शिलालेख से स्पष्ट है कि पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध का विधान किया था (द्विरश्वमेधयाजिनः) । अश्वमेध वैदिकधर्म के पुनरुत्थान का प्रतीकमात्र था । मनु का वह ग्रन्थ जो दवा की भी दवा माना जाता है (मनुर्यद्वदत् तत् भेषजं भेषजतायाः)—अर्थात मनुस्मृति इसी वैदिक-धर्म के जागृतिकाल की महत्त्वपूर्ण रचना है।

शुंग काल में वैदिकधर्म

शुंगों से कतिपय शताब्दियों के पीछे कुषाणों का काल आता है । इस काल मे (विक्रम की प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी) प्रतिक्रिया के रूप मे बौद्धधर्म ने उन्नति करना आरम्भ किया । कनिष्क तो था जाति से शकवंशीय भारत के बाहर से आया हुआ व्यक्ति, परन्तु धार्मिक भावना में वह बौद्ध धर्म का असाधारण पक्षपाती तथा उदार प्रचारक था । उसने अपने समय में आचार्य पार्श्व की अध्यक्षता में बौद्धो की चतुर्थ संगीति बुलाई और भिक्षुओं को भेज कर चीन-जापान मे इस धर्म का विपुल प्रसार किया। इसकी प्रतिक्रिया गुप्तों के साम्राज्यकाल मे लक्षित होती है। गुप्त नरपति परम वैष्णव थे। उनके विरुदों मे 'परम भागवत' भी एक विशिष्ट विरुद था जिसका उल्लेख उन्होंने अपने शिलालेखों में बड़े गर्व के साथ किया है। पुराणों के नवीन संस्करण तथा अनेक स्मृतियों की रचना का समय यही गुप्तकाल माना जाता है। गुप्त नरेशों ने वैदिकधर्म की जागृति के निमित्त अश्वमेध की प्राचीन परिपाटी का पुनः उद्धार किया। इस प्रकार देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक वैदिकता की लहर चारों ओर फैल गई, परन्तु इस समय मे भी बौद्धधर्म चुपचाप बैठ कर सुख की नींद नहीं सो रहा था। उसमें काफी जीवट था; उसके प्रचारकों के रगों में धार्मिक उन्माद भरा था, बौद्ध विद्वानों के हृदय में अपने धर्म को फैलाने की पक्की लगन जाग रही थी। गुप्त लोगों की धार्मिक नीति सहिष्णुता से भरी हुई थी। वे एक धर्म को कुचल कर दूसरे धर्म के उत्थान के पक्षपाती न थे, परन्तु बौद्धधर्म के प्रचारकों के सामने न तो बीहड़ पहाड़ किसी प्रकार की रुकावट डाल सकता था और न उछलता हुआ भीषण समुद्र। माधवाचार्य ने इस काल के बौद्धमत प्रचारकों के विषय में एक बड़े पते की बात कही है कि वे निःसंकोच भाव से राजाओं के ऊपर अपना प्रभाव जमा लेते थे तथा उनके द्वारा प्रजावर्ग को भी आत्मसात करने मे समर्थ होते थे। माधव के शब्दों में[1]—

कुषाण और गुप्तकाल

सशिष्यसंघाः प्रविशन्ति राज्ञां
गेहं तदादि स्ववशे विधातुम्।
राजा मदीयोऽजिरमस्मदीयं
तदाद्रियध्वं न तु वेदमार्गम् ॥

१—शंकरदिग्विजय, सर्ग १, श्लोक ३१।

[बौद्धों के समुदाय शिष्य तथा संघ के साथ राजाओं को अपने वश मे करने के लिए उनके घर मे प्रवेश करते थे और यह घोषित करते थे कि यह राजा मेरे पक्ष का है, उसका आंगन—देश—हम लोगों का ही है। अत आप लोग वेदमार्ग मे श्रद्धामत रखिए।]

गुप्त तथा वर्धन—युग भारतीय धर्म तथा तत्त्वज्ञान के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इस युग को वैदिक तथा बौद्धजैन तत्त्वज्ञानियों का 'संघर्ष युग' कहना उचित होगा। बौद्ध न्याय का उदय तथा अभ्युदय इसी काल की महती विशिष्टता है। इसी युग में नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति जैसे प्रकाण्ड बौद्ध पण्डितों ने बौद्धन्याय को जन्म दिया तथा उसकी आश्चर्यजनक उन्नति की। इन लोगों ने ब्राह्मण नैयायिकों के सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी सतर्कता के साथ किया। उधर ब्राह्मण नैयायिक भी हाथ पर हाथ रख कर अकर्मण्य न थे, प्रत्युत अपने ऊपर किये गये आक्षेपों का उत्तर उन्होंने बड़े कौशल तथा विद्वत्ता के साथ देकर ब्राह्मण न्याय की उन्नति की। वात्स्यायन, उद्योतकर तथा प्रशस्तपाद—ऐसे ही तार्किकत्रय थे जिन्होने बौद्ध तार्किकों के मतों का खण्डन कर अपने सिद्धान्तों की रक्षा की। इतना होने पर भी, एक विशेष दिशा में ब्राह्मणों की ओर से वेदार्थ की रक्षा का उद्योग नहीं हो रहा था। वह था वैदिक कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड का सयुक्तिक मण्डन। इन दोनों विषयों के प्रति बौद्धों ने जो समधिक अवहेलना प्रदर्शित की थी, उसे ध्वस्त करने के निमित्त ऐसे विज्ञ वैदिक की आवश्यकता थी जो वैदिक क्रिया-कलापों का औचित्य प्रदर्शित करता तथा वैदिक अध्यात्मशास्त्र की विशुद्धि उद्घोषित करता।

गुप्तयुग

उधर जैनमतावलम्बियों की ओर से भी विरोध की कमी न थी। उसके अनुयायी भी अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में तथा परमत के खण्डन में विशेषरूप से जागरूक थे। समन्तभद्र तथा सिद्धसेन दिवाकर की महत्त्वपूर्ण रचनाओं ने जैन न्याय को प्रतिष्ठित शास्त्र बना दिया था। वैदिक आचार के अनेकांश में ऋणी होने परभी जैनलोग श्रुतिकी प्रामाणिकता नहीं मानते। श्रुति के क्रियाकलापों पर दोहरा आक्रमण हो रहा था—एक तो बौद्धों की ओरसे और दूसरा जैनियों की ओर से। अतः वैदिक धर्म की पुन प्रतिष्ठा के लिए यह बहुत आवश्यक था कि श्रुति के सिद्धान्तों की यथार्थता जनता को भली भाँति समझाई जाय। श्रुतिके कर्मकाण्ड मे जो विरोध आपाततः दृष्टिगोचर होता था, उसका उचित परिहार किया जाय तथा यज्ञ याग की उपयोगिता तर्क की कसौटी पर कस कर विद्वानों के सामने प्रदर्शित की जाय। इस आवश्यकता की पूर्ति दो बड़े ब्राह्मण आचार्यों ने की। इस कार्य को समुचित रीति से सम्पादन करने का श्रेय आचार्य कुमारिल तथा आचार्य शङ्कर को है। भट्टाचार्य कुमारिल ने वेद का प्रामाण्य अकाट्य युक्तियों के बल पर सिद्ध किया तथा वैदिक कर्मकाण्ड को उपादेय, आदरणीय तथा नितान्त आवश्यक प्रमाणित किया। जो कार्य कुमारिल ने कर्मकाण्ड की विशुद्धि के लिए किया था,

वही कार्य शंकरने ज्ञानकाण्ड की गरिमाके निमित्त किया। शंकरने अवैदिक दर्शन तथा द्वैतवादियों के मतोका भलीभाँति खण्डन कर उपनिषदो के आध्यात्मिक अद्वैत तत्त्वका प्रतिपादन बड़ी ही प्रबल युक्तियों के सहारे किया। इस प्रकार गुप्तकालसे जिस वैदिकधर्म की जाग्रति के जो लक्षण दीख पड़ते थे, उस जाग्रतिका पूर्ण रूप इस कुमारिल-शंकर युगमे सर्वत्र अभिव्यक्त हुआ।

इस प्रसङ्ग मे एक सुन्दर तथ्य है जिसे कथमपि भुलाना नही चाहिए। वैदिक तथा बौद्ध धर्म की यह लड़ाई तलवारकी लड़ाई न थी, प्रत्युत लेखनी की लड़ाई थी। दोनों पक्षों के तर्ककुशल पण्डित लोग अपनी लेखनी का संचालन कर प्रतिपक्षियोके सिद्धान्तों की असारता दिखलाते थे। वात्स्यायनने न्यायभाष्य मे बौद्धचार्य वसुबन्धुके सिद्धान्तों का जो खण्डन किया, उसका उत्तर 'वादिवृषभ' दिङ्नागने 'प्रमाणसमुच्चय' में उनके न्यायमतो का खण्डन करके दिया। उद्योतकरने न्यायवार्तिकमें दिङ्नागके मत की निःसारता खूब ही विद्वात्ताके सहारे दिखलाई; उधर धर्मकीर्तिने 'प्रमाणवार्तिक' में नैयायिक उद्योतकर तथा मीमांसक कुमारिलके वेदानुमोदित तथ्यों की धज्जियां उडा कर अपने बौद्धमत की पर्याप्त प्रतिष्ठा की। तात्पर्य यह है कि यह था शास्त्रीय युक्तियोका संग्राम, खण्डन मे निपुण लेखनीका युद्ध। उभय-मतावलम्बियों ने किसी विशिष्ट स्वमतानुरागी नरपतिको उत्तेजित कर उसके द्वारा विरुद्ध मत वालो को मार डालने का अनुचित उपयोग कभी नहीं किया। हमारे इस सिद्धान्तके विरोधमें यदि एक-दो दृष्टान्त मिलतें भी हो, तो वे इतने कमजोर है कि उनसे विपरीत मतकी पुष्टि नही होती। इस समय कुमारिल और शङ्करके अश्रान्त परिश्रमसे वैदिक मार्ग की जो प्रतिष्ठा की गई, वह बड़ी ही दृढ़ नींव पर थी। इन आचार्यों के आक्षेपों को बौद्धधर्म अधिक न सह सका। वह भारत भूमि से धीरे धीरे हट कर तिब्बत, चीन, जापान स्याम आदि दूरस्थ देशोमे चला गया। शंकरपूर्व भारत में बौद्ध तथा जैन धर्मों के साथ साथ अन्य अनेक अवैदिक मतों का भी भारत में प्रचुर प्रचार था। सप्तम शताब्दी में जो धर्म सम्प्रदाय प्रचलित थे उनका उल्लेख महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरितमें कियाहै। वे हैं—भागवत, कपिल, जैन, लोकायतिक (चार्वाक), काणाद, पौराणिक, ऐश्वर कारणिक कारन्धमिन (धातुवादी), सप्ततान्तव (मीमांसक ?) शाब्दिक (वैयाकरण), बौद्ध, पाञ्चरात्रिक (पाञ्चरात्रके अनुयायी), और औपनिषद। इनमे औपनिषद मतको छोड़कर शेष सब एकप्रकार से अवैदिक ही थे। औपनिषद लोगोंकी व्याख्या संसारकी असारता कहने वाले ब्रह्मवादी शब्दमें की गई है (संसारासारत्व-कथनकुशलाः ब्रह्मवादिनः)। इस प्रकार आचार्य शङ्करके आविर्भावसे पहिले यह पवित्र भारतभूमि नाना मतो की क्रीडास्थली बनी हुई थी जो मतस्वातन्त्र्य के प्रपञ्चमें पड़कर वेदप्रतिपादित धर्म से इतर मार्ग का निर्देश करते थे।

(हाशिया: वैदिक और बौद्धधर्मका संघर्ष)

तान्त्रिकता का यही युग था। तन्त्रपूजा की बहुलता इस युग की अपनी विशिष्ट वस्तु थी। तन्त्रों के यथार्थ रूप से अपरिचित होने से उपासकों ने नई नई कल्पनाओं को उत्पन्न किया था। तन्त्र पाँच मकारवाले पदार्थों का उपयोग बतलाते हैं, जिनके नाम हैं[1]—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा तथा मैथुन। इनके यथार्थ रूप न समझने से अनेक अनर्थ होते आये हैं। कुछ उपासकों की धारणा है कि स्थूल तथा लौकिक मद्य मांस का ही प्रयोग न्यायसंगत है और इसी लिए वे अपनी पूजा में इसका प्रयोग भी करते हैं। आचार्य ने अपनी शक्तिभर इस तामसपूजा का निषेध किया है तथा इन तामस तान्त्रिकों का युक्ति तथा शास्त्र से खण्डन किया है। वस्तुतः पञ्चमकार का आध्यात्मिक अर्थ है। इन का सम्बन्ध अन्तर्याग से है, बहिः पूजा से नहीं। पञ्चमकार इस शरीर के ही भीतर विद्यमान तत्त्वों के साक्षात् प्रतीक हैं। इन्हीं का अभ्यास तान्त्रिक पूजा का मुख्य उद्देश्य है। इन का अज्ञान अनेक भ्रान्त धारणाओं का उत्पादक सिद्ध हुआ है। शंकरपूर्व भारत में शैव, शाक्त, वैष्णव तथा गाणपत्य—सब प्रकार के तान्त्रिकों का प्रभुत्व था। इनमें कतिपय मुख्य सम्प्रदाय तथा उनके सिद्धान्तों का वर्णन तुलनात्मक अध्ययन के लिए किया जा रहा है

तन्त्रों का युग

१—पाञ्चरात्र

वैष्णव आगमों को 'पाञ्चरात्र' कहते हैं। इस शब्द का अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार से किया जाता है। नारद पाञ्चरात्र के अनुसार 'रात्र' शब्द का अर्थ ज्ञान होता है—रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् (नारद पाञ्चरात्र १।४४) परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा संसार—इन पाँच विषयों के निरूपण करने से यह तन्त्र 'पाञ्चरात्र' कहलाता है। पाञ्चरात्र का दूसरा नाम 'भागवत' या 'सात्वत' है। महाभारत के नारायणीय आख्यान में इस तन्त्र का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इस की अपनी १०८ संहितायें भी हैं, जिनमें कतिपय संहिताओं का ही प्रकाशन अब तक हो पाया है। अहिर्बुध्न्यसंहिता, जयाख्यसंहिता, ईश्वरसंहिता, विष्णुसंहिता—आदि मुख्य संहितायें इस तन्त्र से सम्बद्ध हैं। इन संहिताओं के विषय चार होते हैं—(१) *ज्ञान*—ब्रह्म, जीव तथा जगत् के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन तथा सृष्टितत्त्व का निरूपण, (२) *योग*—मुक्ति के साधनभूत योग तथा उसकी प्रक्रियाओं का वर्णन, (३) *क्रिया*—देवताओं का निर्माण, मूर्ति की स्थापना आदि, (४) *चर्या*—दैनिक क्रिया, मूर्तियों और यन्त्रों का पूजन आदि। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चतुर्व्यूह कहे जाते हैं। वासुदेव तो जगत् के कर्त्ता धर्ता ईश्वर हैं। उससे उत्पन्न होने वाला संकर्षण जीव रूप है। और उससे अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार का उदय होता है। भगवान् के उभय भाव—सगुण तथा निर्गुण—इन्हें स्वीकृत हैं। नारायण निर्गुण होकर भी सगुण हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य,

पाञ्चरात्र

[1] मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्॥

वीर्य तथा तेज—ये छः गुण भगवान् के विग्रह हैं। भगवान् की शक्ति का सामान्य नाम 'लक्ष्मी' है। जगत् के मंगल के लिए भगवान् अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से चार रूपों की सृष्टि करते हैं—व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्यामी। जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ है परन्तु सृष्टिकाल में भगवान की तिरोधान शक्ति (माया या अविद्या) जीव के सच्चे रूप को छिपा देती है, जिससे जीव अणु, किञ्चित्कर तथा किञ्चिज्ज्ञाता बन जाता है। इन्हीं अणुत्वादिकों को 'मल' कहते हैं। भगवान् की कृपा से ही जीव का उद्धार होता है और उस कृपा के पाने का प्रधान उपाय शरणागति है। पाञ्चरात्रमत जीव और ब्रह्म की एकता का अवश्य प्रतिपादन करता है, परन्तु वह विवर्तवाद नहीं मानता, उसकी दृष्टि में परिणामवाद ही सत्य है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत मत इसी आगम पर अवलम्बित है। पाञ्चरात्र को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने के लिए यामुनाचार्य ने 'आगम-प्रामाण्य' तथा वेदान्तदेशिक ने 'पाञ्चरात्र रक्षा' की रचना की है। शङ्कराचार्य को इनके साधन मार्ग में विशेष विप्रतिपत्ति नहीं दीख पड़ती, परन्तु चतुर्व्यूह का सिद्धान्त इनकी दृष्टि में नितान्त उपनिषद्-विरुद्ध है।[1]

२—पाशुपत

उस समय भारतवर्ष में पाशुपतों का बोलबाला था—इस मत के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम नकुलीश या लकुलीश है। इनका जन्म भड़ौंच (गुजरात) के पास कारवन नामक स्थान में बतलाया जाता है। राजपूताना, गुजरात आदि देशों में नकुलीश की मूर्त्तियाँ प्रचुरता से मिलती हैं, जिनका मस्तक केशों से ढका रहता है, दाहिने हाथ में बीजपूर के फल और बाँयें हाथ में लगुड या दण्ड रहता है। लगुड धारण करने के कारण ही इन आचार्य का नाम लगुडेश या लकुलीश भी है। ये शङ्कर के अठारह अवतारों में आद्य अवतार माने जाते हैं। गुप्तनरेश विक्रमादित्य द्वितीय के राज्यकाल में ६१ गुप्त सम्वत् (३८० ई०) का एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख मथुरा में मिला है जिसमें उदिताचार्य नामक पाशुपत आचार्य के द्वारा गुरुमन्दिर में उपमितेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिवलिंगों की स्थापना वर्णित है। उदिताचार्य ने अपने को भगवान् कुशिक से दशम बतलाया है। लकुलीश कुशिक के गुरु थे। इस प्रकार एक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष मानकर लकुलीश का समय १०५ ई० के आसपास सिद्ध होता है—और यह वही समय है जब कुषाण नरेश हुविष्क के सिक्कों पर लगुडधारी शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं।

पाशुपत

पाशुपत मत के अनुसार पाँच पदार्थ हैं—(१) कार्य (२) कारण (३) योग (४) विधि (५) दुःखान्त। 'कार्य' उसे कहते हैं जिसमें स्वातन्त्र्य शक्ति न हो। इसके अन्तर्गत जीव तथा जड़ दोनों का समावेश है। जगत् की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने वाले महेश्वर को 'कारण' कहते हैं। ज्ञानशक्ति तथा प्रभुशक्ति से युक्त होने के कारण उसकी पारिभाषिक संज्ञा 'पति' है। वह इस सृष्टि का केवल निमित्तकारण-मात्र

पाशुपत अनुसार पदार्थ

[1] द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र २।२। ४२—४५ पर शङ्करभाष्य। पाञ्चरात्रों के विशेष मत के लिए द्रष्टव्य 'भारतीय दर्शन (बलदेव उपाध्याय द्वारा रचित नवीन संस्करण) पृष्ठ ४५८-४७२

है। अर्थात् वह उपादान कारण नहीं है। चित्त के द्वारा आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध को 'योग' कहते हैं। महेश्वर की प्राप्ति कराने वाला व्यापार 'विधि' कहलाता है। प्रत्येक जीव मिथ्याज्ञान, अधर्म, सक्ति हेतु, च्युति तथा पशुत्व नामक मलों से युक्त रहता है। ये 'मल' जब सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं तब उन्हें 'दुःखान्त' या मोक्ष कहते हैं। पाशुपतों के ये पाँच तत्त्व नितान्त प्राचीन हैं। सौभाग्यवश पाशुपतों का मूल सूत्रग्रन्थ महेश्वर रचित 'पाशुपत सूत्र' अनन्त शयन ग्रन्थमाला में (नं० १४३) कौण्डिन्य कृत 'पञ्चार्थी-भाष्य' के साथ अभी प्रकाशित हुआ है।[1]

३—कापालिक मत

यह एक उग्रशैव तान्त्रिक सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय के लोग माला, अलङ्कार, कुण्डल, चूड़ामणि, भस्म और यज्ञोपवीत ये छः मुद्रिकाएँ धारण करते थे। भवभूति ने मालतीमाधव में श्रीशैल पर्वत को कापालिकों का मुख्य स्थान बतलाया है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के तृतीय अङ्क में इस मत का परिचय दिया गया है। 'कर्पूरमञ्जरी' में राजशेखर ने भैरवानन्द नामक कापालिक की अलौकिक शक्ति का परिचय दिया है। ये लोग मनुष्यों की हड्डियों की माला पहनते थे, श्मशान में रहते थे, आदमी की खोपड़ी में खाते थे, परन्तु योगाभ्यास के कारण विलक्षण सिद्धियाँ इन्हें प्राप्त थीं। इनकी पूजा बड़े उग्र रूप की थी, जिसमें मद्य और मांस का प्रचुर प्रयोग होता था। 'शिवपुराण' में इन्हें 'महाव्रतधर' कहा गया है। मद्य पीकर लाल लाल आँखें किए हुए मस्ती में झूमने वाले भैरवानन्द की यह उक्ति कापालिकों के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करती है[2]—

कापालिक

मंतो ण तंतो ण अ किंपि जाणे
झाणं च णो किंपि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिआमो महिलं रमामो
मोक्खं च जामो कुलमग्ग लग्गा॥

(मैं मन्त्र नहीं जानता, तन्त्र नहीं जानता। न तो हमारे जैसा कोई दूसरा ज्ञान है। मुझे तो केवल एक वस्तु इष्ट है। वह है गुरु का प्रसाद। ध्यान से भी हमें कुछ लेना देना नहीं। हम मद्य पीते हैं और रमणियों के साथ रमण करते हैं और कुलमार्ग में अनुरक्त होकर इसी सरल उपाय से हम मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं)

शङ्कर के समय इस मत का खूब प्रचार था। माधव ने 'श्री पर्वत' पर रहने वाले उग्र भैरव कापालिक के विशेष प्रभाव का वर्णन किया है। कर्णाटक देश में भी इनकी प्रभुता बहुत अधिक थी। यहाँ के कापालिकों के सरदार का नाम था क्रकच। उसके यहाँ हथियारबन्द कापालिकों की सेना रहती थी, जिसकी सहायता से वह जिसे चाहता था उसे अपने मत में दीक्षित किया करता था। शिलालेखों से

[1] विशेष द्रष्टव्य, 'भारतीय दर्शन', पृष्ठ ५५४–५५; ५६९–५७०
[2] 'कर्पूरमञ्जरी'-प्रथम यवनिकान्तर, श्लोक २२

भी कापालिकों के प्रभुत्व का परिचय मिलता है। ६३९ ई० का एक शिलालेख है जिसमें महाराज पुलकेशी द्वितीय के पुत्र नागवर्धन के कापालेश्वर की पूजा के लिए कुछ भूमिदान करने का उल्लेख है।

४—शाक्तमत

शक्ति की उपासना भारतवर्ष में वैदिक काल से ही चली आती है। वेद में भी शक्ति के यथार्थ स्वरूप का वर्णन उपलब्ध होता है। धीरे धीरे शक्ति की उपासना का प्रचार देश के कोने कोने में फैल गया। अपनी रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न प्रान्त वालों ने इस पूजा में हेर-फेर कर दिया। इस मत के प्रतिपादक ग्रन्थ आगम या तन्त्र कहलाते हैं। सात्त्विक आगमों को 'तन्त्र' राजस को 'यामल' तथा तामस को 'डामर' कहते हैं। भगवान शङ्कर के मुख-पञ्चक से उत्पन्न होने के कारण आगमों के पाँच आम्नाय होते हैं—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊर्ध्व। इन आम्नायों के अनुसार पूजनपद्धति में भी पार्थक्य है। प्रान्तों की विभिन्नता के कारण तो है ही। तान्त्रिक पूजा के तीन प्रधान केन्द्र प्राचीन भारत में थे, जिनमें शक्तिपूजा का विधान भिन्न भिन्न द्रव्यों से किया जाता था। इन केन्द्रों के नाम हैं—केरल, काश्मीर तथा कामाख्या। मद्य मांस आदि पञ्चमकारों का निवेश तान्त्रिक पूजा में आवश्यक बतलाया जाता है, पर केरल में इनके स्थान पर दुग्ध आदि अनुकल्पों का प्रयोग किया जाता था। काश्मीर में केवल इन तत्त्वों की भावना की जाती थी। केवल गौड़ देश की पूजा में इन द्रव्यों का प्रत्यक्ष उपयोग होता था। आरम्भ में शक्ति पूजा सात्त्विक रूप में ही होती थी। परन्तु पीछे लोलुप उपासकों ने उसे नितान्त तामस बना दिया था। यह बड़ी भ्रान्त धारणा है कि शङ्कर तन्त्र के विरोधी थे। वे तो तान्त्रिक उपासना के बड़े भारी उन्नायक थे। परन्तु उनकी उपासना सात्त्विक मार्ग की थी, जिसमें वेद-विहित अनुष्ठान से तथा उपनिषद्-प्रतिपादित तथ्यों से किसी प्रकार का विरोध नहीं था।

५—गाणपत्य मत

गणपति के उपासक को 'गाणपत्य' कहते हैं। यह उपासना भी वैदिक कालीन ही है और प्राचीन है, परन्तु कालान्तर में तामसिक तंत्रों का प्रयोग इनमें भी होने लगा। विशेष कर 'उच्छिष्ट' गणपति की उपासना मद्यमांस के उपहार से आप्लुत होती थी। शङ्कर के समय में भी इस उपासना के अड्डे थे। दक्षिण की वक्रतुण्ड पुरी को चिद्विलास यति ने गाणपत्य उपासना का केन्द्र बतलाया है। अनन्तानन्द गिरि ने गणवरपुर नामक नगर में इस उपासना की प्रधानता स्वीकृत की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि षष्ठ-सप्तम शतक में भारतवर्ष नाना मतों, सम्प्रदायों तथा पन्थों की प्रचार भूमि बन चुका था जो उसे मूल वैदिक धर्म से खींच कर एक ओर शून्यवाद की ओर ले जा रहे थे दूसरी ओर अनेकान्तवाद की ओर ढकेल रहे थे और तीसरी ओर मद्यमांस-बहुल तान्त्रिक उपासना के गड्ढे में गिरा रहे थे। बेचारे विशुद्ध वैदिक धर्म के लिए यह महान् सङ्कट का युग था। वैदिक धर्म किसी उद्धारक की ओर टकटकी लगाए हुए था। ऐसे वातावरण में आचार्य शङ्कर का आविर्भाव हुआ। वे भगवान की दिव्य विभूति थे, जिसकी प्रभा आज भी भारतवर्ष को उद्भासित कर रही है।

चतुर्थ परिच्छेद

आविर्भावकाल

शंकराचार्य के आविर्भाव समय का निर्णय सब से बड़ी समस्या है जिस के हल करने का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है, परन्तु अभी तक हम किसी असंभ्रान्त निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। आचार्य ने अपने किसी भी ग्रन्थ में रचना काल का कहीं भी निर्देश नहीं किया है। ऐसा यदि होता, तो हम उनके समय के निरूपण करनेमें सर्वथा समर्थ होते। इन के समयके विषय में आधुनिक विद्वानों—पाश्चात्य तथा भारतीय—ने बड़ी छानबीन की है।[1] प्राचीन काल के विद्वानों में इस विषय की काफी चर्चा रही है। विक्रम-पूर्व षष्ठ शतक से लेकर नवम शतक विक्रमी तक के सुदीर्घ काल में उनका आविर्भाव भिन्न भिन्न मतों के अनुसार माना जाता है। इन दोनों प्रकार के प्रमाणों को एकत्र कर शंकरके समय निरूपण करने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

आचार्य शङ्कर के साक्षात् शिष्यों के द्वारा रचित ग्रन्थों में भी समय का निर्देश नहीं मिलता। शांकर भाष्य (शारीरक भाष्य) के सब से प्राचीन टीकाकार, जिनके समय का पता हमें दृढ़ प्रमाणों के आधार पर चलता है, वाचस्पति मिश्र हैं। इन्हीं ने भामती नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका ब्रह्मसूत्र के ऊपर शांकरभाष्य पर लिखी है। इस के अतिरिक्त इन्होंने अन्य दर्शनों के ऊपर भी प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन्होंने 'न्यायसूची निबन्ध' नामक अपने ग्रन्थ में रचनाकाल ८९८ संवत् (वस्वङ्क वसु वत्सरे) लिखा है[2]। यद्यपि यहां पर किसी विशेष सम्वत् का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि यह निश्चय ही विक्रम संवत् है। ऐतिहासिक आलोचना से ही यही बात सिद्ध होती है। वाचस्पति के अनन्तर मिथिला में ही उदयनाचार्य हुए जिन्हों ने वाचस्पति की 'वार्तिक न्यायतात्पर्यटीका' पर 'परिशुद्धि' नामक व्याख्या लिख कर न्याय के ऊपर किये गये बौद्ध आक्षेपों का यथावत् खण्डन किया है। उदयन ने 'लक्षणावली' की रचना ९०६ शाकाब्द में की[3]। यदि 'न्यायसूचीनिबन्ध' में उल्लिखित संवत् शकसंवत् ही होता, तो इन दोनों ग्रन्थों में केवल आठ वर्ष का अन्तर होता। पर ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों ग्रंथकारों की समसामयिकता सिद्ध नहीं होती। अतः स्पष्ट है कि वाचस्पति ने विक्रम संवत् का ही निर्देश किया है। इस लिये भामतीकार का समय ईस्वी के नवम शतक का मध्य भाग है। आचार्य शंकर के समय की यही अन्तिम अवधि है, जिससे पूर्व उनका होना निर्विवाद है। शंकर का आविर्भावकाल नवम शतक के मध्यकाल से पूर्व में ही होना चाहिए, इसमें किसी भी विद्वान् का मतभेद नहीं है।

---

[1] विद्वानों के कतिपय मत इस प्रकार हैं। १—कोलब्रूक के अनुसार ८०० ई० से लेकर ९०० ई० तक; २—टेलर ९०० ई०; ३—हागसन ८०० ई०; ४—विल्सन ८१०-९०० तक, ५—मेकेन्जी ५०० ई०; ६—मैक्समूलर, ७—कृष्णस्वामी तथा ८—पाठक ७८८ ई०; ९—रामावतार शर्मा ७०१ शक से लेकर ७६५ शक तक; १०—वेलङ्ग तथा ११—तिलक ६८८ ई०; १२—राजेन्द्र नाथ घोष ६८६ ई० (६०८ शक)। इन नाना मतों का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में है जिनका उल्लेख अनावश्यक समझ कर यहां नहीं किया जा रहा है।

[2] न्यायसूचीनिबन्धोऽयमकारि विदुषां मुदे। श्री वाचस्पति मिश्रेण वस्वङ्क वसु वत्सरे॥

[3] तर्काम्बराङ्क (९०६) प्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः। वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्॥

आचार्य शङ्कर के समय की पूर्वतम अवधि कौन है? इसके भी उत्तर अनेक हैं। काञ्ची के कामकोटि पीठ के अनुसार आचार्य का जन्म २५९३ कलि, या युधिष्ठिर सम्वत् (५०६ ईस्वी पूर्व) में हुआ था, तथा उनका देहावसान २६२५ कलि सम्वत् (४७६ ई० पूर्व) में ३२ वर्ष की अवस्था में माना जाता है। भारतीय परम्परा के अनुसार शङ्कर की उम्र तिरोधान के समय ३२ वर्ष की थी, इससे विरुद्ध मत भी कहीं कहीं मिलते अवश्य हैं, परन्तु मान्य परम्परा से विरुद्ध होने के कारण हम उसमें आस्था नहीं रखते।[1] कामकोटि के मठाम्नाय के अनुसार उस पीठ पर आसीन होने वाले आचार्यों में ५ आचार्य शंकर नामधारी थे जिनका तिरोधान भिन्न भिन्न समय में हुआ। आद्य शङ्कराचार्य का तिरोधान हुआ २६२५ कलि संवत् में। कृपाशंकर का ६६ ईस्वी में, उज्ज्वलशंकर का ३६७ ईस्वी में, मूकशंकर का ४३७ ई० में, और अभिनवशंकर का ८४० ईस्वी में। ये चारों आचार्य कामकोटि के पीठाधीश थे और प्रथम पीठाधीश सर्वज्ञात्मा से क्रमशः सप्तम, चतुर्दश, अष्टादश तथा षड्विंश (छत्तीसवें) स्थानापन्न अधीश्वर थे।[2] इन चारों आचार्य के नाम-साम्य से आद्यशंकर के समय निरूपण में बड़ी गड़बड़ी हो गई है। आजकल अधिकांश विद्वान आद्यशंकर का जन्म ७८८ ईस्वी में मानते हैं, यह समय वस्तुतः ऊपर निर्दिष्ट पञ्चम आचार्य—अभिनवशंकर—के जन्म ग्रहण करने का है। इस आचार्य का जन्म चिदम्बर में हुआ था। ये काश्मीर नरेश जयापीड़ विनयादित्य के समकालीन थे, जिनके सभापण्डित वाक्पति भट्ट ने इनका जीवन चरित 'शंकरेन्दुविलास' में लिखा है। इस आचार्य का जीवन चरित आद्यशंकर के साथ इतना अधिक मिलता जुलता है कि इनसे सम्बद्ध घटनायें आदिशंकर के ऊपर आरोपित की गई हैं। ७८८ ई० में इन्हीं अभिनव शंकर का जन्म हुआ था, परन्तु आधुनिक विद्वानों ने भ्रमवशात् इस समय को आद्यशंकर का जन्म संवत् मान लिया है। अतः कामकोटि की परम्परा के अनुसार आद्यशंकर का समय ईस्वी पूर्व ५०८ से लेकर ई० पू० ४७६ है।

---

[1] इससे नितान्त विरुद्ध होने के कारण वेंकटेश्वर का यह मत मान्य नहीं हो सकता कि शंकर कि आयु ८५ वर्ष की थी। 'देव्यपराधक्षमापन' स्तोत्र शंकर-रचित प्रसिद्ध है। उससे पता चलता है कि उसके लेखक की उम्र ८५ वर्ष की थी—

> परित्यक्ता देवान् विविध-विधि-सेवा-कुलतया
> मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि।
> इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता
> निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम्॥

इस पद्य के आधार पर श्री वेंकटेश्वर ने अचार्य को ८५ से अधिक जीने वाला (समय ८०५-८९७ ई० तक) माना है। इसकी बड़ी बुराई यह है कि इसके अनुसार शंकर और वाचस्पति समकालीन हो जाते हैं। यह स्तोत्र आद्यशंकर की रचना है, इसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता। अतः शंकर को इतना दीर्घजीवी (८५ वर्ष) मानना कथमपि सिद्ध नहीं होता। श्री वेंकटेश्वर के मत के लिए द्रष्टव्य J. R. A. S. (1916) pp. 151—162.

[2] द्रष्टव्य N. Venkat Raman: Sankacharya the Great and His Successorsin Kanchi, pp. 18-19. (Madras)

द्वारिका मठ के अनुसार शंकर का आविर्भाव २६३१ कलि सम्वत् में हुआ था। इस प्रकार काञ्ची और द्वारिका दोनों मठों के अनुसार आचार्य का जन्म ईस्वी-पूर्व पञ्चम शतक प्रतीत होता है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि काञ्ची के अनुसार आचार्य का तिरोधान जिस संवत् में (२६२५ कलि सं०) में माना जाता है, उससे ६ वर्ष ही पूर्व द्वारिका के शारदा मठ आचार्य का जन्म मानता है। इस अन्तर के सिवाय दोनों मत में आचार्य के समय की पूर्वतम अवधि ईस्वी पूर्व पञ्चम शतक है।

द्वारिकामठ की परम्परा

'केरलोत्पत्ति' नामक ग्रन्थ के अनुसार शंकर का समय ३५०१ कलि वर्ष (अर्थात् ४०० ई०) अर्थात् ईस्वी का चतुर्थ शतक है।[1] इस मत में एक और भी विशिष्टता है। साधारणत. आचार्य का देहावसान ३२ वर्ष की आयु में मानने के पक्ष में परम्परा उपलब्ध है, परन्तु इस ग्रंथ में उनका अवसान ३८ वें वर्ष में माना गया है।

मत की समीक्षा—शंकर के ग्रन्थों की अन्तरङ्ग परीक्षा करने से पूर्वोक्त तीनों मतों की अयथार्थता सिद्ध की जा सकती है। आचार्य ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद (तर्कपाद) में अपने भाष्य में बौद्ध आचार्यों के मतों का उल्लेख *ही नहीं किया है, प्रत्युत उनके प्रसिद्ध ग्रंथों से तत्तत् वाक्यों को भी* उद्धृत किया है। ये उद्धरण बड़े महत्त्व के हैं क्योंकि इनसे सिद्ध होता है कि शंकर का समय उन बौद्ध पण्डितों से पीछे ही होना चाहिये जिनका उद्धरण उन्होंने स्वयं किया है।

१—शंकर और दिङ्नाग

(१) *ब्रह्मसूत्र (२।२।२८) के भाष्य में* आचार्य का कथन है—

नहि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भ. कुड्यं चेत्युपलभन्ते उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन् सर्वे लौकिका उपलभन्ते। अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत् प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते 'यदन्तर्ज्ञेयरूप तद् बहिर्वदवभासत' इति।

इस उद्धरण का तात्पर्य यह है कि *बौद्ध लोग इस विश्व को विज्ञान का* ही रूप मानते हैं। जगत् के पदार्थ सत्य नहीं हैं, प्रत्युत वे विज्ञान के आकारमात्र हैं। इस पर आचार्य की समीक्षा है कि कोई भी पुरुष खंभे या दीवाल को ज्ञान रूप *नहीं समझता, बल्कि इन्हें ज्ञान का विषय मानता है। विज्ञानवादी बाह्य* अर्थ का प्रत्याख्यान (निषेध) करते हुए कहते हैं कि जो अन्त ज्ञेयरूप है वही बाहरी अर्थ के समान प्रतिभासित होता है। आचार्य इस उक्ति को युक्तियुक्त नहीं मानते। दो वस्तुओं की समानता तभी की जाती है जब वे दोनों परस्पर भिन्न हों। हम लोक में कहते हैं—यज्ञदत्त देवदत्त के [illegible]

[1] *Indian Antiquary, VII, p 282*

के समान है'—यह तो कभी नहीं कहते, क्योंकि वन्ध्यापुत्रकी सत्यता है ही नहीं। इसी प्रकार यदि बाह्य अर्थ झूठा है, काल्पनिक है, तो मानस वस्तु को बाह्य वस्तु के समान बतलाना नितान्त असत्य है। अतः विज्ञानवादियों का यह कथन कथमपि प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।[१]

पूर्वोक्त उद्धरण में 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं' वाला पद्यांश बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग की 'आलम्बनपरीक्षा' नामक ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है।[२] दिङ्नाग की पूरी कारिका यह है—

यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते
सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत् प्रत्ययतयापि च ॥

'आलम्बन परीक्षा' दिङ्नाग का नितान्त स्वल्पकाय ग्रंथ है। इसमें केवल आठ कारिकायें हैं। हमारी कारिका छठी कारिका है। यह बहुत ही प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है। आचार्य कमलशील ने तत्त्वसंग्रह की टीका (पृष्ठ ५८२) में इस पूरी कारिका को इस सन्दर्भ के साथ उपस्थित किया है—आचार्य दिङ्नागपदैः आलम्बन प्रत्यय व्यवस्थार्थमुक्तम् (अर्थात् आचार्य दिङ्नाग ने आलम्बन के ज्ञान की व्यवस्था के लिये यह कारिका लिखी है)। यह कारिका शंकर के समय में इतनी प्रसिद्ध थी कि इसके लेखक का निर्देश उन्होंने नहीं किया। आचार्य दिङ्नाग वसुबन्धु के प्रधान शिष्यों में अन्यतम थे। अतः उनका समय ईस्वी की पाँचवीं शताब्दी है। शंकर का समय इससे पूर्व कथमपि नहीं हो सकता।

२—शंकर और धर्मकीर्ति

शङ्कराचार्य धर्मकीर्ति के मत तथा ग्रंथ से परिचित जान पड़ते हैं। धर्मकीर्ति (६३५-६५० ई०) के समान प्रकाण्ड विद्वान् बौद्ध दर्शन के इतिहास में शायद ही दूसरा हुआ। उनका 'प्रमाण वार्तिक' दार्शनिक ज्ञान की कसौटी है। इन के सिद्धान्त से सुरेश्वराचार्य (जो शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्य थे) खूब परिचित थे, इसका पता निम्नलिखित पद्य से चलता है जिसमें धर्मकीर्ति के नाम का स्पष्ट उल्लेख है—

त्रिष्वेव त्वविनाभावादिति यद् धर्मकीर्तिना।
प्रत्यज्ञायि प्रतिज्ञेयं हीयेतासौ न संशयः।

—बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक (४।३)

---

[१] आचार्य के द्वारा विज्ञानवाद के खण्डन के लिये देखिए—बलदेव उपाध्याय रचित 'भारतीय दर्शन', पृ० २२६-२२७

[२] 'आलम्बन परीक्षा' तथा इसकी वृत्तियों के अनुवाद तिब्बती तथा चीनी भाषाओं में मिलते हैं। ग्रन्थ छोटा होने पर भी नितान्त महत्त्वपूर्ण है। इसके ऊपर दिङ्नाग की अपनी वृत्ति है, जिसके दो अनुवाद चीनी भाषा में हैं—परमार्थ का तथा हुएन् च्वांग का। धर्मपाल (६२५ ई०) तथा विनीत देव (७०० ई०) के द्वारा रचित मूल अर्थ को विशदरूप से प्रकट करने वाली वृत्तियाँ भी हैं जिनमें विनीतदेव की तिब्बती में तथा धर्मपाल की 'इचिङ्' के द्वारा चीनी भाषा में सुरक्षित हैं। इन सब का संस्कृत में पुनः अनुवाद एं अय्या स्वामी शास्त्री ने किया है जिसे अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास ने १९४२ में प्रकाशित किया है।

इतना ही नहीं। आनन्द गिरि की सम्मान्य सम्मति में यह पद्य धर्मकीर्ति का ही है :—

अभिन्नोऽपिहि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्य-ग्राहक-संवित्ति-भेदवानिव लक्ष्यते॥

[आशय है कि विज्ञान (बुद्धि) एकाकार ही सर्वत्र रहता है परन्तु जिन लोगों की दृष्टि भ्रान्त है वे उस में ग्राह्य (पदार्थ), ग्राहक (पुरुष) तथा संवित्ति (ज्ञान) ऐसा तीन भेद करते हैं। यह भेद कल्पित है—मिथ्या दृष्टि से विजृम्भित है। विज्ञान एक अद्वैत अभिन्न पदार्थ है, परन्तु भ्रान्ति से वह त्रिविध के समान दीख पड़ता है]

यह महत्वपूर्ण श्लोक ब्राह्मणों के दार्शनिक ग्रंथों मे अनेकत्र उल्लिखित किया गया है। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन संग्रह' के बौद्धदर्शन के परिच्छेद में उद्धृत किया है। सुरेश्वराचार्य के विशालकाय विद्वत्तामण्डित ग्रंथ—बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक (४।३। ४७६)-में यह उद्धृत किया गया है। इतना ही नहीं, शंकराचार्य के 'उपदेशसाहस्री' नामक ग्रन्थ के १८वें अध्याय (१४२वाँ श्लोक) में भी यह पद्य मिलता है। 'उपदेशसाहस्री' आचार्य शंकर की निःसन्दिग्ध रचना है, क्योंकि उनके साक्षात् शिष्य सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में इससे अनेक पद्यों का उद्धरण किया है। इस उद्धरण से इतना स्पष्ट है कि धर्मकीर्ति के ग्रंथ तथा श्लोक से आचार्य परचित थे।

ब्रह्मसूत्र २।२।२८ के भाष्य में शङ्कराचार्य ने धर्मकीर्ति के प्रसिद्ध श्लोक की सूचना दी है। प्रसङ्ग विज्ञानवाद के खण्डन का है। आचार्य का कथन उनके ही सुन्दर शब्दों में इस प्रकार है—

इह तु यथास्वं सर्वैरेव प्रमाणैर्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः
कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादि विकल्पैर्न संभवतीत्युच्येत
उपलब्धेरेव। न च ज्ञानस्य विषयसारूप्याद् विषयनाशो
भवति, असति विषये विषयसारूप्यानुपपत्तेः बहिरुप-
लब्धेश्च विषयस्य। अतएव सहोपलम्भ नियमोऽपि
प्रत्यय विषययोरुपायोपेयभाव-हेतुकः, नाभेदहेतुकः इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

[तात्पर्य इस अंशका यह है कि सब प्रमाण अलग अलग अपनी शक्ति से बाह्य अर्थ की सत्ता को बतलाते हैं। जब बाहरी अर्थ से लोक-व्यवहार में कार्य होता है, अनुभव किया जाता है, तब तो उसकी सत्ता की अवहेलना कथमपि नहीं की जा सकेगी। यदि आक्षेप किया जाय कि ज्ञान और विषय का तो सारूप्य हो जाता है (अर्थात् वे दोनों एक ही रूप में हो जाते हैं) तब विषय का नाश हो जायगा। तो यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। विषय के न होने पर विषय का सारूप्य ही नहीं हो सकता—ज्ञान बाह्य विषय के आकार को तभी प्राप्त कर सकता है जब बाह्य वस्तु सचमुच विद्यमान हो। उसके अभाव में विषय-सारूप्य उत्पन्न ही नहीं हो सकता। विषय की उपलब्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होती है।

यदि कहा जाय कि विषय और ज्ञान की उपलब्धि एक साथ ही होती है (सहोपलम्भ) अतः दोनों में एकता है। आचार्य इस पर कहते हैं—नहीं, यह नियम उपाय और उपेयभाव के कारण होता है, अभेद के कारण नहीं]

इस उद्धरण में जिस सहोपलम्भनियम का निर्देश है वह धर्मकीर्ति के इस प्रसिद्ध श्लोक की ओर संकेत कर रहा है। यह प्रसिद्ध कारिका इस रूप में मिलती है—

सहोपलम्भ-नियमादभेदो नील-तद्धियोः।
भेदश्चभ्रान्त-विज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥

इस कारिका का पूर्वार्ध धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' में तथा उत्तरार्ध 'प्रमाणवार्तिक' में उपलब्ध होता है। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि शंकराचार्य धर्मकीर्ति के ग्रंथों से परिचित थे।[1] अतः उनका समय सप्तम शतक के मध्यभाग से पहिले कभी भी नहीं हो सकता।

(३) शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र २।२।२२, तथा २।२। २४ में दो बौद्धाचार्यों के वचनों को उद्धृत किया है। इन में पहला वचन गुणमति रचित अभिधर्म कोश व्याख्या में उपलब्ध होता है। इन गुणमति का समय सप्तमशतक का मध्यम भाग (६३० ई०—६४० ई०) है।

इन बौद्ध उद्धरणों के देने से यह स्पष्ट है कि आचार्य शंकर का समय सप्तम शताब्दी के मध्यभाग से कथमपि पूर्व नहीं हो सकता। ऐसी दशा में काञ्ची तथा द्वारका मठों के सम्प्रदायानुसार उन्हें ईस्वी पूर्व पञ्चम शताब्दी में और केरलोत्पत्ति के अनुसार ईस्वी चतुर्थ शताब्दी में मानना कथमपि युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। अतः इस प्राचीन मत में हम विशेष आस्था नहीं रख सकते।

२—प्रचलित मत

आधुनिक विद्वानों की यह दृढ़ धारणा बन गई है कि शंकराचार्य का समय ८४५ विक्रमी से ८६७ विक्रमी तक (७८८ ई०—८२० ई०) है। इस मत की उद्भावना तथा पुष्टि करने का समस्त श्रेय स्वर्गवासी डा० के० बी० पाठक को मिलना चाहिये, जिन्होंने विभिन्न प्रमाणों के द्वारा इस मत को सिद्ध

---

[1] धर्मकीर्ति का समय प्रायः ६३५ से ६५० तक माना जा सकता है। ये धर्मकीर्ति नालन्दा विहार के अध्यक्ष आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे, और धर्मपाल के परवर्ती नालन्दा के अध्यक्ष आचार्य शीलभद्र के सहाध्यायी थे। ये धर्मकीर्ति दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन के शिष्य बतलाये जाते हैं।

इन्होंने प्रमाणशास्त्र (न्याय) के ऊपर ही अपने सातों ग्रंथ लिखे हैं। इन ग्रन्थों के नाम हैं —(१) प्रमाणवार्तिक (१४५४,१/२ कारिकायें—नितान्त प्रौढ़ नैयायिक ग्रन्थ) (२) न्यायबिन्दु (१७७ श्लोक), (३) हेतुबिन्दु (४४४ श्लोक), (४) प्रमाणविनिश्चय (१३४० श्लोक), (५) वादन्याय (वाद विषयक ग्रन्थ), (६) सम्बन्धपरीक्षा (२६ कारिकाओं में क्षणिकवाद के अनुसार कार्यकारण भाव का निरूपण), (७) सन्तानान्तरसिद्धि (७२ सूत्र)। इन ग्रन्थों में तीन (१,२,५) मूल संस्कृत में छपे हैं। हेतुबिन्दु मिला है, पर प्रकाशित नहीं हुआ है। शेष के तिब्बती अनुवाद ही मिलते हैं। कुमारिल के ग्रंथों में भी धर्मकीर्ति के मत का खण्डन है। द्रष्टव्य मेरी प्रस्तावना—शंकर दिग्विजय का भाषानुवाद, पृ० २८-३२

तथा प्रचलित करने का साभिनिवेश प्रयत्न किया है[१]। कृष्ण ब्रह्मानन्द रचित 'शंकरविजय' में शंकर का जन्मकाल इस प्रकार से दिया गया है—

निधिनागेभ वह्न्यब्दे विभवे शङ्करोदयः
कलौ तु शालिवाहस्य सखेन्दु शवसप्तके ॥
कल्यब्दे भूद्व्यङ्काग्निसम्मिते शङ्करो गुरुः
शालिवाह शके त्वद्विसिन्धुसप्तमितेऽभ्यगात् ॥

अर्थात् शंकर का जन्म कल्यब्द ३८८६ अथवा शकाब्द ७१० (=७८८ ईस्वी) तथा तिरोधान ३९२१ अथवा शकाब्द ७४२ में हुआ।

डा० पाठक को बेलगाँव मे तीन पत्रों की एक छोटी पुस्तक मिली थी जिसके अन्त में कतिपय पद्य में शंकर के जन्म-मरण के संवत् का उल्लेख मिलता है। वे श्लोक ये हैं—

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।
स एव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः ॥
अष्टवर्षे चतुर्वेदान् द्वादशे सर्वशास्त्रकृत्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ॥

शंकर के जन्मवर्ष का निर्देश इस प्रकार है—निधिनागेभवह्न्यब्दे विभवे शंकरोदयः (अर्थात् ३८८६ कलि में, ७१० शक में शंकर का जन्म हुआ और ३९३१ कलिवर्ष (७४२ शके=८२० ईस्वी) में वैशाखपूर्णिमा को ३२ वर्ष की अवस्था में उनका गुहाप्रवेश (देहावसान) हुआ[१]—

कल्यब्दे चन्द्रनेत्राङ्क—वह्न्यब्दे गुहाप्रवेशः।
वैशाखे पूर्णिमायां तु शङ्करः शिवतामियात् ॥

इस मत की पुष्टि कतिपय अन्य ग्रन्थों से भी होती है। नीलकण्ठ भट्ट ने अपने 'शङ्करमन्दारसौरभ' में इसी मत को स्वीकृत किया है—

प्रासूत तिष्यशरदामतियातवत्या—
मेकादशाधिक शतोन चतुः सहस्र्याम्।
संवत्सरे विभवनाम्नि शुभे मुहूर्ते
राधे सिते शिवगुरोर्गृहिणी दशम्याम् ॥

अर्थात् कलिवर्ष ४०००—१११=३८८६ क० व० के वैशाख शुक्ल दशमी तिथि को शिव गुरु की पत्नी से आचार्य का जन्म हुआ। बालकृष्ण ब्रह्मानन्द कृत 'शङ्करविजय' में, शंकराभ्युदय में तथा शंकरागिरि के आचार्यस्तोत्र (जगद्गुरु-परम्परास्तोत्र) में शंकर के आविर्भाव तथा तिरोभाव के विषय में पूर्वोक्ति मत अङ्गीकृत किया गया है। आजकल के अधिकांश पुरातत्त्वज्ञ पण्डित लोग इसी

---

[१] डा० पाठक के लेखों में विशेष द्रष्टव्य—(1) Dharma Kirti and Sankaracharya (B B R A S, XVIII pp 88 96), (2) Bhartrhari and Kumarila (B B R A S, XVIII pp 217-238), (3) Position of Kumarila in Digambara Jain Literature (Transactions of the Ninth International Congress of Orientalists, pp. 186-214.

[२] द्रष्टव्य Indian Antiquary, 1882 pp. 173-75.

मत में आस्था रखते हैं। 'हिन्दचीन' (कम्बोडिया) के एक शिलालेख से भी इस मत को कुछ पुष्टि मिल रही है।[१] चम्पा के अधिपति राजा इन्द्रवर्मन् (राजकाल ८७७ ई०—८८९ ई०) के गुरु शिवसोम का कथन है कि उन्होंने समस्त विद्वानों के द्वारा सत्कृत भगवत् शंकर से समस्त विद्यायें पढ़ी थीं[२]। ये शिवसोम कम्बोज के राजा जयवर्मन् द्वितीय (८०२ ई०—८६९ ई०) के मातुल के पौत्र थे। अतः इनका समय नवम शतक सिद्ध होता है। शंकर के प्रथम 'भगवत्' शब्द का प्रयोग यही सूचित करता है कि यहाँ आद्यशंकर से ही अभिप्राय है। यदि इस शब्द की सूचना यथार्थ हो तो मानना पड़ेगा कि आचार्य की कीर्ति उनके जीवनकाल में ही 'भारत सागर' को पार कर कम्बोज तक पहुँच गई थी और उनके शिष्यों में समुद्रपार के एक विद्वान भी अन्तर्भुक्त थे। शिवसोम के साक्षात् गुरु होने से आचार्य शंकर का समय नवम शतक का प्रारम्भ होना चाहिये।

इस प्रचलित मत के अङ्गीकार करने में अनेक विप्रतिपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। ऊपर हमने सप्रमाण दिखलाया है कि वाचस्पति मिश्र ने अपना 'न्यायसूचीनिबन्ध' ८४१ ईसवी में लिखा था। उनकी लिखी 'भामती' ही शारीरभाष्य के ऊपर सर्वप्रथम सम्पूर्ण भाष्य की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है। आचार्य के जीवनकाल में ही पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका नामक व्याख्या भाष्य के आरम्भिक भाग पर लिखी थी। 'भामती' में अमलानन्द के 'कल्पतरु' के अनुसार पञ्चपादिका की व्याख्या में अनेक स्थलों पर दोष दिखलाया गया है।

'शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च' (ब्र० सू० १।२।२६) सूत्र के कल्पतरु की सम्मति है—पञ्चपादीकृतस्तु वाजसनेयिवाक्यस्याध्यात्मोपक्रमत्वलाभे किं शाखान्तरालोचनयेति पश्यन्तः पुरुषमनूद्य वैश्वानरत्वं विधेयमिति व्याचक्षते; तद्दूषयति अतएवेति। अर्थात् यहाँ भामती पञ्चपादिका की व्याख्या में दोष दिखला रही है। प्रसिद्धेश्च (ब्र० सू० १।३।१७) सूत्र 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' के आकाश शब्द का ब्रह्मपरक अर्थ बतलाता है। इसकी भामती में है—ये त्वाकाश शब्दो ब्रह्मण्यपि मुख्य एव नभोवदित्याचक्षते; तैः 'अन्यायश्चानेकार्थत्वमिति च अनन्य लभ्यः शब्दार्थ' इति च मीमांसकानां मुद्राभेदः कृतः। भामती का यह पूर्वपक्ष किसका है? अमलानन्द का कहना है कि 'पञ्चपादिका' का—पञ्चपाद्यांतु दृढ़ि-रुक्ता तां दूषयति ये त्विति। इन दृष्टान्तों से अमलानन्द (१२वाँ शतक) की सम्मति में भामती पञ्चपादिका की व्याख्या में दोष दिखलाती है। इतना ही नहीं अद्वैत सम्प्रदाय में वाचस्पति पद्मपाद के अवतार माने जाते हैं। ऐतिहासिकों

[१] द्रष्टव्य Nilakantha Sastri—A Note on the Date of Sankara, J. O. R. Vol XI, 1937 p. 285.

[२] येनाधीतानि शास्त्राणि भगवच्छंकराह्वयात्
निःशेष सूरि मूर्धालि मालालीढाङ्घ्रिपङ्कजात् ॥३९॥
यर्यविधि कनिलयो वेदवित् विप्रसम्भवः
शासको मस्य भगवान् रुद्रो रुद्र इवापरः ॥ ४०

Inscription du Combodge, edited by G. Coedes, Vol. I, pp. 36-46

की दृष्टि में इस कथन का मूल्य विशेष भले न हो तथापि इतना तो उन्हें मानना पड़ेगा कि सम्प्रदायानुसार वाचस्पति का समय पद्मपाद के समय से पीछे का है। वाचस्पति ने भास्कराचार्य की उन व्याख्याओं में दूषण दिखलाया है जिनमें उन्होंने शंकरभाष्य के व्याख्यानों में दोष दिखलाने का प्रयत्न किया है। शांकर-भाष्य की टीका हुई पञ्चपादिका और पञ्चपादिका का खण्डन है भामती में। ऐसी दशा में प्रचलित मतानुसार बीस वर्ष का अन्तर इतना कम है कि वह इतने खण्डन-मण्डन के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता। जैन दार्शनिक साहित्य की पर्यालोचना से भी यह मत आस्थाजनक नहीं प्रतीत होता। जिनसेन ने अपने 'हरिवंश' की रचना ७०५ शकाब्द (७८३ ईस्वी) में की है। इन्होंने अपने ग्रंथों में विद्यानन्द का निर्देश किया है और विद्यानन्द ने अपनी 'अष्टसाहस्री' में सुरेश्वराचार्य के वचनों को बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक से उद्धृत किया है।[1] अतः जिनसेन से सुरेश्वर से दो पीढ़ी नहीं तो एक पीढ़ी अवश्य पहले के सिद्ध होते हैं। अर्थात् सुरेश्वर का समय ७५० ई० के आस पास होना चाहिये और इनके गुरु शङ्कर का काल इससे भी कुछ पहले मानना ही पड़ेगा। ऐसी अवस्था में जब सुरेश्वराचार्य के गुरु होने से शङ्कर का समय अष्टम शताब्दी के मध्य भाग से भी प्राचीन ठहरता है, तब उनके अष्टम शताब्दी के अन्त में (७८८ ई०) जन्म ग्रहण करने की बात इतिहास-विरुद्ध ही सिद्ध हो रही है। इस विषय में अन्य अनेक प्रमाण भी हैं, जो कभी दिखलाये जायँगे।

३—शंकर और कुमारिल

ऐसी विषम स्थिति में शंकर का आविर्भाव कब हुआ? शंकर कुमारिल के समसामयिक माने जा सकते हैं। आचार्य के ग्रन्थों में कुमारिल के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है, तथापि भारतीय सम्प्रदाय इन दोनों को समकालीन मानने के पक्ष में हैं। माधव ने शंकर दिग्विजय के सातवें सर्ग में प्रयाग में शंकर तथा कुमारिल के परस्पर भेंट होने की घटना का विस्तृत उल्लेख किया है। कुमारिल के मत के समान ही कर्म—विषयक मत का उल्लेख शंकर ने उपदेश साहस्री[2] (प्रकरण १८, श्लोक १३६-४१) में और तैत्तिरीय भाष्य के उपोद्घात में

[1] विद्यानन्द अकलङ्क के शिष्य थे। पट्टावली के अनुसार ये ७५१ ई० में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए तथा ३२ वर्ष ४ दिनों तक (७८३ ई०) उस पर अवस्थित थे। अतः इनका स्थिति-काल अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है।

[2] स्पष्टत्वं कर्मकर्त्रादेः सिद्धिता यदि कल्प्यते।
स्पष्टताऽस्पष्टते स्यातामन्यस्यैव न चात्मनः। १३६
अद्रष्ट्रैव चान्धस्य स्पष्टीभावो घटस्य तु
धर्मादेः स्पष्टतेष्टा चेद् द्रष्टृताऽध्यक्षकर्तृका। १४०
अनुभूतेः किमस्मिन् स्यात्तत्त्वापेक्षया वद।
अनुभवितरीष्टा स्यात्साऽप्यनुभूतिरेव न। १४१

सुरेश्वर ने तैत्तिरीयभाष्य वार्तिक (आनन्दाश्रम, पृ० ५ श्लोक ८) में जिस मत को किसी 'मीमांसकम्मन्य' का बतलाया है, वह श्लोक वार्तिक में (पृ० ६७१, श्लोक ११०) उपलब्ध होता है। अतः यह मत निःसन्देह कुमारिल भट्ट का ही है।

किया है। अतः शङ्कर का कुमारिल के विशिष्ट मत से परिचित होना सिद्ध ही है। बहुत सम्भव है कि इन दोनों महापुरुषों को व्यक्तिगत परिचय प्राप्त होने का सुयोग प्राप्त हुआ था। त्रिवेणी के तट पर मीमांसकमूर्धन्य कुमारिल प्रायश्चित्त के के निमित्त तुषानल में जब अपने शरीर को जला रहे थे, तब आचार्य से उनकी भेंट हुई। शंकर ने उनसे अपने ब्रह्मभाष्य के ऊपर वार्तिक लिखने के लिये अनुरोध किया तथा जल छिड़क कर उन्हें नीरोग कर देने की बात भी कही, परन्तु कुमारिल ने इस प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं किया। शंकर को अपने शिष्य मण्डन मिश्र के पास भेजा तथा उनके द्वारा वार्तिक बनाने की सलाह उन्हें दी। आचार्य शंकर की अवस्था उस समय केवल १६ वर्ष की थी और कुमारिल नितान्त वृद्ध थे।

कुमारिल

कुमारिल का समय अनेक प्रमाणों के आधार पर सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। तिब्बती इतिहास लेखक तारानाथ ने इन्हें स्त्रोङ्‌-सान गाम्पो राजा का समकालीन बतलाया है जिन्होंने तिब्बत में ६२७ ई० से लेकर ६५० ई० तक राज्य किया। तिब्बती जनश्रुति के आधार पर कुमारिल तथा धर्मकीर्ति समकालीन थे। धर्मकीर्ति ने ब्राह्मणधर्म के ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुमारिल के पास वेश बदल कर सेवक का काम किया था। इनका समय प्रायः ६३५ से लेकर ६५० ई० तक माना जा सकता है ये धर्मकीर्ति नालन्दा विद्यापीठ के अध्यक्ष आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे और धर्मपाल के परवर्ती नालन्दा के अध्यक्ष आचार्य शीलभद्र के सहाध्यायी थे। ये दिङ्नाग के शिष्य ईश्वर सेन के भी शिष्य माने जाते हैं। धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण 'कल्पनापोढमभ्रान्तम्' का खण्डन श्लोकवार्तिक में किया गया है। इस प्रकार धर्मकीर्ति के किञ्चित् परवर्ती होने से कुमारिल का समय ६५० ई० के पीछे अर्थात् सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध है।

भवभूति

प्रसिद्ध नाटककार भवभूति निःसन्देह कुमारिल के शिष्य थे। ये भवभूति कान्यकुब्ज के अधीश्वर यशोवर्मा (लगभग ७२५ से ७५२) तक के सभापण्डित थे जो अष्टम शतक के प्रथमार्ध में कन्नौज राज्य में करते थे। ७३३ ई० में कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड़[1] के हाथों इन्हें पराजित होना पड़ा था जिसका उल्लेख कल्हण ने राजतरङ्गिणी में किया है। अतः यशोवर्मा के सभापण्डित होने के कारण भवभूति का समय अष्टम शताब्दी का प्रथमार्ध (७०० ई०-७४० ई०) में होना न्यायसंगत है। इनके गुरु होने से कुमारिल का समय सप्तम शताब्दी का अन्तिम काल होना चाहिये। तब आचार्य शंकर का समय सप्तम शताब्दी का अन्त तथा अष्टम का आरम्भ माना जा सकता है।

---

१ कवि वाक्पतिराज श्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥
—राजतरंगिणी

कुमारिल की समसामयिकता के आधार पर जो सिद्धान्त निश्चित किया गया है उसकी पुष्टि प्राचीन ग्रंथों से भी होती है। महानुभाव सम्प्रदाय के 'दर्शन-प्रकाश' में (जो १५६० शकाब्द=१६३८ ई० में लिखा गया था) 'शङ्करपद्धति' नामक किसी प्राचीन ग्रंथ का एक उद्धरण है, जिससे शङ्कर के तिरोहित होने का समय ६४२ शकाब्द (=७२० ई०) प्रतीत होता है।

शङ्करपद्धति

२ ४ ६
युग्म पयोधि रसामित शाके
रौद्रकवत्सर ऊर्जकमासे
वासर ईज्य उताचल माने
कृष्णतिथौ दिवसे शुभयोगे।
शङ्कर लोकमगान्निजदेहं
हेमगिरौ प्रविहाय हठेन॥

'युग्म पयोधि रसामित शाके' में 'रसा' दो संख्याओं को सूचित कर सकता है—एक (रसा = पृथ्वी) तथा ६ (रसा = रसातल)। श्रीयुत राजेन्द्रनाथ घोष का कहना है कि छः मानना ही युक्तिसंगत है। एक मानने में असम्भव दोष आता है। अतः शङ्कर का मृत्युकाल ६४२ शाके (+७८ = ७२० ई०) में सिद्ध होता है और ३२ साल में उनका तिरोधान मानने से उनका जन्म ६१० शाके (= ६८८ ई०) में होना उचित है।[1]

इस मत की पुष्टि भी अन्य स्वतन्त्र प्रमाणों से की जा सकती है। शृंगेरी मठ की गुरुपरम्परा के अनुसार आचार्य शंकर का जन्म १४ विक्रमाब्द में तथा विरोधान ४६ विक्रमाब्द में हुआ। इस विषय की छानबीन आवश्यक है कि यह उल्लेख विक्रम संवत् में किया गया है कि किसी अन्य संवत् में। यह तो ऐतिहासिक तथ्य है कि विक्रम सम्वत् का प्राचीन नाम 'मालव सम्वत्' था। इसका प्रचलन उत्तरीय भारत में ही पहले था। बहुत पीछे सम्भवतः अष्टम या नवम शतक में इस का 'विक्रम संवत्' नाम पड़ा। शृंगेरी मठ की स्थिति दक्षिण भारत में है, जहां विक्रम संवत् का प्रचलन उतने प्राचीन काल में हो नहीं सकता। अतः बाध्य होकर हमें इस वर्ष को उन चालुक्यवंशी विक्रम नामधारी राजाओं से सम्बद्ध मानना उचित है, जिनके राज्य के अन्तर्गत शृंगेरी मठ था। चालुक्यवंशी नरेशों में सर्वप्रथम विक्रमा-

शृंगेरी मठ से पुष्टि

---

[1] श्री राजेन्द्रनाथ घोष ने इस विषय का बड़ा ही सुन्दर विवेचन अपने बङ्गला ग्रन्थ 'आचार्य शङ्कर ओ रामानुज' में किया है। शङ्कर विजय के कथनानुसार उन्होंने शंकर की जन्मकुण्डली तैयार की है, और उस कुण्डली के आधार पर महयोग के निदर्शक वर्ष के पता लगाने का उद्योग किया है। उनके मत में ६०८ शक के वैशाख शुक्ल तृतीय को ही आचार्य का जन्म हुआ था। उनके कथनानुसार आचार्य का स्थितिकाल ३४ वर्षों का था, न कि ३२ वर्षों का। कुण्डली का फलाफल भी बड़ी सूक्ष्मता तथा पण्डिताई से तैयार किया गया है।

द्रष्टव्य—'आचार्य शङ्कर ओ रामानुज' पृ० ८०२—८००

दित्य प्रथम हुए जिनका राज्याधिरोहण काल ६७० ईस्वी में माना जाता है। अतः लोकमान्य तिलक का यह अनुमान सत्य प्रतीत होता है कि शृंगेरी की पूर्वोक्त परम्परा में शङ्कर के काल का उल्लेख इन्हीं विक्रमादित्य से सम्बन्ध रखता है। अतः इस कल्पना के अनुसार शंकर का जन्म ६८४ ई० में तथा तिरोधान (६७०+४६) ७१६ ई० में सम्पन्न होना सिद्ध होता है।

कुमारिल के समसामयिक होने से शंकर का जो काल ऊपर निर्णीत है वह इस सिद्धान्त का पर्याप्त पोषक है। महावैयाकरण भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' की रचना कर अद्भुत कीर्ति अर्जन की है। महाभाष्य में जो सिद्धान्त सूत्ररूप में ही इधर उधर विकीर्ण उपलब्ध थे, उन्हीं का सांगोपांग विवेचन 'वाक्यपदीय' में किया गया है। भर्तृहरि का सिद्धान्त शब्दाद्वैत है। उनकी सम्मति में स्फोट ही एकमात्र वास्तव तत्त्व है जिसका विवर्त अर्थ तथा समस्त जगत् है। परन्तु मीमांसकों को यह मत ग्राह्य नहीं है। वे भी शब्द की नित्यता मानते हैं, परन्तु स्फोटात्मक रूप से नहीं, प्रत्युत वर्णात्मक रूप से। मीमांसकों का सिद्धान्त है कि स्फोट को ही सत्य तथा वर्ण, पद, अवान्तर वाक्य को मिथ्या मानने से तत्प्रतिपाद्य प्रयाज आदि अनुष्ठानों को भी मिथ्या मानना पड़ेगा।[1] इसीलिए कुमारिल ने श्लोकवार्तिक (श्लोक १३७) में स्फोटवाद के खण्डन का उपसंहार बड़ी सुन्दर रीति से किया है।[2] इसी प्रसङ्ग में उन्होंने भर्तृहरि की यह कारिका तन्त्रवार्तिक (१/३/३० सूत्र) में उद्धृत की है—

भर्तृहरि

> अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्य लक्षणम्
> अपूर्वदेवता स्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥
>
> —वाक्यपदीय, २ काण्ड, १२१ श्लोक

अतः कुमारिल को भर्तृहरि से कुछ अर्वाचीन मानना उचित है। इत्सिङ्ग नामक चीनी परिव्राजक के कथनानुसार भर्तृहरि का स्वर्गवास ६५१-५२ ई० में हो गया था। इस लिए कुमारिल को सप्तम शतक के मध्य भाग तथा शंकराचार्य को इस शतक के अन्तिम भाग में मानना सर्वथा प्रमाण-सङ्गत प्रतीत होता है। आजकल आचार्य शंकर का जो आविर्भावकाल माना जाता है उससे उनका समय एक सौ वर्ष पहले मानना ही हमारी दृष्टि में उचित प्रतीत होता है।

[1] विशेष द्रष्टव्य—बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन (नवीन सं०) पृ० ३७८-३८०

[2] वर्णातिरिक्त प्रतिषिध्यमानः पदेषु मन्दं फलमादधाति।
कार्याणि वाक्यावयवाश्रयाणि सत्यानि कर्तुं कृत एव यत्नः ॥

पञ्चम परिच्छेद

जन्म और बाल्य-काल

भारतवर्ष के सुदूर दक्षिण में केरल देश है। आजकल यह त्रिवाङ्कुर, कोचीन तथा मालाबार नामक देशों में विभक्त है। यह प्रदेश अपनी विचित्र सामाजिक व्यवस्था के लिए उतना ही प्रसिद्ध है जितना अपनी प्राकृतिक शोभा के लिए। प्रायः पूरा प्रान्त समुद्र के किनारे पर बसा हुआ है। यहाँ की प्राकृतिक छटा इतनी मनोरम है कि उसे देख कर दर्शक का चित्त बरबस मुग्ध हो जाता है, मन में विचित्र शान्ति का उदय हो जाता है। इस देश में हरियाली इतनी अधिक है कि दर्शकों के नेत्रों के लिए अनुपम सुख का साधन उपस्थित हो जाता है। इस प्रान्त के कालटी ग्राम में आचार्य शङ्कर का जन्म हुआ। यह स्थान आज भी अपनी पवित्रता के लिए केरल ही में नहीं प्रत्युत समग्र भारत में विख्यात है। कोचीन शोरानूर रेलवे लाईन पर "आलवाई" नामक एक छोटा स्टेशन है। यहाँ से यह गाव पाँच छः मील की दूरी पर अवस्थित है। पास ही आलवाई नदी बहती है और इस ग्राम की मनोरमता और भी बढ़ाती है। यह गाँव आजकल कोचीन राज्य के अन्तर्गत है और राज्य की ओर से पाठशाला तथा अंग्रेजी स्कूल की स्थापना छात्रों के विद्याभ्यास के लिए की गई है। इस स्थान की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए शृङ्गेरी मठ ने अनेक उपाय किए हैं। आचार्य ने अपनी माता का दाह संस्कार जिस स्थान पर किया था, वह स्थान आज भी दिखलाया जाता है। स्थान स्थान पर शिव मन्दिर भी बने हैं। पर्वत की श्रेणियां पास ही हैं। कालटी की प्राकृतिक स्थिति दर्शक के हृदय में सामञ्जस्य तथा शान्ति का उदय करती है। आश्चर्य की यह बात नहीं कि इस स्थान के एक निवासी ने दुःख से संतप्त प्राणियों के सामने शान्ति तथा आत्यन्तिक सुख पाने का अनुपम उपदेश दिया था। शङ्कर के माता पिता "पण्ड्रियूर" ग्राम के निवासी थे जिसका उल्लेख "शशल" ग्राम के नाम से भी मिलता है। पीछे वे लोग कालटी में आकर बस गये थे।

केरल देश

शङ्कर के जन्मस्थान के विषय में एक अन्य भी मत है। आनन्दगिरि के कथनानुसार इनका जन्म तामिल प्रान्त के सुप्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र चिदम्बरम् में हुआ था[1], परन्तु अनेक कारणों से यह मत मुझे मान्य नहीं है। समग्र केरल प्रान्त की यह मान्यता है कि शङ्कर की माता "पजुर-पन्नै इल्लम्" नामक नम्बूदरी ब्राह्मण कुटुम्ब की थी। और यह कुल सदा से "त्रिचूर" के पास निवास कर रहा है। यह कुटुम्ब

जन्मस्थान का निर्णय

1—तत्र पर्वोनचक्रे देशः चिदम्बरपुराधिवः। आकाशलिङ्गनाम्ना तु विख्यातोऽभून्महीतले॥
तत्र विद्वन्महेन्द्रस्य कुले द्विजगणाश्रिते। जातः सर्वज्ञनामा तु सर्वस्वं द्विजकुलेश्वरः॥
—शङ्कर विजय पृ० ८

केरल प्रान्त का ही निवासी है। अतः शङ्कराचार्य को भी केरलीय मानना ही न्यायसंगत होगा। वह स्थान जहाँ शङ्कर ने अपनी माता का दाहसंस्कार किया था आज भी कालटी के पास वर्तमान है। एक अन्य प्रमाण से भी चिदम्बरम् के जन्मस्थान होने का पर्याप्त खण्डन हो जाता है। माध्व मत के आचार्यों के जीवनचरित के विषय में एक माननीय पुस्तक है जिसका नाम है 'मणिमञ्जरी'। इसके रचयिता त्रिविक्रम भट्ट ने भी शङ्कर का जन्मस्थान कालटी में ही बताया है। मणिमंजरी के निर्माता अद्वैतवादी न थे, प्रत्युत द्वैत मत के मानने वाले थे। उनके ऊपर किसी प्रकार के पक्षपात का दोष आरोपित नहीं किया जा सकता। यह तो प्रसिद्ध ही है कि बदरीनाथ तथा पशुपति-नाथ के प्रधान पुजारी नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते आये हैं। ये ही पुजारी आजकल 'रावल' जी के नाम से विख्यात हैं। वर्तमान मन्दिर की प्रतिष्ठा आचार्य शङ्कर ने की थी तथा इसकी पूजा वैदिक विधि से सपन्न करने के लिए उन्होंने अपने ही देश के वैदिक ब्राह्मण को इस कार्य के लिए नियुक्त किया था। तब से लेकर आजतक इन मन्दिरों के पुजारी केरल देश के नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते हैं। इन सब कारणों से यही प्रतीत होता है कि आचार्य शङ्कर केरल देश के निवासी थे तथा नम्बूदरी ब्राह्मण थे। शङ्कर दिग्विजयों के पोषक इन निस्संदिग्ध प्रमाणों के रहते कोई भी व्यक्ति कालटी को छोड़ कर चिदम्बरम् को आचार्य के जन्मस्थान होने का गौरव कथमपि प्रदान नहीं कर सकता।

जाति परिचय

कालटी ग्राम में नम्बूदरी ब्राह्मणों के कुल में आचार्य का आविर्भाव हुआ। ये नम्बूदरी ब्राह्मण लोग निष्ठावान्, सदाचार-संपन्न और वैदिक कर्मकाण्ड के विशेष अनुरागी होते हैं। भारतवर्ष में केवल यही ऐसा प्रान्त है जहां आज भी उन प्राचीन रीतियों और रूढ़ियों का अनुसरण किया जाता है। पञ्चम वर्ष से लेकर अष्टम वर्ष तक ब्राह्मण बालक का उपनयन दान, गुरु-गृह में प्रवेश तथा वेद का अभ्यास आज भी देखा जाता है। इन ब्राह्मणों के सामाजिक आचार और व्यवहार में अनेक विचित्रता दिखलाई पड़ती है। सब आचारों में सब से विचित्र होता है इनका विवाह। इनका जेष्ठ पुत्र ही नम्बूदरी ब्राह्मण कन्या से विवाह करता है, और पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। दूसरे पुत्र लोग 'नायर' स्त्रियों से विवाह करते हैं तथा उनके पुत्र नायर जाति के अन्तर्भुक्त होते हैं। नायर जाति न तो ब्राह्मण ही है, और न ठीक शूद्र ही, किन्तु ब्राह्मण और शूद्र जाति का संमिश्रण है। इनकी एक कन्या बहु विवाह कर सकती है। एक ही कन्या के नायर और नम्बूदरी पति होने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। यहाँ की कन्या ही पृथ्वी और सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती हैं। इसी प्रकार की अनेक विचित्र सामाजिक प्रथाएं आज भी यहां प्रचलित हैं। आचार्य शङ्कर ऐसे ही नम्बूदरी ब्राह्मण की सन्तान थे।

शङ्कर के पिता का नाम था शिवगुरु[१]। ये अपने पिता विद्याधिप या विद्याधिराज की एकमात्र सन्तान थे। शिवगुरु गुरु के घर में शास्त्राध्ययन करते २ वैराग्य युक्त हो गए थे। घर में लौटने का समय बीत गया था। पिता ने देखा कि पुत्र गृहस्थी से मुँह मोड़ कर वैराग्य का सेवन करना चाहता है। उन्होंने पुत्र की इच्छा न रहने पर भी उसका समावर्तन संस्कार करवाया और उसे घर लाए। अपने गाँव के पास ही किसी छोटे गाव के रहने वाले 'मघ' पंडित की कन्या से उन्होंने शिवगुरु का विवाह कर दिया। इस कन्या का नाम भिन्न भिन्न बतलाया जाता है। माधव ने इनका नाम 'सती' तथा आनन्दगिरि ने 'विशिष्टा' बतलाया है[२]। आचार्य शङ्कर के ये ही माता पिता हैं।

माता पिता का परिचय

शिवगुरु एक अच्छे तपोनिष्ठ वैदिक थे। बड़े आनन्द से अपनी गृहस्थी चलाते थे। क्रमश वृद्धावस्था उपस्थित होने लगी। परन्तु पुत्र के मुखदर्शन सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। उनके चित्त में पुत्र का मनोरम मुख देखने इच्छा और मनोहर तोतली बोली सुनने की लालसा लगी रही। अनेक ऋतु आई और चली गईं, परन्तु शिवगुरु के हृदय में पुत्र पाने की लालसा आई गई नहीं। अन्ततोगत्वा द्विज दम्पती ने तपस्या को कल्याण का परम साधन मान कर उसी की साधना में चित्त लगाया।

आचार्य शङ्कर के जन्म के विषय मे अनेक विचित्र बातें लिखी मिलती हैं। शङ्कर के माहात्म्य प्रतिपादन करने की लालसा का इस विषय में जितना दोष है उतना ही दोष उनके गुणों की अवहेलना कर निर्मूल बातें गढ़ने की अभिलाषा का। इस विषय में आचार्य के निन्दकों के समान आचार्य के अन्धभक्तों का भी दोष कम नहीं है। आनन्द गिरि का कहना है कि आचार्य शङ्कर का जन्म चिदम्बरम् के क्षेत्र देवता भगवान् महादेव के परमानुग्रह का सुखद परिणाम था। पुत्र के न होने से उदास हो कर जब शिवगुरु ने घर-गृहस्थी से नाता तोड़ कर जगल का रास्ता पकड़ा, तब विशिष्टा देवी ने महादेव की उपासना को एकमात्र लक्ष्य बनाया। वह रात दिन शिव की अर्चा में न्यस्त रहती। वहीं पर महादेव की महती कृपा से शङ्कर का शुभ जन्म हुआ। इस विषय में द्वैतवादियों ने साम्प्रदायिकता के मोहजाल में पडकर जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया है वह नितान्त हेय तथा जघन्य है। मणिमञ्जरी के अनुसार शङ्कर एक दरिद्र ब्राह्मणी विधवा के पुत्र थे। इस बात का पर्याप्त खण्डन शङ्कर के उत्तरकालीन चरित से ही हो जाता है। यह तो प्रसिद्ध बात है कि शङ्कर के हृदय में अपनी महनीया माता के लिए प्रगाढ़ ममता थी, विशुद्ध भक्ति थी—इतनी भक्ति कि उन्होंने सन्यास

१—माधव-दिग्विजय सर्ग २। ५

२—सा कुमारी यदाप्यान तस्काऽभूत् ज्ञानतत्परा।
विशिष्टेति च नाम्ना तु प्रसिद्धाभूत् महीतले॥
—आनन्दगिरि पृ० ८

यह मानवजीवन सफलता प्राप्त कर लेता। कुछ दिनों तक तो उन्होंने इस मानसयुद्ध की उपेक्षा की। परन्तु आगे चल कर उन्होंने देखा कि परमार्थ की भावना उन्हें संसार से दूसरी ओर खींच रही थी। तब उन्होंने अपना अभिप्राय माता से कह सुनाया। उस विधवा के हृदय पर गहरी चोट पड़ी। एक तो तापस पति से अकाल में वियोग, दूसरे एकमात्र यशस्वी पुत्र के वियोग की आशंका। उसका हृदय टूक टूक हो गया। शंकर के हजार समझाने पर भी उसने इस प्रस्ताव पर अपनी सम्मति नहीं दी परन्तु 'मेरे मन कुछ और कर्ता के कुछ और'। एक विचित्र घटना ने शंकर के प्रस्ताव को सफल बना दिया। एक दिन माता और पुत्र दोनों स्नान करने के लिए आलवाई नदी में गए थे। माता स्नान कर घाट पर खड़ी कपड़े बदल रही थी। इतने में उसके पुत्र के करुण चीत्कार ने उसका ध्यान बलात् खींच लिया। और उसने दृष्टि फेर कर देखा तो क्या देखती है कि उसके प्यारे शंकर को भीमकाय मगर पकड़े हुए है और उसे निगल जाने के लिए तैयार है। असहाय बालक आत्मरक्षा करने में तत्पर है परन्तु कहाँ वह कोमल छोटा बालक और कहाँ वह भयानक खूँखार घड़ियाल!! शंकर के सब प्रयत्न विफल हुए। माता के सब उद्योग व्यर्थ सिद्ध हुए। बड़ा करुणाजनक दृश्य था। असहाय माता घाट पर खड़ी फूट-फूट कर बिलख रही थी और उधर उसका एकमात्र पुत्र अपनी प्राणरक्षा के लिए भयंकर मगर के पास छटपटा रहा था। शंकर ने अपना अन्तकाल आया जान कर माता से संन्यास लेने की अनुमति माँगी—मैं तो अब मर ही रहा हूँ। आप संन्यास ग्रहण करने के लिए मुझे आज्ञा दीजिये जिससे संन्यासी बन कर मैं मोक्ष का अधिकारी बन सकूं। वृद्धा जननी ने पुत्र की बातें सुनी और अगत्या संन्यास लेने की अनुमति दे दी। उधर आसपास के मछुवे तथा मल्लाह दौड़ कर आए। बड़ा हो हल्ला मचाया। संयोग वश मगर ने शंकर को छोड़ दिया। बालक के जीवन का यह अष्टम वर्ष था। भगवत्कृपा से वह काल के कराल गाल से किसी प्रकार बच गया। माता के हर्ष की सीमा न थी। उस आनन्दातिरेक में उसे इस बात की सुध न रही कि उसका ब्रह्मचारी शंकर अब संन्यासी बन कर घर लौट रहा है।

विचित्र घटना

शंकर ने उस समय आठवें वर्ष में ही आपत्-संन्यास अवश्य ले लिया था परन्तु उन्हें विधिवत् संन्यास की बलवती इच्छा थी। अतः किसी योग्य गुरु की खोज में वे अपना घर छोड़ कर बाहर जाने के लिए उद्यत हुए। उन्होंने अपनी सम्पत्ति अपने कुटुम्बियों में बाँट दी और माता के पालन पोषण का भार उन्हें सुपुर्द कर दिया। परन्तु बिदाई के समय स्नेहमयी माता अपने पुत्र को किसी प्रकार जाने देने के लिए तैयार न थी। अन्त में शंकर ने माता की इच्छा के अनुसार यह दृढ़ प्रतिज्ञा की कि मैं तुम्हारे अन्तकाल में अवश्य उपस्थित हूँगा और अपने हाथों तुम्हारा दाह संस्कार करूँगा। माता की इच्छा

रखने के लिए पुत्र ने संन्यास धर्म की अवहेलना स्वीकार कर ली, परन्तु माता के चित्त को क्लेश नहीं पहुँचाया। शंकर के गृहत्याग के समय कुल देवता श्रीकृष्ण ने स्वप्न दिया कि तुम्हारे चले जाने पर यह नदी हमारे मन्दिर को गिरा देगी। अतः मुझे किसी निरापद स्थान पर पहुँचा दो। तदनुसार शंकर ने भगवान की मूर्ति को तीरस्थित मन्दिर से हटाकर एक ऊँचे टीले पर रख दिया और दूसरे ही दिन प्रस्थान किया।

षष्ठ परिच्छेद

साधना

शंकर ब्रह्मवेत्ता गुरु की खोज में उत्तर भारत की ओर चले। पातञ्जल महाभाष्य के अध्ययन के समय में उन्होंने अपने विद्यागुरु के मुख से सुन रक्खा था कि योगसूत्र के प्रणेता महाभाष्यकार पतञ्जलि इस भूतल पर गोविन्द भगवत्-पाद के नाम से अवतीर्ण हुए हैं[1] तथा नर्मदा के तीर पर किसी अज्ञात गुफा में अखण्ड समाधि में बैठे हुए हैं[2]। उन्होंने शुकदेव के शिष्य गौड़पादाचार्य से अद्वैत वेदान्त का यथार्थ अनुशीलन किया है। इन्हीं गोविन्दाचार्य से वेदान्त की शिक्षा लेने के लिए शंकर ने दूसरे ही दिन प्रातःकाल प्रस्थान किया। कई दिन के अनन्तर शंकर कदम्ब या वनवासी राज्य से होकर उत्तर की ओर बढ़ते जा रहे थे।

शृंगेरी की विचित्र घटना

एक दिन की बात है कि दोपहर का सूर्य आकाश में प्रचण्डरूप से चमक रहा था। भयंकर गर्मी के कारण जीव जन्तु विह्वल हो उठे थे। शंकर भी एक वृक्ष की शीतल छाया में बैठ कर मार्ग की थकावट दूर कर रहे थे। सामने जल से भरा एक सुन्दर तालाब था। उसमें से निकल कर मेंढक के छोटे छोटे बच्चे धूप में खेल रहे थे। पर गरमी से व्याकुल होकर फिर पानी में डुबकी लगाते थे। एक बार जब वे खेलते खेलते बेचैन हो गए तब कहीं से आकर एक कृष्ण सर्प उनके सिर पर फण पसार कर धूप से उनकी रक्षा करने लगा। शंकर इस दृश्य को देखकर विस्मय से चकित हो गए। स्वाभाविक वैर का त्याग जन्तुजगत् की एक विचित्र घटना है। इसने उनके चित्त पर विचित्र प्रभाव डाला। उनके हृदय में स्थान की पवित्रता जम गई। सामने एक पहाड़ का टीला दीख पड़ा जिस पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं। उन्हीं सीढ़ियों से वे ऊपर चढ़ गए और ऊपर शिखर पर निर्जन कुटी में बैठकर तपस्या करने वाले एक तापस को देखा और उनसे इस विचित्र घटना का रहस्य पूछा। तपस्वी जी ने बतलाया कि यह शृङ्गी ऋषि का पावन आश्रम है। इसी कारण यहाँ नैसर्गिक शान्ति का अखंड राज्य है। जीव जन्तु अपने स्वाभाविक

१—दृष्ट्वा पुरा निजसहस्रमुखीमभैषुरन्ते वसन्त इति तामपहाय शान्तः।
एकाननेन भुवि यस्त्ववतीर्य शिष्यान् अन्वग्रहीन्ननु स एव पतञ्जलिस्त्वम्॥ शं० दि० ५।९५।

२—गोविन्द के निवासस्थान में मतभेद है। माधव का कथन है (५।९०) कि गोविन्द का आश्रम नर्मदा नदी के तीर पर था—गोविन्दनाथ वनमिन्दुभवातटस्थम्। चिद्विलास के अनुसार यह स्थान बदरीनाथ के पास था।—

क्रमेण बदरीं प्राप यत्र विष्णुस्तपस्यति। १८
बिम्बमरुणनिशादित्यं भासन्तमिव पावकम्।
गोविन्द-भगवत्-पादं दीप्तिनेन्द्रसत्प्रभम्॥ ४६

—शंकर विजयविलास, अध्याय ८

वैरभाव को भुला कर यहाँ सुखपूर्वक विचरण करते हैं। इन वचनों का प्रभाव शंकर के ऊपर खासा पड़ा और उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि मैं अपना पहला मठ इसी पावन तीर्थ में बनाऊँगा। आगे चल कर शंकराचार्य ने इसी स्थान पर अपने संकल्प को जीवित रूप दिया। 'शृंगेरी मठ' की स्थापना का यही सूत्रपात है।

गोविन्द मुनि

यहाँ से चल कर शंकर अनेक पर्वतों तथा नदियों को पार करते हुए नर्मदा के किनारे ओंकारनाथ के पास पहुँचे। यह वही स्थान था जहाँ पर गोविन्द मुनि किसी गुफा में अखण्ड समाधि की साधना कर रहे थे। समाधि भङ्ग होने के बाद शंकर से उनकी भेंट हुई। शंकर की इतनी छोटी उम्र में इतनी विलक्षण प्रतिभा देख कर गोविन्दाचार्य चमत्कृत हो उठे और उन्होंने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त को बड़ी सुगमता के साथ शंकर को बतलाया। शंकर यहाँ लगभग तीन वर्ष तक अद्वैत तत्त्व की साधना में लगे रहे। उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रों का विशेष रूप से अध्ययन किया। गोविन्दाचार्य ने अपने गुरु गौड़पादाचार्य से ब्रह्मसूत्र की जो साम्प्रदायिक अद्वैत-परक व्याख्या सुन रक्खी थी उसे ही उन्होंने अपने इस विचक्षण शिष्य को कह सुनाया। आचार्य अद्वैत तत्त्व में पारंगत हो गए। एक दिन की बात है कि वर्षा के दिनों में नर्मदा नदी में बड़ी भारी बाढ़ आई—इतनी बड़ी भारी बाढ़ कि उसके सामने बड़े बड़े वृक्ष तृण के समान भी ठहरने में समर्थ नहीं हुए। उसी समय गोविन्दपाद गुफा के भीतर बैठ कर समाधि में निमग्न थे। शिष्यों में खलबली मच गई कि यदि किसी प्रकार यह जल गुफा के भीतर प्रवेश कर जाय तो गुरुदेव की रक्षा कथमपि नहीं हो सकती। शंकर ने अपने सहपाठियों की व्यग्रता देखी और उन्हें सान्त्वना देते हुए उन्होंने एक घड़े को अभिमन्त्रित कर गुफा के द्वार पर रख दिया। पानी ज्यों ज्यों बढ़ता जाता था वह उसी घड़े के भीतर प्रवेश करता चला जाता था। गुफा के भीतर जाने का उसे अवसर ही नहीं मिला। इस भीषण बाढ़ से शंकर ने गुरु की रक्षा कर दी। उपस्थित जनता ने अचरज से देखा कि जिस बात की कल्पना वे स्वप्न में भी न करते थे वही घटना अक्षरशः ठीक हुई। शंकर के इस अलौकिक कार्य को देखकर सब लोग विस्मित हो गए।

जब गुरु जी समाधि से उठे तब इस आश्चर्य भरी घटना का हाल सुन कर वे चमत्कृत हुए और उन्होंने शंकर से काशी में जाकर विश्वनाथ के दर्शन को कहा। साथ ही साथ उन्होंने पुरानी कथा भी कह सुनाई जो उन्होंने हिमालय में देवयज्ञ में पधारने वाले व्यास जी से सुन रक्खी थी। व्यास जी ने उस समय कहा था कि जो पुरुष एक घड़े के भीतर नदी की विशाल जलराशि को भर देगा, वही मेरे ब्रह्मसूत्रों की यथावत् व्याख्या कर देने में समर्थ होगा। यह घटना तुम्हारे विषय में चरितार्थ हो रही है। गोविन्द ने शंकराचार्य को प्रसन्नता पूर्वक विदा किया।

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर शंकर ने काशी के लिए प्रस्थान किया। काशी आकर उन्होंने मणिकर्णिका घाट के समीप एक स्थान पर निवास करना आरम्भ किया[1]। इस स्थान पर यथाविधि नित्य कर्म करके शंकर विश्वनाथ और अन्नपूर्णा के दर्शन में निरत हुए। विद्यार्थियों को अद्वैत वेदान्त की शिक्षा देना भी आरम्भ किया। आचार्य की अवस्था अभी बारह वर्ष की थी। उनका असाधारण पाण्डित्य देखकर काशी की विद्वन्-मण्डली चकित हो गई। ब्रह्मसूत्र का जो अर्थ शंकर ने गोविन्दपाद से सुना था उसी की व्याख्या नित्य छात्रों के सामने आचार्य करते रहे। आचार्य की विद्वत्ता से अनेक छात्र आकृष्ट हो कर उनसे विद्याभ्यास करने लगे। ऐसे शिष्यों में उनके प्रथम शिष्य हुए **सनन्दन** जो चोल देश के रहने वाले थे। एक बार यहाँ एक विचित्र घटना घटी। दोपहर का समय था। शंकर अपने विद्यार्थियों के साथ मध्याह्न कृत्य के निमित्त गंगातट पर जा रहे थे। उन्होंने रास्ते में चार भयानक कुत्तों से घिरे हुए भयंकर चाण्डाल को देखा। वह रास्ता रोक कर खड़ा था। शंकर ने उसे दूर हट जाने के लिए कई बार कहा। इस पर वह चाण्डाल बोल उठा कि आप सन्यासी हैं, विद्यार्थियों को अद्वैत-तत्त्व की शिक्षा देते हैं। परन्तु आप के ये वचन सूचित कर रहे हैं कि आपने अद्वैत का तत्त्व कुछ भी नहीं समझा है। जब इस जगत् का कोना कोना उसी सच्चिदानन्द परम ब्रह्म से व्याप्त हो रहा है तब कौन किसे छोड़ कर कहा जाय? आप पवित्र ब्राह्मण हैं और मैं नीच श्वपच हूं। इस बात को मानना भी यह आप का दुराग्रह है। इन वचनों को सुनकर आचार्य के अचरज का ठिकाना न रहा। और उन्होंने अपने हृदय की भावना को स्पष्ट करते हुए कहा कि जो चैतन्य विष्णु, शिव आदि देवताओं में स्फुरित होता है वही कीड़े-मकोड़े जैसे क्षुद्र जानवरों में भी स्फुरित हो रहा है। उसी चैतन्य को जो अपना स्वरूप समझता हो ऐसा दृढ़ बुद्धि वाला पुरुष चाण्डाल भले ही हो, वह मेरा गुरु है—

> ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्र-विस्तारितं।
> सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणयाशेषं मया कल्पितम्॥
> इत्थं यस्य दृढा मतिः सुखतरे नित्ये परे निर्मले।
> चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम॥

भगवान् विश्वनाथ की परीक्षा समाप्त हुई। शंकर में जो त्रुटि थी वह दूर हो गई। उस समय चाण्डाल का रूप छोड़ कर विश्वनाथ ने अपना दिव्य शरीर प्रकट करते हुए कहा—वत्स शंकर! मैं तुमसे प्रसन्न हूं। मेरी इच्छा है कि तुम्हारे द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार इस जगत् में सम्पन्न करूं। तुम्हारे में किसी

---

[1] स्नात्वैव तोये मणिकर्णिकाया विश्वेश्वरं प्रत्यहमर्चति स्म।
वासं चकारानिशमेव शिष्यैः साकं स घट्टे मणिकर्णिकायाः॥ २

चिद्विलास श० वि० १२ वां सर्ग

प्रकार की न्यूनता होना उचित नहीं है। जाओ तुम व्यास कृत ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य की रचना करो। वेदान्त का मुख्य तात्पर्य अद्वैत-ब्रह्म का प्रतिपादन है, इसका सर्वत्र प्रचार करो। तुम्हारे इस शरीर से जो कार्य सम्पन्न होगा, उसे मेरा ही कार्य जानना। इतना कह कर चाण्डाल वेशधारी शकर अन्तर्धान हो गए। इस घटना से आचार्य के शिष्यगण बड़े ही विस्मित हुए। उनके नेत्रों के सामने न तो कहीं चाण्डाल था और न कहीं कुत्ते। आचार्य शान्त भाव से मणिकर्णिका घाट पर स्नान करने के लिए चले गए। स्नान कर उन्होंने विश्वनाथ का दर्शन किया और अपने स्थान पर लौट आए। अब शकर के हृदय में ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखने की इच्छा बलवती हो उठी। उन्होंने यह स्थिर किया कि बदरीनाथ जाकर ही सूत्रभाष्य की रचना करूँगा। बदरिकाश्रम के पास ही 'व्यास-गुहा' है जहाँ रह कर व्यास जी ने इन वेदान्तसूत्रों का प्रणयन किया था। जिस पवित्र वायुमण्डल मे सूत्रों की रचना की गई थी उसी वायुमण्डल को शकर ने भाष्य की रचना के लिए भी उपयुक्त समझा। इसलिये उन्होंने अपनी शिष्यमण्डली के साथ गंगा के किनारे किनारे होकर बदरिकाश्रम जाने का विचार किया।

सनन्दन तथा अन्य शिष्यों के साथ यह बालक-संन्यासी हिमालय के सुदूर तीर्थ में जाने के लिए निकल पड़ा। रास्ते में तीर्थों के दर्शन करते हुए ये आगे बढ़े चले जाते थे। उन्हें जो देखता वही आश्चर्य से चकित हो जाता। द्वादशवर्षीय संन्यासी-बालक गुरु, साथ में युवक, वृद्ध नाना अवस्था के संन्यासी और ब्रह्मचारी शिष्य—यह दृश्य सब दर्शकों के हृदय में एक साथ ही विस्मय और श्रद्धा उत्पन्न कर रहा था। आचार्य धीरे धीरे हरद्वार पहुँचे। हरद्वार में कुछ दिन तक उन्होंने निवास किया। वहाँ से वे ऋषिकेश मे आए। इस स्थान पर पहले ऋषियों ने यज्ञेश्वर विष्णु की मूर्ति स्थापित की थी। उसी की पूजा अर्चा यहाँ होती थी। आचार्य ने विष्णुमन्दिर को देखा, परन्तु मूर्ति को न देखकर उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ। लोगों के मुख से सुना कि कुछ दिन पहले चीन देश के डाकुओं का उपद्रव इस देश मे इतना अधिक था कि उसके डर के मारे विष्णु की मूर्ति गङ्गा के गर्भ मे छिपा दी गई थी। पीछे बहुत खोजने पर भी वह मूर्ति नहीं मिली। गगा की धारा में वह किधर बह गई ? यह पता नहीं चला। इस पर आचार्य ने शिष्यों के साथ गङ्गातीर पर आकर एक स्थान दिखलाया। वहाँ थोड़ी चेष्टा से ही भगवान् विष्णु की वही प्राचीन प्रतिमा मिल गई। लोगों ने बड़े समारोह के साथ उस यज्ञ-मूर्ति विष्णु की प्रतिमा की प्रतिष्ठा उस मन्दिर में की। अनन्तर शंकर अपने शिष्यों के साथ बदरिकाश्रम की यात्रा के लिए चल पड़े।

बदरीनाथ का उद्धार

रास्ते मे इन्होंने अनेक तीर्थों का दर्शन किया। इधर नरबलि देने की प्रथा बहुत अधिक थी। तान्त्रिक पूजा का उग्ररूप इधर अधिक प्रचलित था। शंकर ने लोगों को समझा बुझा कर इस प्रथा को दूर किया। दुर्गम घाटी से

होकर बदरी की यात्रा आज भी कठिन है। उस समय इसकी क्या दशा थी? यह कितना बीहड़ था? इसका अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। इतना होने पर भी अलौकिक शक्ति से सम्पन्न शंकर शिष्यों के साथ मार्ग के कष्टों की अवहेलना करते हुए बदरिकाश्रम में जा ही पहुँचे। यह वही स्थान है जहाँ नर-नारायण ऋषियों ने घोर तपस्या की थी। सामने है गगनभेदी चिरतुषारमण्डित अपरिमेय श्वेतकाय हिमालय—जान पड़ता है मानों भगवान् विष्णु अति विशाल विराट् मूर्ति धारण कर बैठे हुए हों। बायीं और दाहनी ओर नर और नारायण पर्वत खड़े हुए हैं। जान पड़ता है कि भगवान् अपनी दोनों बाहुओं को पसार कर भक्त गणों को अपनी गोदी में लेने के लिए मानों आह्वान कर रहे हों। यह स्थान वस्तुतः भूतल पर स्वर्ग है। ऐसा कोई भी व्यक्ति न होगा जिसका चित्त इस आश्रम के सौन्दर्य को देख कर मुग्ध न बन गया हो। आचार्य ने यहाँ रह कर अनेक तीर्थों का दर्शन किया परन्तु प्रधान मन्दिर में भगवान् नारायण की मूर्ति न देखकर उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने लोगों से इसका कारण पूछा। पुजारियों ने कह सुनाया चीन देश के राजा का समय समय पर इधर भयानक आक्रमण होता आया है। इसी डर से भगवान् की मूर्ति को हम लोगों ने इसी नारदकुण्ड में फेंक दिया है। परन्तु पीछे बड़ी खोज करने पर भी वह मूर्ति हमें न मिल सकी। इस पर आचार्य ने नारदकुण्ड में स्वयं उतर कर मूर्ति को खोज निकालने का प्रस्ताव किया। पुजारियों ने उन्हें बहुत समझाया कि नीचे नीचे इस कुण्ड का सम्बन्ध अलकनन्दा के साथ साथ है। अतः यहाँ उतरने पर प्राण-हानि का भय है। आप न उतरें। आचार्य ने इन बातों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उन्होंने नारदकुण्ड में डुबकी लगाई। उनके हाथ में पत्थर का एक टुकड़ा मिला। ऊपर आकर उन्होंने देखा कि वह पद्मासन में बैठे हुए चतुर्बाहु विष्णु की मूर्ति है। परन्तु मूर्ति का दाहिना कोना टूटा हुआ है।

आचार्य ने इस मूर्ति को देखकर विचार किया कि बदरीनारायण की मूर्ति कभी खण्डित नहीं हो सकती। उन्होंने उस मूर्ति को फिर गंगा में फेंक दिया। और कुण्ड में फिर गोता लगाया। फिर वही मूर्ति मिली। तीसरी बार आचार्य ने फिर उसे गंगा में डाल दिया और नारदकुण्ड में गोता लगाया। जब तीसरी बार वही मूर्ति उनके हाथ आई[1] तब उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सुनते हैं कि उस समय आकाशवाणी हुई थी कि कलि में इसी मूर्ति की पूजा होनी चाहिये। शंकर ने स्वयं इस मूर्ति की प्रतिष्ठा मन्दिर में की तथा वैदिक रीति से इसकी पूजा-अर्चा का प्रबन्ध किया। शंकर ने देखा कि स्थानीय ब्राह्मणों में वेदाध्ययन बहुत ही कम था। अतः उनके द्वारा ठीक वैदिक विधि से पूजन का निर्वाह नहीं हो सकता था। इसलिए उन्होंने अपने सजातीय नम्बूदरी ब्राह्मण को

१ ततोऽहं यतिरूपेण तीर्थान्नारदसञ्ज्ञकात्।
उद्धृत्य स्थापयिष्यामि हरिं लोकहितेच्छया ॥ २४
—स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड (बदरिकाश्रम माहात्म्य), अध्याय ५ पृष्ठ १२८

बदरिनाथ मूर्ति की पूजा के लिए नियुक्त किया। आचार्य के द्वारा यह चलाई गई पद्धति आज भी अक्षुण्ण रीति से विद्यमान है। आज भी दक्षिण के नम्बूदरी ब्राह्मण (जिसे रावल जी कहते हैं) की अध्यक्षता में इस स्थान की पूजा, अर्चा चलती है। बदरिधाम हमारे चारों धामों में अन्यतम है। इसके उद्धार का समस्त श्रेय आचार्य शंकर को ही है[1]। आगे चलकर शंकर ने इसी के कुछ दूर नीचे ज्योतिर्मठ की स्थापना की (जिसे आज कल जोशीमठ भी कहते हैं) और तोटकाचार्य नामक शिष्य को यहाँ का अध्यक्ष बनाया। इस प्रकार इस स्थान का उद्धार कर आचार्य शंकर ने "व्यासाश्रम" में रहकर ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य लिखने का निश्चय किया।

भाष्य-रचना

व्यासतीर्थ बदरिकाश्रम के पास ही है। यही महामुनि व्यासदेव का आश्रम है। यहीं रहकर वेदव्यास ने महाभारत की रचना की। इसके नीचे केशव प्रयाग है जहाँ अलकनन्दा के साथ केशव गंगा का संगम है। बदरीनारायण के मन्दिर को पार कर उत्तर तरफ त्रिकोणाकार एक ऊँचे, पूरब से पच्छिम तक फैले हुए हिमालय प्रदेश में यह आश्रम स्थित है। यह एक बड़ी भारी गुफा है। गुफा के बाहर दाहिनी तरफ सरस्वती का मन्दिर है और बायीं तरफ गणेश का। जब व्यास देव ने महाभारत की रचना की थी तब यहीं गणेश जी लिखते थे और उन्होंने कूट श्लोकों के अर्थों को भली भाँति समझा है कि नहीं इसकी गवाही देने के लिए सरस्वती देवी स्वयं उपस्थित थी। इसी गुफा में आचार्य शंकर ने अपने शिष्यों के साथ निवास करना आरम्भ किया। एक तो हिमालय की सुन्दर ऋतु, दूसरे आश्रम का पवित्र वायुमडल—दोनों ने मिलकर आचार्य के हृदय में नवीन आध्यात्मिक प्रेरणायें प्रस्तुत कीं। यहीं रह कर आचार्य ने ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता तथा प्रधान उपनिषदों पर विशद भाष्य लिखे। आचार्य ने यहाँ लगभग चार वर्षों तक निवास किया। बारह वर्ष की उम्र में वे आये थे और सोलह वर्ष समाप्त होते होते उन्होंने अपने भाष्य-ग्रंथों की रचना कर डाली। आचार्य की साधना का यही पर्यवसान था। ये ग्रन्थ इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि वैदिक धर्म के रहस्य को जानने के लिए इनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है, परंतु बिना टीका के बड़े दुरूह हैं। आचार्य ने इन्हें व्याख्या से सम्पन्न कर इनकी उपयोगिता अधिक बढ़ा[2] दी।

---

१ गत्वैकादशवार्षिको बदरिकारण्ये सुपुण्याश्रमं
पश्चाब्दान्तर कुर्वया निजधिया भाष्याणि यः षोडश।
निर्माय प्रथयाँचकार बदरीनारायणार्चां तथा
श्री ज्योतिर्मठमप्यबन्ध स गुरु श्री शङ्करो वन्द्यते॥
कालिदास—शंकरविजय का मंगलश्लोक।

२—व्यास गुफा में रहकर आचार्य ने भाष्य की रचना की थी यह माधव के शंकर विजय के अनुसार है। अन्य ग्रन्थों में भाष्य की रचना काशी में की गई है। ऐसा वर्णन मिलता है। व्यास-दर्शन का स्थान भी माधव के ग्रन्थ में 'केदारनाथ' के पास बतलाया गया है। परन्तु चिद्विलास ने काशी में इस घटना के होने का निर्देश किया है—शंकर विजयविलास अ० ११-१४

भाष्य-रचना के साथ साथ भाष्य-पाठन भी होता था। भाष्य तो सब शिष्य पढ़ते थे परन्तु सनन्दन की बुद्धि सब से विलक्षण थी। गुरु ने उन्हें तीन बार अपना शारीरक भाष्य पढ़ाया। इसलिए आचार्य के अनन्तर सनन्दन का अद्वैत ज्ञान नितरां श्लाघनीय था। ऐसे शिष्य पर गुरु की कृपा होना स्वाभाविक था। शिष्य ने भी अपनी गाढ़ गुरुभक्ति का परिचय देकर अपनी योग्यता अच्छी तरह से अभिव्यक्त की। एक दिन की घटना है कि सनन्दन किसी कार्य के लिये अलकनन्दा के उस पार गये हुए थे। दूर पर नदी को पार करने के लिये एक पुल था। परन्तु इसे पार कर उस पार जाना विलम्ब-कारक था। आचार्य अपने शिष्यों के साथ बैठे हुये थे। सामने वेगवती अलकनन्दा का प्रवाह बड़े ज़ोरों से बह रहा था। उसी समय आचार्य ने करुणस्वर में सनन्दन का नाम लेकर ज़ोरों से पुकारा। सनन्दन अपने गुरु के शब्दों को पहचानते थे ही। उन्होंने समझा कि गुरु पर कोई आपत्ति आई है। पुल से पार करने में देर लगती। अतः उन्होंने सामने अलकनन्दा के जल में प्रवेश किया। गुरु के प्रति इस निष्कपट प्रेमभाव से प्रसन्न होकर नदी ने उन स्थानों पर कमल उगा दिए जहाँ सनन्दन ने अपने पैर रक्खे थे। शिष्य को भी इस घटना का पता नहीं चला। आचार्य के पास पहुँच कर उन्होंने उनकी आज्ञा चाही। शंकर बड़े प्रसन्न हुये और शिष्यमण्डली के सामने सनन्दन की भूरि प्रशंसा की और उसी दिन से उनका नाम "पद्मपाद" रख दिया। आगे चलकर सनन्दन इसी नाम से सर्वत्र विख्यात हुए।

सनन्दन की गुरुभक्ति

व्यासगुहा में भाष्यरचना का कार्य समाप्त कर शंकर ने हिमालय के अन्य तीर्थों का दर्शन दिया। क्रमशः वे **केदारनाथ** के पास पहुँचे। केदार एक त्रिकोणाकृति क्षेत्र है। बदरीक्षेत्र की अपेक्षा यह स्थान अधिक ठंढा और निर्जन है। भगवान् केदारेश्वर इस क्षेत्र के प्रधान देवता हैं। इसके बाद स्वर्गारोहण पर्वत है। इसी स्थान से पाण्डवों ने महाप्रस्थान किया था। आचार्य शिष्यमण्डली के साथ यहाँ रहने लगे। परन्तु भयंकर सर्दी के कारण शिष्य लोग बेचैन हो उठे। तब आचार्य ने योगदृष्टि से ही उस स्थान का पता लगाया जहाँ गरम जल की धारा प्रवाहित होती थी। इस तप्तकुण्ड के मिल जाने से शिष्यों को बड़ा संतोष हुआ।[1] शंकर ने यहीं से गंगोत्री के दर्शन के लिये प्रस्थान किया। 'उत्तर काशी' में रहते समय आचार्य कुछ अन्मनस्क से थे। उनका सोलहवाँ वर्ष बीत रहा था और ज्योतिषियों के फलानुसार उन्हें उस वर्ष मृत्युयोग की आशंका थी। परन्तु एक विचित्र घटना ने इस मृत्युयोग को भी नष्ट कर दिया।

१—स्नातुमुष्णोदकसरस्तत्र तुष्टो ददौ मुदा।
अद्यापि तत् सरस्तत्र विद्यते विष्णुसन्निधौ।
शं॰ वि॰ वि॰ ३१।११

घटना इस प्रकार हुई। उन दिनों आचार्य शङ्कर 'उत्तर काशी' में विराजते थे, और अपने शिष्यों को ब्रह्मसूत्र-भाष्य पढ़ाया करते थे। प्रात:-

व्यासदर्शन

काल एक दिन एक कृष्णकाय ब्राह्मण वहाँ आकर उपस्थित हुआ और उसने शंकर से पूछा कि तुम कौन हो और क्या पढ़ा रहे हो? विद्यार्थियों ने उत्तर दिया कि ये समस्त उपनिषदों के मर्मज्ञ हमारे गुरु हैं, जिन्होंने द्वैतमत के निराकरण के लिये ब्रह्मसूत्रों के ऊपर अद्वैतपरक भाष्य लिखा है। इस पर उस ब्राह्मण ने बड़ा आश्चर्य प्रकट किया और बोल उठा—भला, इस कलियुग में ऐसा कौन पुरुष है जो बादरायण व्यास के सूत्रों का मर्म भलीभाँति जानता हो। मैं तो ऐसे व्यक्ति की खोज में हूं। यदि तुम्हारे गुरु ब्रह्मसूत्र के सचमुच ज्ञाता हैं तो कृपया एक सूत्र के अर्थ के विषय में मेरे हृदय में जो संदेह उत्पन्न हुआ है उसका निराकरण कर मुझे सन्तुष्ट करें। शिष्यों ने अपने गुरु से इस ब्राह्मण के आगमन की सूचना दी। शङ्कर ने उस तेजस्वी ब्राह्मण को देखा और अपनी नम्रता प्रकट करते हुए बोले—मैं सूत्र के अर्थ जानने वाले विद्वानों को नमस्कार करता हूँ। मैं इन गूढ़ सूत्रों के अर्थ जानने का अभिमान नहीं करता, तथापि जो आप मुझसे पूछेंगे तो मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उसका समाधान अवश्य करूंगा।

इस पर ब्राह्मण ने ब्रह्मसूत्र के अन्तर्गत तीसरे अध्याय प्रथमपाद के प्रथम सूत्र की व्याख्या पूछी। वह सूत्र यों है[1]—

तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सपरिष्वक्तः प्रश्न निरूपणाभ्याम्। शङ्कर ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा कि इस शरीर के अवसन्न हो जाने पर अर्थात् मृत्यु हो जाने के बाद जब जीव दूसरे देह की प्राप्ति करता है, तब वह पञ्चभूतों के सूक्ष्म अवयवों से युक्त होकर ही दूसरे स्थान पर जाता है। इस विषय में उपनिषद् का प्रमाण स्पष्ट है। छान्दोग्य उपनिषद् (५। ३। ३) में जेवलि और गौतम के कथनोपकथन के द्वारा इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। प्रश्न है—पांचवीं आहुति में जल को पुरुष क्यों कहते हैं? उत्तर है—आकाश, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष तथा स्त्री रूपी पाँच अग्नियों में क्रमशः श्रद्धा, सोम, वृष्टि अन्न तथा वीर्य रूपी पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, और इस प्रकार जल को, अर्थात् देह के उत्पादक पञ्चभूतों के सूक्ष्म अवयवों को पुरुष कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जीव आकाश आदि पाच भूतों के सूक्ष्म अंशों से आवृत हो कर ही एक देह से दूसरे देह में जाता है।

शङ्कर की यह व्याख्या सुन कर उस ब्राह्मण ने सैकड़ों शंकायें उपस्थित कीं, और शङ्कर ने सैकड़ों प्रकार से उन शंकाओं का निराकरण किया। यह शास्त्रार्थ लगातार सात दिनों तक होता रहा। वह ब्राह्मण सूत्र के विषय में जितना सन्देह

---

१ सूत्र का अर्थ—अन्य देह की प्राप्ति में देह के बीजभूत भूतसूक्ष्मों से परिवेष्टित होकर जीव धूमादि-मार्ग द्वारा स्वर्गलोक में गमन करता है। यह प्रश्न और निरूपण से सिद्ध है। प्रश्न है—'पाँचवीं आहुति में जल पुरुषसंज्ञक होता है, क्या तू इसे जानता है' (छा० ५। ३। ३) निरूपण इसे सिद्ध करता है (छा० ५। ६। १)

करता, उनका खण्डन आचार्य शङ्कर उतनी ही दृढ़ता से करते जाते थे। इस तुमुल शास्त्रार्थ को देखकर शिष्यमण्डली चकित हो उठी। ब्राह्मण की विलक्षण प्रतिभा देख पद्मपाद के हृदय में सन्देह उत्पन्न हुआ कि यह विचक्षण सम्भवतः स्वयं महर्षि वेदव्यास ही हैं। संशय निश्चय के रूप में परिणत हो गया, जब दूसरे दिन आचार्य की प्रार्थना पर वेदव्यास ने अपना भव्य रूप दिखलाया। वेदव्यास ने आचार्य की प्रार्थना पर उनकी भाष्यरचना देखी और अपने अभिप्राय का यथार्थ निरूपण करने के कारण उन्हें खूब आशीर्वाद दिया। शङ्कर के मृत्युयोग को टाल कर व्यास ने सोलह वर्ष की आयु और प्रदान की। व्यास जी ने अद्वैत तत्त्व के प्रचुर प्रचार के लिए उस समय के प्रसिद्ध पण्डित कुमारिल-भट्ट को अपने मत में लाने के लिए शङ्कर से कहा। तदनन्तर वे अन्तर्धान हो गए।

शङ्कर ने तीर्थयात्रियों के मुख से सुना कि इस समय कुमारिल प्रयाग में त्रिवेणीतट पर विराजमान हैं। अतः उनसे भेंट करने के लिये शङ्कर अपनी शिष्यमण्डली के साथ चल पड़े, और सम्भवतः यमुना के किनारे किनारे होकर प्रयाग पहुँचे। उस युग के वेदमार्ग के उद्धारक तथा प्रतिष्ठापक दो महापुरुषों का अलौकिक समागम त्रिवेणी के पवित्र तट पर सम्पन्न हुआ।

सप्तम परिच्छेद

कुमारिल-प्रसङ्ग

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में आचार्य शंकर और कुमारिल भट्ट के परस्पर मिलने की घटना अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। कुमारिल और शंकर दोनों अपने समय के युगान्तर उपस्थित करने वाले महापुरुष थे। इन दोनों महापुरुषों का मिलना वैदिक धर्म के इतिहास के लिये जितना महत्त्वपूर्ण है उससे कम बौद्ध धर्म के इतिहास के लिये नहीं है। कुमारिल ने अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रंथों के द्वारा नास्तिक बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा आर्यधर्म के कर्मकाण्ड के ऊपर किये गये आक्षेपों का मुँहतोड़ उत्तर देकर उसकी इस देश में पुनः प्रतिष्ठा की। आचार्य शंकर ने भी वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड के ऊपर बौद्धों तथा जैनो के खण्डनों का उत्तर देकर अपने विपक्षियों को परास्त कर इसका पुन. मण्डन किया। इस प्रकार इन दोनों मनीषियों को ही वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की पुन: स्थापना का श्रेय प्राप्त है। जब कि देश में नास्तिक बौद्धों के द्वारा वैदिक धर्म की खिल्ली उड़ाई जा रही थी, जब यज्ञ यागादिक पाप ठहराये जा रहे थे, ऐसे समय में इन दोनों युगान्तरकारियों ने अपनी प्रतिभा तथा विद्वत्ता से वैदिक धर्म की रक्षा की थी। इससे इन दोनों महापुरुषों के मिलन के महत्त्व का सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। परन्तु इस महत्त्व को समझने के लिये कुमारिल भट्ट की विद्वत्ता, प्रतिभा, उनका व्यक्तित्व तथा जीवनवृत्त जानना अत्यन्त आवश्यक है। अतः पाठकों का ध्यान हम कुमारिल के वृत्त, विद्वत्ता तथा व्यक्तित्व की ओर खींचना अत्यन्त उचित समझते हैं।

कुमारिल की जन्मभूमि

कुमारिल भट्ट ने भारत के किस प्रान्त को अपने जन्म से गौरवान्वित किया था? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर साधनों के अभाव के कारण भली भाँति नहीं दिया जा सकता। भारतीय पण्डितों में इस विषय में अनेक *किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। इनके जन्मस्थान* के विषय में तिब्बत में भी एक जनश्रुति प्रसिद्ध है। तिब्बत के ख्यातनामा ऐतिहासिक तारानाथ के कथनानुसार ये बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति के पितृव्य थे जो दक्षिण भारत के चूड़ामणि राज्य के अन्तर्गत त्रिमलय नामक स्थान में उत्पन्न हुये थे[1]। वर्तमान काल में इन दोनों स्थानों की स्थिति के विषय में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। बहुत संभव है कि यह चूड़ामणि राज्य चोल देश का ही दूसरा नाम हो। यदि कुमारिल सचमुच धर्मकीर्ति के पितृव्य होते तो

१-कुमारिल विषयक जनश्रुति का उल्लेख केवल तारानाथ ने ही अपने 'चोस-ब्युङ' नामक ग्रन्थ में नहीं किया है। इसका पुनरुल्लेख अन्य तिब्बतीय ग्रंथों में भी मिलता है। देखिये डा० विद्याभूषण— History of Indian Logic P. 305

हम उन्हें दक्षिण भारत के निवासी मानने में आपत्ति नहीं करते। परन्तु इस विषय में भारतीय परम्परा बिल्कुल मौन है। भारतीय परम्परा के अनुसार ठीक इससे विपरीत बात सिद्ध होती है। आनन्दगिरि ने शंकर-दिग्विजय में लिखा है कि भट्टाचार्य (कुमारिल) ने उदग् देश (उत्तर भारत) से आकर दुष्ट मतावलम्बी जैनों तथा बौद्धों को परास्त किया[1]। उदग् देश काश्मीर और पंजाब समझा जाता है। विशिष्ट प्रान्तों के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते, परन्तु इस उल्लेख से कुमारिल उत्तर भारत के ही निवासी प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, मीमांसक श्रेष्ठ शालिकनाथ ने इनका उल्लेख "वार्तिककार मिश्र" के नाम से किया है। 'मिश्र' की यह उपाधि—उत्तरी भारत के ब्राह्मणों के नाम से ही संबद्ध दिखलाई पड़ती है। शालिकनाथ स्वयं मीमांसक थे और कुमारिल के बाद ३०० वर्ष के भीतर ही उत्पन्न हुये थे। अतः उनका कथन इस विषय में विशेष महत्त्व रखता है। इसलिये कुमारिल को उत्तर भारत का ही निवासी मानना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। मिथिला देश में यह जनश्रुति है कि कुमारिल मैथिल ब्राह्मण थे। यह संभव है, परन्तु इस कथन की पुष्टि के लिये प्रमाणों का अत्यन्त अभाव है।

कुमारिल और धर्मकीर्ति

कुमारिल भट्ट की जीवन की घटनाओं का विशेष रूप से परिचय नहीं मिलता। तारानाथ के उल्लेख से केवल इतना ही पता चलता है कि ये गृहस्थ थे—साधारण गृहस्थ नहीं बल्कि धन, धान्य से सम्पन्न समृद्ध गृहस्थ थे। इनके पास धान के अनेक खेत थे। इनके पास ५०० दास थे और ५०० दासियाँ थीं। चूडामणि देश के राजा के यहां इनकी मान-मर्यादा अत्यधिक थी। इनके जीवन की अन्य बातों का तो पता नहीं चलता परंतु बौद्धदर्शन के विख्यात आचार्य धर्मकीर्ति के साथ इनके शास्त्रार्थ करने तथा उनके हाथ पराजित होकर बौद्ध धर्म स्वीकार करने की घटना का वर्णन तारानाथ ने बड़े विस्तार के साथ किया है। धर्मकीर्ति त्रिमलय के निवासी ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम 'कोरुनन्द' बतलाया जाता है। ये थे तो ब्राह्मण परन्तु स्वभाव से बड़े ही उद्धत थे और वैदिक धर्म के प्रति नितान्त श्रद्धाहीन थे। बौद्धों के उपदेशों को सुनकर उनके हृदय में बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा जाग उठी। घर छोड़ कर ये मध्यदेश में चले आये और नालन्दा विश्वविद्यालय के पीठस्थविर (प्रिन्सिपल) धर्मपाल के पास रहकर समस्त बौद्ध शास्त्रों का—विशेषतः न्याय शास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया। अब ब्राह्मण-दर्शन के रहस्य को जानने के लिये इनकी इच्छा प्रबल हो उठी और उस समय कुमारिल से बढ़कर वैदिक दर्शन का ज्ञाता कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था जिससे जाकर ये इस शास्त्र का अध्ययन करते। अतः इन्होंने निश्चय किया कि इन्हीं से ब्राह्मण-दर्शन का अध्ययन करूँगा परन्तु कुमारिल किसी बौद्ध को क्यों यह दर्शन पढ़ाते? अपनी इसी उत्कट इच्छा की पूर्ति के लिये ये कुमारिल के पास जाकर परिचारक का वेश धारण कर उनके घर में रहने लगे।

१—भट्टाचार्यो द्विजवरः कश्चित्, उदग् देशात् समागत्य दुष्टमतावलम्बिनो बौद्धान् जैनान् असंख्यातान् निर्जित्य निर्भयो वर्तते। शंकर-विजय, पृ० १८०

ये सेवा का कार्य बड़े प्रेम से करते थे तथा इतना अधिक काम करते थे जितना पचास आदमी भी करने में असमर्थ थे। इनकी इन सेवाओं से कुमारिल भट्ट अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने अपनी स्त्री के कहने पर इन्हें ब्राह्मण विद्यार्थियों के साथ बैठ कर दर्शन शास्त्र का पाठ सुनने की आज्ञा दे दी। तीव्रबुद्धि धर्मकीर्ति ने बहुत शीघ्र वैदिक-दर्शन के रहस्यों में प्रवीणता प्राप्त कर ली। तब इन्होंने अपने असली स्वरूप का परिचय दिया और वहाँ के ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। कणाद गुप्त नामक एक वैशेषिक आचार्य तथा अन्य ब्राह्मण दार्शनिकों को शास्त्रार्थ में परास्त किया। अन्त में भट्ट कुमारिल की बारी आई। इनका धर्मकीर्ति के साथ गहरा शास्त्रार्थ हुआ और इस विवाद में गुरु कुमारिल परास्त हो गये। इसके पश्चात् फलतः अपने ५०० शिष्यों के साथ इन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया[1]।

कुमारिल की बौद्ध-धर्म दीक्षा

तिब्बतीय जनश्रुति के आधार पर इस उपर्युक्त घटना का वर्णन किया गया है। परन्तु इसकी पुष्टि भारतीय ग्रन्थों से नहीं होती। इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि कुमारिल ने बौद्धदर्शन के यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये बौद्ध भिक्षु बन कर किसी बौद्ध आचार्य के पास कुछ दिनों तक बौद्ध शास्त्र का अध्ययन किया था। शंकराचार्य से अपनी आत्मकथा कहते समय कुमारिल ने स्वयं इस घटना को स्वीकार किया है। उस समय कुमारिल ने कहा है कि "किसी भी शास्त्र का तब तक खण्डन नहीं हो सकता जब तक उसके रहस्यों का पूर्ण परिचय नहीं होता। मुझे बौद्ध धर्म की धज्जियाँ उड़ानी थीं अतः मैंने बौद्ध धर्म के खण्डन करने से पूर्व उसके अनुशीलन करने का उद्योग किया। नम्र होकर मैं बौद्धों की शरण में आया और उनके सिद्धान्तों को पढ़ने लगा[2]।"

धर्मपाल और कुमारिल

कुमारिल ने बौद्ध धर्म का अध्ययन किस आचार्य के पास किया यह कहना कठिन है। माधव ने अपने 'शंकरदिग्विजय' (७।६४) में उस बौद्धाचार्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु बौद्ध दर्शन के इतिहास के अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि उस समय धर्मपाल (६००-६३५ ई०) नामक बौद्ध आचार्य की कीर्ति चारों ओर फैली हुई थी। ये बौद्ध-धर्म के प्रधान पीठ नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे। वे स्वयं विज्ञान-वादी थे परन्तु उन्होंने योगाचार और शून्यवाद उभयमतों के विख्यात सिद्धान्त-ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण टीकायें लिखीं। इनकी 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-व्याख्या' नामक रचना वसुबन्धु की 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' की टीका है तथा इनका "शतशास्त्र वैपुल्य भाष्य" आर्यदेव के प्रसिद्ध शून्यवादी ग्रंथ 'शतशास्त्र' का पाण्डित्यपूर्ण भाष्य है। अतः यह अनुमान निराधार नहीं माना जा सकता कि भट्ट कुमारिल ने इन्हीं बौद्धाचार्य आचार्य धर्मपाल से बौद्ध-दर्शन का अध्ययन किया।

---

[1] Dr. Vidyabhushan-History of Indian Logic—pp. 303-306

[2] अवादिषं वेदविघातदक्षैः, तावाशकं जेतुमबुध्यमानः।
तदीयसिद्धान्तरहस्यवार्धीन्, निषेध्यबोधाद्धि निषेध्यबाधः॥ माधव—शंकरदिग्विजय ७।९३

एक दिन की बात थी कि धर्मपाल नालन्दा महाविहार के विशाल प्राङ्गण में बैठकर अपने शिष्यों के सामने बौद्ध धर्म की व्याख्या बड़े अभिनिवेश से कर रहे थे। प्रसङ्गवश उन्होंने वेदों की भी बड़ी निन्दा की। इस निन्दा को सुनकर वैदिक धर्म के पक्षपाती कुमारिल की आँखों से अश्रुपात होने लगा। पास बैठने वाले एक भिक्षु ने इस घटना को देखा और धर्मपाल का ध्यान इधर आकृष्ट किया[१]। आचार्य धर्मपाल इस घटना को देखकर अवाक् रह गये—बौद्ध भिक्षु के नेत्रों से वेदों की निन्दा सुनकर आँसुओं की झड़ी! आश्चर्य भरे शब्दों में उन्होंने पूछा कि, "तुम्हारे नेत्रों से अश्रुपात होने का क्या कारण है? क्या मैंने वेदों की जो निन्दा की है वही हेतु तो नहीं है?" कुमारिल ने कहा कि, "मेरे अश्रुपात का यही कारण है कि आप बिना वेदों के गूढ़ रहस्यों को जाने इनकी मनमानी निन्दा कर रहे हैं।" इस घटना ने कुमारिल के सच्चे स्वरूप को सबके सामने अभिव्यक्त कर दिया। धर्मपाल इस घटना से नितान्त रुष्ट हुये और उन्होंने इनको वहाँ से हटाने की आज्ञा दी। परन्तु दुष्ट विद्यार्थियों ने इनको विपक्षी ब्राह्मण समझकर नालन्दा विहार के ऊँचे शिखर से नीचे गिरा दिया[२]। आस्तिक कुमारिल ने अपने को नितान्त असहाय पाकर वेदों की शरण ली और गिरते समय ऊँचे स्वर से घोषित किया कि ये यदि प्रमाण हैं तो मेरे शरीर का बाल भी बाँका न होगा:—

एक घटना

पतन् पतन् सौधतलान्यरोरुहं, यदि प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति।
जीवेयमस्मिन् पतितोऽसमस्थले, मज्जीवने तत्श्रुतिमानता गतिः॥ शं० दि० ७।६८

उपस्थित जनता ने आश्चर्य से देखा कि कुमारिल का ऊँची अटारी से गिरने पर भी शरीर नितान्त अक्षत रहा। वेद भगवान् ने उनकी रक्षा की। वेद की प्रामाणिकता में "यदि" पद के द्वारा सन्देह प्रकट करने के कारण कुमारिल की एक आँख फूट गई[३]। इस बार कुमारिल ने वेद-प्रमाण का निर्णय करने के लिये धर्मपाल को चुनौती दी। कहा जाता है कि बौद्ध आचार्य धर्मपाल परास्त हो गये और पूर्व प्रतिज्ञानुसार उन्होंने (धर्मपाल) अपने शरीर को तुषानल (भूसे की आग) में जला डाला। इस घटना से वैदिक धर्म के आगे बौद्ध धर्म ने पराजय स्वीकार कर लिया तथा कुमारिल की विजय वैजयन्ती सर्वत्र फहराने लगी।

---

१ तदा तदीयं शरणं प्रपन्न, सिद्धान्तमश्रौषमनुद्धतात्मा।
अदूदुषत् वैदिकमेव मार्गं, तथागतो जातु कुशाग्रबुद्धिः॥
तदाऽपतत् मे सहसाश्रुबिन्दुः, तच्चाविदुः पार्श्वनिवासिनोऽन्ये।
तदा प्रभृत्येव विवेश शङ्का, मय्याप्तभाव परिहृत्य तेषाम्॥ माधव—शं० दि० ७।६४-६५

२ विपक्षपाठी बलवान् द्विजाति, प्रत्याददत् दर्शनमस्मदीयम्।
उच्चाटनीयः कथमप्युपायैः, नैतादृशः स्थापयितुं हि योग्यः॥
समन्त्र्य चेत्थं कृतनिश्चयास्ते, ये चापरेऽहिंसनवादशीला।
व्यपातयन् उच्चतरात् प्रमत्तं, माममसौधात् विनिपातभीरुम्॥ शं० दि० ७।६६।६७

३ यदीह सन्देह पदप्रयोगाद्, व्याजेन शास्त्रश्रवणाच्च हेतोः।
ममोच्चदेशात् पततो व्यनङ्क्षीत्, तदेकचक्षुर्विधिकल्पना सा॥ शं० दि० ७।६६

कुमारिल ने बौद्धधर्म तथा दर्शन के गम्भीर अध्ययन के लिये कुछ समय के लिये बौद्ध बनना स्वीकार कर लिया होगा इस सिद्धान्त को मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती। कुमारिल का बौद्धदर्शन का ज्ञान जितना गम्भीर और परिनिष्ठित है उतना अन्य ब्राह्मण दार्शनिकों का नहीं। इनकी पहुँच केवल संस्कृत में लिखे गये बौद्ध-दर्शन तक ही सीमित नहीं थी प्रत्युत इन्होंने पाली—में बौद्ध-दर्शन (पाली बुद्धिजम) का भी गाढ़ अध्ययन किया था। सत्य तो यह है कि शंकराचार्य से भी इनका बौद्धदर्शनों का ज्ञान अधिक था परन्तु ज्ञान तभी संभव है जब इन्होंने किसी बौद्ध आचार्य के पास जाकर शिक्षा ग्रहण की हो। अतः इससे ज्ञात होता है कि बौद्ध दर्शन के अध्ययन के लिये इन्होंने कुछ काल के लिये बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया होगा क्योंकि बिना ऐसा किये भला कोई बौद्ध आचार्य इन्हें क्यों पढ़ाता? इस कथन की पुष्टि बौद्ध ग्रन्थों से ही नहीं होती प्रत्युत माधव कृत शंकर दिग्विजय (७ सप्तम सर्ग) तथा 'मणिमंजरी'[1] जैसे ब्राह्मण ग्रंथों से भी होती है।

कुमारिल को ब्राह्मणदर्शन का अगाध ज्ञान तो था ही, धर्मपाल के पास रह कर उन्होंने बौद्धदर्शन में भी प्रवीणता प्राप्त कर ली। इस प्रकार अपने तथा विपक्षी के दोनों दर्शनों में पारंगत होकर, अपनी विद्वत्ता में अटूट विश्वास रखकर आचार्य कुमारिल दिग्विजय के लिये निकल पड़े। पहिले वे उत्तरी भारत के पण्डितों को परास्त करने के लिये निकले तथा सब को अपनी विद्वत्ता का लोहा मनवा कर दक्षिण भारत की ओर चल पड़े। दक्षिण भारत के कर्णाटक देश में सुधन्वा नामक बड़े प्रसिद्ध राजा उस समय राज करते थे। वे एक बड़े न्यायपरायण राजा थे। इनकी नगरी का नाम उज्जैनी था जिसकी स्थिति का पता आजकल बिल्कुल नहीं चलता। ये वैदिक मार्ग पर चलने वाले श्रद्धालु राजा थे परन्तु जैनियों के पञ्जे में पड़ कर वे जैन धर्म में आस्था रखने लगे थे। दिग्विजय करते समय कुमारिल कर्णाटक देश में आये और राजा सुधन्वा के दरबार में गये।

भट्ट कुमारिल और राजा सुधन्वा

उस समय कर्णाटक देश में बौद्धधर्म तथा जैनधर्म का बड़ा बोलबाला था। ज्ञान का भण्डार वेद कूड़ेखाने में फेंका जाने लगा और वेद के रक्षक ब्राह्मणों की निन्दा होने लगी। देश का राजा सुधन्वा ही जैनमत के प्रति श्रद्धालु था। पर उसकी रानी अभी तक वेद का पल्ला थामे हुई थी। एक दिन वह अपने राज-भवन की खिड़की में बैठी चिन्ता कर रही थी—

किं करोमि क गच्छामि को वेदान् उद्धरिष्यति।

क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और वेदों का उद्धार कौन करेगा? कुमारिल भट्ट उसी रास्ते से जा रहे थे। उन्होंने यह दीनता भरी पुकार सुनी। वहीं खड़े हो गये। वहीं उन्होंने ऊंचे स्वर में कहा—

मा विषीद वरारोहे भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।

हे रानी चिन्ता मत कीजिये। मैं भट्टाचार्य इसी पृथ्वी पर वर्तमान हूँ। मैं वेदों का उद्धार करूँगा और आप की चिन्ता दूर कर दूँगा। कुमारिल ने अपने कार्यों से सचमुच सुधन्वा की रानी की चिन्ता को सदा के लिये दूर कर दी।

---

[1] मणिमञ्जरी सर्ग ५, श्लोक १-४१

पाली से भी उनका परिचय था। कुमारिल के समय में महायान सम्प्रदाय का बोलबाला था जिनके धर्मग्रंथों की भाषा संस्कृत है। जान पड़ता है कि हीनयान मत के सिद्धान्तों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने के लिये ही इन्होंने पाली का अध्ययन किया था। इतनी विभिन्न भाषाओं की जानकारी रखना सचमुच ही बड़ी प्रतिभा का काम है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुमारिल भट्ट बहुभाषाविज्ञ पण्डित थे।

कुमारिल के शास्त्रज्ञान की चर्चा करना अनावश्यक सा प्रतीत होता है। इतने व्यापक पाण्डित्य का, विविध दर्शनों के इतने गाढ़ अध्ययन का अन्यत्र मिलना दुर्लभ सा दीख पड़ता है। इनका तन्त्रवार्तिक वैदिकधर्म तथा दर्शन के लिये एक प्रामाणिक विश्वकोष है जिसमें वैदिक आचार के तत्त्वों का प्रतिपादन, शास्त्र तथा युक्ति के सहारे, इतनी सुन्दरता के साथ किया गया है कि उनकी अलौकिक वैदुषी को देखकर आश्चर्य से चकित होना पड़ता है। श्लोकवार्तिक में इन्होंने अन्य दार्शनिकों के मतों के खण्डन के लिये युक्तियों का एक विराट स्तूप खड़ा कर दिया है। शब्द की नित्यता तथा वेदों की अपौरुषेयता आदि मीमांसा-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में इन्होंने बड़ी तर्ककुशलता का परिचय दिया है। परन्तु सबसे विलक्षण तथा विचित्र बात है बौद्धदर्शन का इनका गहरा अनुशीलन। शंकराचार्य का बौद्धदर्शन विषयक ज्ञान कुछ कम नहीं था, परन्तु कुमारिल के साथ तुलना करने पर यही जान पड़ता है कि इनका बौद्धदर्शन का ज्ञान शंकर से अधिक परिनिष्ठित, व्यापक, मौलिक तथा गम्भीर था। इस विषय में एक यह भी कारण है कि कुमारिल ने बौद्धदर्शन का ज्ञान साक्षात् बौद्ध आचार्यों से प्राप्त किया था (जैसा सप्रमाण पहिले दिखलाया जा चुका है) (ग्रन्थों के अध्ययन मात्र से नहीं)। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि इन्होंने मूल बौद्धधर्म की जानकारी प्राप्त करने के लिए पाली का अध्ययन किया था। इनके समय में अष्टम शताब्दी में पाली पठन पाठन की भाषा नहीं थी, उसकी परम्परा नष्ट हो चुकी थी। फिर भी उसी युग में उसका अध्ययन कर मूल पाली त्रिपिटकों का परिचय प्राप्त करना कुमारिल के महान् गौरव का विषय है। तन्त्रवार्तिक में इन्होंने बौद्धों के एक विख्यात सिद्धान्त का उल्लेख किया है कि संस्कृत-धर्म—अर्थात् उत्पन्न पदार्थ कारण से उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनका विनाश बिना किसी कारण के ही सम्पन्न होता है[१]। यह विचित्र सिद्धान्त पाली ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। यह कुमारिल के लिये बड़े ही गौरव की बात है कि इन्होंने इस अवैदिक धर्म का मूल पकड़ कर इसका पर्याप्त खण्डन किया था। इसीलिये इनका काम—वैदिक धर्म का मण्डन तथा अवैदिक धर्म का खण्डन—इतना पुष्ट हुआ कि इनके तथा आचार्य शंकर के पीछे बौद्ध धर्म अपना सिर उठाने में समर्थ नहीं हुआ, वह पूर्वी भारत के एक कोने में किसी प्रकार सिसकता हुआ

१ अणुभवे कारणं इमे सङ्खतधम्मा सम्भवन्ति सकारणा, अकारणा विणस्सन्ति अणुप्पत्ति कारणम्।

अपना दिन गिनता रहा और अन्त में उसे भारत की भूमि छोड़ देने पर ही शान्ति मिली। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान तथा पुनः प्रतिष्ठा के लिये हम आचार्य कुमारिल के चिर ऋणी हैं। बौद्धों का वैदिक कर्मकाण्ड के खण्डन के प्रति महान् अभिनिवेश था। कुमारिल ने इस अभिनिवेश को दूर कर वैदिक कर्मकाण्ड को दृढ़ भित्ति पर स्थापित किया तथा वह परम्परा चलाई जो आज भी अक्षुण्ण रीति से विद्यमान है। सच तो यह है कि इन्होंने ही शंकराचार्य के लिये वैदिक धर्म प्रचार का क्षेत्र तैयार किया। आचार्य शंकर की इस अव्याहत सफलता का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं आचार्य कुमारिल भट्ट को प्राप्त है।

कुमारिल के शिष्य

कुमारिल के अनेक विद्वान् शिष्य हुये जिन्होंने मीमांसा शास्त्र का विशेष प्रचार कर भारतवर्ष में धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इन में तीन मुख्य हैं—(१) प्रभाकर (२) मण्डन मिश्र (३) उम्बेक (अथवा भवभूति)। प्रभाकर ने मीमांसा शास्त्र में नवीन मत को जन्म दिया है जो 'गुरु-मत' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध है कि ये भट्ट कुमारिल के पट्ट शिष्य थे जिन्होंने इनकी अलौकिक कल्पनाशक्ति से मुग्ध होकर इन्हें 'गुरु' की उपाधि दी। तब से इनके मत का उल्लेख 'गुरु' के नाम से किया जाता है। आजकल के संशोधकों को इस परम्परा में विशेष सन्देह है। उन्होंने प्रभाकर और कुमारिल के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रभाकर कुमारिल से प्राचीन हैं। अतः इनके समय-निरुपण में मतभेद है। भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रभाकर वह जाज्वल्यमान रत्न हैं जिनके व्याख्यान-कौशल और बुद्धि-वैभव की चमक ने विपश्चितों को चमत्कृत कर दिया है। अपने स्वतन्त्र मत की प्रतिष्ठा के लिए इन्होंने शाबरभाष्य पर दो टीकायें निर्मित की हैं—(१) बृहती या निबन्धन जो प्रकाशित हुई है। (२) लघ्वी या विवरण जो अभी तक अप्रकाशित है। प्रभाकर की व्याख्यायें उदारतापूर्ण हैं जो किसी कारण सर्वसाधारण में मान्य न हो सकीं। अतः इस मत के ग्रन्थों की संख्या अत्यन्त अल्प है। ग्रन्थ भी अप्रकाशित हैं[1]।

(२) मण्डन मिश्र इनके दूसरे प्रधान शिष्य थे। शङ्कर से इनका शास्त्रार्थ हुआ था। अतः इनका वर्णन अगले परिच्छेद में विस्तार के साथ किया जायेगा।

(३) उम्बेक ही का नाम भवभूति था। इस विषय में नई बातों की विशेष खोज हुई है। आवश्यक समझ कर इन मतों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

अब सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि भवभूति प्रख्यात मीमांसक कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डित को मालती-माधव की एक प्राचीन हस्त-लिखित प्रति मिली थी जिसके तृतीय अंक के अन्त में यह प्रकरण 'कुमारिलशिष्य' के द्वारा विरचित बतलाया गया तथा षष्ठ अंक के अन्त में कुमारिल के प्रसाद

---

१ गुरु मत के इतिहास तथा सिद्धान्त के लिए देखिए लेखक का—'भारतीय दर्शन' चतुर्थ संस्करण पृ० ३७४—७६.

से वाग्वैभव को प्राप्त करने वाले उम्वेकाचाय की कृति कहा गया है। इससे जान पड़ता है कि भवभूति का ही एक नाम 'उम्वेक' था। उम्वेक मीमांसा शास्त्र के बड़े भारी आचार्य थे। इनके मत तथा ग्रन्थ का उल्लेख कितने ही प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में पाया जाता है।

'प्रत्यमूप भगवान्' अथवा प्रत्यकृत्स्वरूप भगवान्[1] नामक ग्रंथकार ने चित्सुखाचार्य्य की 'तत्त्वप्रदीपिका' की नयन-प्रसादिनी नामक टीका में 'उम्वेक' का नाम कई स्थानों में लिया है। चित्सुखी में एक स्थल पर 'अविनाभाव' (व्याप्ति) के लक्षण का खण्डन किया है। प्रत्यमूप भगवान् ने, चित्सुखी के इस स्थल पर टीका लिखते समय उम्वेक की टीका का उल्लेख किया है[2], जिसे उम्वेक ने कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक (पृ० ३४८) की 'सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्ग धर्मस्य लिङ्गिना' पंक्ति पर की है[3]। 'उक्तं चैतदुम्वेकेन' आदि चित्सुखी के मूल[4] की व्याख्या लिखते समय टीकाकार ने 'उम्वेक' को महाकवि 'भवभूति' बतलाया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट सूचित होता है कि भवभूति ने कुमारिल के श्लोकवार्तिक पर टीका लिखी थी तथा वे उम्वेक नाम से प्रसिद्ध थे।

श्री हर्ष (बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग) के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'खण्डन खण्ड, खाद्य' की 'विद्यासागरी' नामक टीका के रचयिता 'आनन्दपूर्ण' ने भी 'असती सा न विशेषिका' आदि मूल ग्रन्थ की व्याख्या लिखते समय श्लोकवार्तिक से दो श्लोकों को उद्धृत किया है। टीकाकार ने यह भी सूचना दी है कि 'उम्वेक' ने इन श्लोकों की टीका लिखी है तथा आवश्यक अंश को उद्धृत भी किया है[5]।

१—प्रत्यग्रूप भगवान् अपने समय के एक अच्छे विद्वान् समझे जाते थे। 'प्रत्यक् प्रकाश' नामक कोई संन्यासी इनके पूज्य गुरुदेव थे। इन्होंने 'नयन प्रसादिनी' में अनेक स्थलों पर 'महाविद्या-विडम्बन' के कर्ता वादीन्द्र के नाम तथा मत का उल्लेख किया है। वादीन्द्र सिंघण नाम के राजा के धर्माध्यक्ष थे।: अतएव उनका समय १२३५ ई० के लगभग आता है (देखो महाविद्या विडम्बन की भूमिका पृ० १४ गा० ओ० सीरीज नं० १२)। प्रत्यग्रूप भगवान् रचित इण्डिया आफिस में सुरक्षित हस्त-लिखित पुस्तकों की १४६० ई० में कापी की गई थी। अतः प्रत्यग्रूप भगवान् का समय १३६०—१४६० ई० के बीच में होगा।

२—उम्वेकस्तु सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना इत्यत्र लिगधर्मस्येति दर्शनात् व्याप्तैक—धर्मो व्यापक—निरूप्यो व्याप्तिः न पुनरुभयनिष्ठा इत्यब्रवीत्। चित्सुखी टीका पृ० २३५ (निर्णय-सागर का संस्करण)।

३—उक्तं चैतदुम्वेकेन 'यदासोऽपि कस्मै चिदुपदिशति न त्वयाऽननुभूतार्थ—विषय प्रयोक्तव्यं यथाहुल्यमे हस्तियूथशतमास्ते। तत्रार्थव्यभिचारः स्फुटः' चित्सुखी पृ० २६५.

४—चित्सुखी (मूल) पृ० २६५ (निर्णयसागर संस्करण)

५—असतीति तदुक्तम्—

सत्तेर्न तु सत्यत्वं सत्यभेदः कुतोऽन्वयम्। सत्या चेत्संवृतिः केयं मृषा चेत् सत्यता कथम्॥
सत्यत्वं न च सामान्यं मृषार्थ-परमार्थयो.। विरोधान्नहि इत्वत्वं सामान्यम् वृक्षसिंहयोः॥
—श्लोक भा० पृ० २१८

तदिदं श्लोकद्वयमुम्वेकेन व्याख्यातं—'नहि संवृतिपरमार्थयोः सत्यत्वं नाम सामान्यं एकत्र विरोधात् अन्यत्र पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। खण्डन खण्ड पृ० ४५ (चौखम्बा सीरीज)'

बोधघनाचार्य ने अपनी पुस्तक 'तत्त्वशुद्धि' के 'भेदाभेद-निराकरण प्रकरण' में निम्नलिखित टिप्पणी की है जिससे उम्बेक के एक प्रबल पक्ष वाले पण्डित होने की बात सिद्ध होती है। बोधघन की टिप्पणी यह है—'अयं तु क्षपणक पक्षादपि पापीयानुम्बेक-पक्ष इत्युपेक्ष्यते' अर्थात् उम्बेक का मत जैनों के मत से भी बुरा है। अतएव उसकी उपेक्षा की गई है।

हरिभद्र सूरि का 'षड्दर्शन समुच्चय'नामक ग्रन्थ संस्कृत जानने वालों के लिये बड़े काम की चीज है, क्योंकि इस छोटे ग्रन्थ में षड्दर्शनों के सिद्धान्त 'कारिका' के रूप में सरलता से समझाये गये हैं। इस ग्रन्थ की टीका गुणरत्न नामक जैन लेखक (१४०६ ई०) ने की है। उसने मीमांसा शास्त्र के अनेक मतों का उल्लेख कर नीचे का श्लोक दिया है :—

ओ (ऊ ?) म्बेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः।

वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवणः॥

ओम्बेक 'कारिका' का अच्छा वेत्ता है। प्रभाकर तन्त्र को जानता है। वामन दोनों का विशेषज्ञ है और रेवण कुछ भी नहीं जानता। इस श्लोक की 'कारिका' से कुमारिल के श्लोकवार्तिक का अभिप्राय समझना चाहिये; क्योंकि प्रत्यग्रूप भगवान् और आनन्दपूर्ण की माननीय सम्मति में उम्बेक ने श्लोकवार्तिक की व्याख्या लिखी थी। अतएव उस व्याख्या की प्रौढ़ता तथा सारगर्भिता के कारण गुणरत्न ने उम्बेक को 'कारिका'—श्लोकवार्तिक—का अच्छा जानने वाला बतलाया है।

पूर्वोक्त उद्धरणों को सम्मिलित करने से यही सिद्धान्त समुचित जान पड़ता है कि महाकवि भवभूति का दूसरा नाम 'उम्बेक'[1] था; ये कुमारिल भट्ट के शिष्य थे, और अपने पूज्य गुरु के 'श्लोकवार्तिक' के ऊपर उन्होंने व्याख्या भी लिखी थी। संस्कृत साहित्य के लिये यह बात बड़े महत्त्व की है। अब तक भवभूति की प्रशंसा एक नाटककार की दृष्टि से ही की जाती थी, परन्तु अब हमें मीमांसक की दृष्टि से भी भवभूति का अध्ययन करना चाहिये। पूर्वोक्त निर्देशों से भवभूति की श्लोकवार्तिक की टीका नितान्त लोकप्रिय जान पड़ती है, परन्तु आजकल उनका नाम भी सुनने में नहीं आता। सम्भवतः पार्थसारथि मिश्र आदि की टीकाओं के प्रचार होने पर उम्बेक की टीका अनादृत होते होते आज एकदम लुप्त हो गयी। भवभूति के मीमांसक होने की बात सर्वथा सत्य है। मण्डन मिश्र के 'भावनाविवेक' पर भी उम्बेक ने टीका लिखी थी। यह टीका काशी से 'सरस्वती भवन सीरीज' में निकली है।

---

[1] यह नाम प्रत्येक ग्रन्थ में कुछ भिन्न ही मिलता है। प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने इसे 'उम्बक' तथा 'उम्वेक' दोनों लिखा है। बोधघन ने उम्बेक, आनन्दपूर्ण ने उवेक तथा गुणरत्न ने,ओम्बेक' लिखा है। मालती माधव की प्रति में 'उम्बेक' मिलता है। इन सबसे 'उम्बेक' शब्द की ही उपयता सिद्ध होती है। लेखक के प्रमाद से अन्य अन्य रूपों की उत्पत्ति सहज में समझी जा सकती है।

कुमारिल और शङ्कराचार्य की भेंट

भट्ट कुमारिल के व्यापक पाण्डित्य से लाभ उठाने के लिये तथा उनके अनुभव का पर्याप्त उपयोग करने के लिये आचार्य शंकर बड़े उत्सुक थे। ब्रह्मसूत्र के ऊपर वे भाष्य की रचना कर चुके थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि कोई विशिष्ट विद्वान् इस भाष्य के ऊपर विस्तृत वार्तिक लिखता। उधर कुमारिल वार्तिक लिखने की कला में सिद्ध हस्त थे। शाबर भाष्य पर दो वार्तिक—श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक—लिखकर उन्होंने अपनी विद्वत्ता की धाक पण्डित-समाज के ऊपर जमा दी थी तथा इसी कारण वे 'वार्तिककार' के नाम से मीमांसा दर्शन के इतिहास में प्रसिद्ध थे। आचार्य शंकर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपनी शिष्यमण्डली के साथ उत्तर काशी से प्रयाग की ओर आये। शिष्यों के साथ वे त्रिवेणी के तट पर पहुँचे[1] परन्तु उन्हें यह जान कर अत्यन्त खेद हुआ है कि जिस विद्वान् से भेंट करने तथा सहायता प्राप्त करने के लिये उन्होंने इतना दुर्गम मार्ग तय किया था वे (कुमारिल) त्रिवेणी के तट पर तुषानल (भूसे की आग) में अपना शरीर जला रहे हैं। इतने बड़े मीमांसक को इस प्रकार शरीरपात करते देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। भेंट करने के लिये शीघ्रता से वे त्रिवेणी के तट पर पहुँच कर क्या देखते हैं कि कुमारिल के शरीर का निचला भाग तुषानल में जल गया है परन्तु उनके मुख के ऊपर वही विलक्षण शान्ति विराजमान है। उनको देखकर ऐसा मालूम होता था कि सुन्दर कमल ओस की बूँदों से ढका हुआ है[2]। उनकी शिष्य-मण्डली चारों ओर से उन्हें घेरे खड़ी थी और उनकी आँखों से गुरु की इस महायात्रा के कारण आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी। वैदिक धर्म के इन दो महान् उद्धारकों का त्रिवेणी के पवित्र तट पर यह अपूर्व सम्मेलन हुआ।

कुमारिल भट्ट ने शंकर का वृत्तान्त पहिले से सुन रक्खा था परन्तु उन्हें अपनी आँखों से देखने का सौभाग्य उन्हें नहीं प्राप्त हुआ था। अकस्मात् शंकर को अपने सामने देखकर वे नितान्त प्रसन्न हुये और शिष्यों से उनकी पूजा करवाई। भिक्षाग्रहण करने पर शंकर ने अपना भाष्य कुमारिल को दिखलाया जिसे देख कर उन्होंने उस ग्रन्थ की बड़ी प्रशंसा की। कुमारिल ने कहा कि ग्रन्थ के आरम्भ में ही अध्यास भाष्य में आठ हजार वार्तिक सुशोभित हो रहे हैं। यदि मैं इस तुषानल में जलने की दीक्षा लिये नहीं रहता तो अवश्य

१—माधव, चिद्विलास तथा सदानन्द ने त्रिवेणी तट को ही शङ्कर और कुमारिल के मिलन का स्थान बतलाया है। परन्तु आनन्दगिरि ने इस स्थान को "रुद्रनगर" माना है। पता नहीं यह स्थान कहाँ है।

द्रष्टव्य—आनन्दगिरि शङ्करविजय पृ० १८०—८१

२ धूमायमानेन तुषानलेन, संदह्यमानेऽपि वपुष्यशेषे।
संदृश्यमानेन मुखेन बाष्प—परीतपद्मभिवमादधानम्॥

शं० दि० ७।७८

इस सुन्दर ग्रन्थ को बनाता[1]। तब शङ्कर ने इस प्रकार शरीरपात करने का कारण पूछा। कुमारिल ने उत्तर दिया—'मैंने दो बड़े पातक किये हैं जिसके परिशोध के लिये मैं यह प्रायश्चित कर रहा हूँ। पहिला पातक है अपने बौद्ध गुरु का तिरस्कार, और दूसरा पातक है जगत् के कर्ता ईश्वर का खण्डन। जिससे मुझे बौद्धों के आगमों के रहस्यों का पता चला उसी गुरु का मैंने वैदिक धर्म के अभ्युत्थान के लिये भरी सभा में पण्डितों के सामने तिरस्कार किया। यही हमारा पहिला पातक है। दूसरा पातक जैमिनीय मत की रक्षा के लिये ईश्वर का खण्डन है जिसे मैंने स्थान-स्थान पर किया है'।

'लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि मीमांसा दर्शन ईश्वर का तिरस्कार करता है परन्तु वस्तुस्थिति ठीक इससे उल्टी है। मीमांसा का प्रधान उद्देश्य है कर्म की प्रधानता दिखलाना। इसी को दिखलाने के लिये मैंने जगत् के कर्ता, कर्म फल के दाता, ईश्वर का खण्डन किया है। परन्तु ईश्वर में मेरी पूरी आस्था है[2]। मेरे पहिले भर्तृमित्र[3] नामक मीमांसक ने विचित्र व्याख्या कर मीमांसा शास्त्र को चार्वाक मत के समान नास्तिक बनाने का अवश्य उद्योग किया था। परन्तु मैंने ही अपने ग्रन्थों के द्वारा मीमांसक को आस्तिक मार्ग में ले जाने का सफल प्रयत्न किया है। परन्तु कर्म की प्रधानता सिद्ध करने के लिये ईश्वर के खण्डन का मैं अपराधी अवश्य हूँ। इन्हीं दोनों अपराधों से मुक्ति पाने के लिये मैं यह प्रायश्चित कर रहा हूँ[4]। आपने भाष्य बनाया है। इसे मैंने सुन रक्खा है उस पर

---

१. अष्टौ सहस्राणि विभान्ति विद्वन्। सद्वार्तिकानां प्रथमेऽत्र भाष्ये।
अहं यदि स्यामगृहीतदीक्षो ध्रुवं विधास्ये सुनिबन्धमस्य॥

शं दि० ७।८३

२ कुमारिल निरीश्वर वादी नहीं थे। इसका एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि उन्होंने अपने श्लोकवार्तिक के आरम्भ में ईश्वर की स्तुति की है:—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्य-चक्षुषे।
श्रेयः प्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे॥ श्लो० वा० १

३ भर्तृमित्र के नाम का उल्लेख श्लोकवार्तिक की टीका में पार्थसारथि मिश्र ने इस प्रकार किया है:—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे नेतुं अयं यत्नो कृतो मया॥

श्लोक वार्तिक १।१०

मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिः अलोकायतैव सती लोकायती कृता। नित्यनिषिद्धयोरिष्टानिष्टफलं नास्ति इत्यादि बह्वपसिद्धान्त परिग्रहेण। टीका

४ तदेवमित्थं सुगतादधीत्य, प्राधान्यं तत्कुलमेव पूर्वम्।
जैमिन्युपज्ञेऽभिनिविष्ट चेताः, शास्त्रं निरास्थं परमेश्वरं च॥

दोषद्वयस्यास्य चिकीर्षुरहंन्; यथोदितां निष्कृतिमाश्रयाशम्।
प्राविक्षमेषा पुनरुक्तभूता; जाता भवत्पादनिरीक्षणेन॥

शं० दि० ७।१०१-१०२

निवासस्थान माना है[1]। यह नगरी आज कल मध्य भारत की इन्दौर रियासत में नर्मदा के किनारे मान्धाता के नाम से प्रसिद्ध है। माहिष्मती नाम की एक छोटी सी नदी भी है जो नर्मदा से इसी स्थान पर मिलती है। माहिष्मती और नर्मदा के संगम पर ही मण्डन मिश्र का विशाल प्रासाद सुशोभित था। आज कल इस प्रासाद के खण्डहर मिलते हैं जहाँ पर थोड़ी सी जमीन खोद देने से ही भस्म के समान धूसरी मिट्टी मिलती है[2] जिससे मालूम होता है कि इस स्थान पर यज्ञ यागादिक अवश्य हुआ होगा। बहुत संभव है कि मण्डन मिश्र का जन्म मिथिला में हुआ हो और मान्धाता नगरी को, पवित्र स्थान समझ कर अथवा वहाँ किसी राजा का आश्रय प्राप्त कर, अपनी कर्मस्थली बनाया हो[3]।

भारती-मण्डन की विदुषी स्त्री

मण्डन मिश्र की स्त्री का नाम भारती था। यह बड़ी विदुषी स्त्री थी। इसका व्यक्तिगत नाम 'अम्बा' या 'उम्बा' था। परन्तु शास्त्रों में अत्यन्त निपुण होने के कारण यह भारती, उभयभारती या शारदा के नाम से प्रसिद्ध थीं। यह शोणनद के किनारे रहने वाले विष्णु मित्र नामक ब्राह्मण की कन्या थी। मण्डन मिश्र ब्रह्मा के अवतार माने जाते थे और उनकी स्त्री सरस्वती का अवतार समझी जाती थीं। भारती अपनी विद्वत्ता के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध थीं। जब शंकर और मण्डन का ऐतिहासिक शास्त्रार्थ प्रारम्भ होने वाला था तब इस शास्त्रार्थ में मध्यस्थ कौन बनाया जाय? यह समस्या विद्वानों के सामने उपस्थित हो गई। वे लोग भारती की विद्वत्ता से पूर्णरूप से परिचित थे। अतः इस समस्या को सुलझाने में उन्हें अधिक विलम्ब नहीं करना पड़ा और सर्वसम्मति से शारदा मध्यस्थ चुन ली गई। इसी एक घटना से भारती की विद्वत्ता का अनुमान किया जा सकता है। उसने मध्यस्थता का काम बड़ी योग्यता से निभाया और अपने पति को परास्त होते देख कर भी पक्षपात की आँच नहीं लगने दी। पूज्य पतिदेव के शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने पर उसने अपने पति के विजेता शंकर को स्वयं शास्त्रार्थ करने के लिये ललकारा और कामशास्त्र के ऊपर ऐसे गूढ़ प्रश्न शंकर से किये जिनसे वे निरुत्तर हो गये। शंकर ने अपना पराजय स्वीकार किया। इस प्रकार इस विदुषी पत्नी ने विजेता शंकर को भी परास्त कर संसार में यश ही नहीं प्राप्त किया बल्कि पति के पराजय का बदला भी चुका लिया। धन्य है ऐसी विदुषी स्त्री !!

---

[1] माधव—श. दि. ८।१

२. बाबू राजेन्द्र नाथ घोषने अपनी बंगला पुस्तक 'शंकर ओ रामानुज' में लिखा है कि मैं स्वयं इस स्थान को देखने गया था और मिट्टी खोद कर देखा तो भस्म के समान जली हुई मिट्टी मिली जिससे अनुमान होता है कि इस स्थान में यज्ञ यागादिक हुआ होगा।

३ आनन्दगिरि ने मण्डन मिश्र के स्थान का नाम "विज्जिल बिन्दु" बतलाया है (पृ० १८२) परन्तु इस स्थान की वर्तमान स्थिति का पता नहीं चलता।

इन्होंने मीमासा तथा अद्वैत वेदान्त पर बहुत से विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। ये मीमासा प्रतिपादक ग्रन्थ मीमासा दर्शन में विशेष स्थान रखते हैं—

मण्डन के ग्रन्थ

(१) विधि-विवेक—इस ग्रन्थ में विध्यर्थ का विचार किया गया है।

(२) भावना विवेक—इस ग्रन्थ मे आर्थी भावना की मीमासा बड़े विस्तार के साथ की गई है।

(३) विभ्रम विवेक—इस ग्रन्थ में पाँचों सुप्रसिद्ध ख्यातियों की व्याख्या की गई है।

(४) मीमासा सूत्रानुक्रमणी—इसमें मीमासा सूत्रों का श्लोकबद्ध सक्षेप व्याख्यान किया गया है। वाचस्पति ने प्रथम ग्रन्थ की टीका 'न्याय कणिका' की तथा शब्दबोध विषयक 'तत्त्वबिन्दु' की रचना की है।

इनके अद्वैत प्रतिपादक ग्रन्थ अद्वैत दर्शन मे विशेष स्थान रखते हैं। वे अद्वैतपरक ग्रन्थ ये हैं—

(१) स्फोट सिद्धि—यह स्फोटविषयक ग्रन्थ है। (२) इनकी ब्रह्मसिद्धि 'शखपाणि' की टीका के साथ मद्रास से अभी प्रकाशित हुई है। अन्य व्याख्यायें 'ब्रह्मतत्त्व समीक्षा' वाचस्पति की, 'अभिप्रायप्रकाशिका' चित्सुख की तथा 'भावशुद्धि' आनन्दपूर्ण (विद्यासागर) की हैं। वाचस्पति की सबसे प्राचीन व्याख्या अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई है। मण्डन भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद के समर्थक हैं।

इस प्रकार मण्डन मिश्र कर्मकाण्ड मे नितान्त निष्णात तथा कर्ममीमासा के तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ पण्डित थे। इन्हीं की सहायता प्राप्त करने के लिये भट्ट कुमारिल ने शंकराचार्य को आदेश दिया था। इसी आदेश को मान कर शंकर अपनी शिष्य मण्डली के साथ प्रयाग से चलकर कई दिनों के बाद माहिष्मती नगरी मे पहुँचे। माहिष्मती नगरी उस समय की नगरियों में विशेष विख्यात थी। नर्मदा के किनारे इस नगरी के भव्य भवन आकाश मे अपना सिर उठाये इसकी श्रेष्ठता प्रकट कर रहे थे। आचार्य न नर्मदा के तीर पर एक रमणीय शिवालय मे अपने शिष्यों को विश्राम करने की अनुमति दी और अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये—मण्डन मिश्र से मिलने के लिये—चल पडे। दोपहर की वेला थी, माथे पर कलशी रख कर पनघट की ओर आने वाली पनिहारिना को रास्ते मे देखा। शकर ने उन्हीं से मण्डन के घर का पता पूछा। वे अनायास झट बोल उठीं कि आप आगन्तुक प्रतीत हो रहे हैं, अन्यथा ऐसा कौन व्यक्ति है जो पण्डित-समाज के मण्डनभूत, मीमासकमूर्धन्य मण्डन मिश्र को नहीं जानता। लीजिये मैं उनके महल का परिचय आपको बताये देती हूँ। जिस द्वार पर पिंजड़ों मे बैठी हुई सारिकायें आपस में विचार करती हो कि यह जगत् ध्रुव (नित्य) है या अध्रुव (अनित्य), वेद स्वत प्रमाण है या परत प्रमाण है, वेद का तात्पर्य सिद्ध वस्तु के प्रतिपादन में है अथवा साध्य वस्तु के, उसे ही आप मण्डन मिश्र का महल जानिये —

जगद् ध्रुवं[1] स्यात् जगदध्रुवं स्यात्, कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थ—नीडान्तर—सन्निरुद्धा, जानीहि तन्मण्डन पण्डितौकः॥
स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं, कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थ—नीडान्तर—सन्निरुद्धा, जानीहि तन्मण्डन पण्डितौकः॥

आचार्य शंकर यह वर्णन सुनकर अत्यन्त चमत्कृत हुये। सचमुच वह व्यक्ति मीमांसा का परम विद्वान् होगा जिसके द्वार पर पींजड़े में बैठी हुई सारिकायें मीमांसा के सिद्धान्तों की युक्तिमत्ता के विषय में आपस में इस प्रकार से बातचीत करती हों।

इस वर्णन को सुनकर आचार्य आगे बढ़े और ठीक मण्डन मिश्र के प्रासाद के द्वार पर जा कर खड़े हो गये। वहाँ उन्होंने द्वार का दरवाजा बन्द पाया। तब उन्होंने द्वारपालों से पूछा कि तुम्हारे स्वामी कहाँ हैं तथा द्वार का फाटक बन्द होने का क्या कारण है? द्वारपालों ने उत्तर दिया कि हमारे स्वामी महल के भीतर हैं तथा आज अपने पिता का श्राद्ध कर रहे हैं। उन्होंने भीतर किसी को जाने देने के लिये निषिद्ध कर रक्खा है। अतः हम लोगों ने यह फाटक बन्द किया है। यह सुनकर शंकर बड़े चिन्तित हुये क्योंकि उनकी उत्कण्ठा मण्डन मिश्र से मिलने की अत्यन्त उत्कट थी। अतः ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने आकाश मार्ग से होकर मण्डन के प्राङ्गण में प्रवेश प्राप्त कर लिया। वहाँ पर व्यास और जैमिनि आमन्त्रित होकर पहिले से विद्यमान थे। श्राद्ध में संन्यासी का आना बुरा समझा जाता है। अतः ऐसे समय में एक संन्यासी को आँगन में आया देख मण्डन को अत्यन्त क्रोध हुआ परन्तु व्यास और जैमिनि के अनुरोध से किसी प्रकार उनका क्रोध शान्त हुआ। शंकर ने अपना परिचय मण्डन मिश्र को दिया और अपने आने का कारण बतलाया। मण्डन मिश्र शास्त्रार्थ में बड़े कुशल व्यक्ति थे। अपने पक्ष के समर्थन का अयाचित यह सुवर्ण अवसर पाकर वे नितान्त प्रसन्न हुये और दूसरे दिन प्रातःकाल शास्त्रार्थ का समय निश्चित किया गया। परन्तु सबसे विकट प्रश्न था 'मध्यस्थ' का। बिना 'मध्यस्थ' के शास्त्रार्थ में निर्णय का पता नहीं चलता। मण्डन ने जैमिनि को ही 'मध्यस्थ' बनाने की प्रार्थना की। परन्तु जैमिनि ने स्वयं

---

१. सारिकाओं के विवाद का विषय जगत् की नित्यता और अनित्यता का है। जगत् के स्वरूप के विषय में मीमांसा और वेदान्त के विचार भिन्न भिन्न हैं। कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसकों की सम्मति में यह जगत् नित्य है परन्तु वेदान्तियों के मत से यह नितान्त कल्पित है। वेद की प्रमाणिकता के विषय में मीमांसकों के सिद्धान्त विशिष्ट तथा स्पष्ट हैं। वे लोग वेद को स्वयं प्रमाणभूत मानते हैं। वेद अपौरुषेय (बिना किसी पुरुष के द्वारा रचे गये) वाक्य हैं। अतः उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ठीक इसके विपरीत नैयायिकों का मत है जो वेद को पौरुषेय मान कर इसकी प्रमाणिकता स्वाभाविक रूप से न मान कर बाहरी रूप से (परतः) मानते हैं।

मध्यस्थ होना स्वीकार न किया और मण्डन मिश्र की विदुषी पत्नी का इस गौरव-पूर्ण पद के लिये उपयुक्त बतलाया। इस निर्णय को वादी और प्रतिवादी दोनों ने स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन प्रातःकाल भारती की मध्यस्थता में शास्त्रार्थ होना निश्चित हुआ[1]।

शंकर और मण्डन का शास्त्रार्थ

रात बीती। प्रातःकाल हुआ। प्राची क्षितिज पर सरोज बन्धु सविता के उदय की सूचना देने वाली उषा की लालिमा छिटकने लगी। प्रभाकर का प्रभामय बिम्ब आकाश-मण्डल में चमकने लगा। किरणें फूट-फूट कर चारों दिशाओं में फैल गयीं। आचार्य शंकर के जीवन में यह प्रभात उनकी कीर्ति तथा यश का मंगलमय प्रभात था। आज ही उनके भाग्य का निर्णय होने जा रहा था। आज ही वह मंगलमय वेला थी जिसमें अद्वैत वेदान्त का डिण्डिम घोष सारे भारतवर्ष में व्याप्त होने वाला था। ऐसे ही शुभ मुहूर्त में इन दोनों विद्वानों में यह ऐतिहासिक शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। इस शास्त्रार्थ की सूचना माहिष्मती की नगरी में अति-शीघ्र फैल गयी। अतः इस नगरी की विद्वन्मण्डली शास्त्रार्थ सुनने के लिये मण्डनमिश्र के प्रासाद में आयी।

आचार्य शंकर अपनी शिष्य मण्डली के साथ उस पण्डित मण्डली में उपस्थित हुये। शारदा ने 'मध्यस्थ' का आसन सुशोभित किया।

शंकर की प्रतिज्ञा

मण्डन मिश्र को लक्ष्य कर शंकराचार्य ने अपनी प्रतिज्ञा (सिद्धान्त) उद्घोषित की—"इस जगत् में ब्रह्म एक, सत्, चित्, निर्मल तथा यथार्थ वस्तु है। वह स्वयं इस जगत् के रूप से उसी प्रकार भासित होता है जिस प्रकार शुक्ति (सीप) चाँदी का रूप धारण कर भासित होती है। शुक्ति में चाँदी के समान ही यह जगत नितान्त मिथ्या है। उस ब्रह्म के ज्ञान से ही इस प्रपञ्च का नाश होता है और जीव बाहरी पदार्थों से हटकर अपने विशुद्ध रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। उस समय वह जन्म मरण से रहित होकर मुक्त हो जाता है। यही हमारा सिद्धान्त है और इसमें स्वयं उप-निषद् ही प्रमाण हैं। यदि मैं इस शास्त्रार्थ में पराजित हो जाऊँगा तो संन्यासी के कषाय वस्त्र को फेंक कर गृहस्थ का सफेद वस्त्र धारण कर लूँगा। इस विवाद में जय पराजय का निर्णय स्वयं भारती करें।

ब्रह्मैकं परमार्थसच्चिदमलं विश्वप्रपञ्चात्मना,
शुक्ती रूप्यपरात्मनेव बहलाज्ञानावृतं भासते।
तज्ज्ञानान्निखिलप्रपञ्चनिलया स्वात्मव्यवस्थापरं
निर्वाणं जनिमुक्तमभ्युपगतं मानं श्रुतेर्मस्तकम्॥

---

[1]—मण्डन और शङ्कर के इस विख्यात शास्त्रार्थ का विस्तृत वर्णन माधव (सर्ग ८), सदानन्द (सर्ग ६) ने बड़ी सुन्दर रीति से किया है। आनन्दगिरि ने (५६ वें प्रकरण में) तथा चिद्विलास ने (१७-१८ अध्याय में) इसका संकेतमात्र किया है।

वाद जये यदि पराजयभागहं स्यां,
सन्यासमङ्ग परिहृत्य कषायचैलम् ।
शुक्लं वसीय वसनं द्वयभारतीयं,
वादे जयाजयफलप्रतिदीपिकाऽस्तु ॥
माधव—शं॰ दि॰ ८। ६१-६२

अद्वैत सिद्धान्त की प्रतिपादिका इस प्रतिज्ञा को सुनकर मण्डन मिश्र ने अपने मीमांसा सिद्धान्त को प्रतिपादन करने वाली प्रतिज्ञा कह सुनायी—वेद का कर्मकाण्ड भाग ही प्रमाण है। उपनिषद् को मैं प्रमाण-कोटि में नहीं मानता, क्योंकि वह चैतन्य स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन कर सिद्ध वस्तु का वर्णन करता है। वेद का तात्पर्य है विधि का प्रतिपादन करना परन्तु उपनिषद् विधि का वर्णन न कर ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। अतः वह प्रमाण-कोटि में कथमपि नहीं आ सकता। शब्दों की शक्ति कार्य-मात्र के प्रकट करने में है। दुःखों से मुक्ति कर्म के द्वारा ही होती है और इस कर्म का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन भर करते रहना चाहिये। मीमांसक होने के नाते यही मेरी प्रतिज्ञा है। यदि इस शास्त्रार्थ में मेरा पराजय होगा तो मैं गृहस्थ धर्म को छोड़ कर संन्यासी बन जाऊंगा—

मण्डन की प्रतिज्ञा

वेदान्ता न प्रमाणं चिति वपुषि पदे तत्र सङ्गत्ययोगात्
पूर्वो भागः प्रमाणं पदचयगमिते कार्यवस्तुन्यशेषे ।
शब्दानां कार्यमात्रं प्रति समधिगता शक्तिरभ्युन्नतानां
कर्मभ्यो मुक्तिरिष्टा तदिह तनुभृतामाऽऽयुषः स्यात् समाप्तेः ॥
शं॰ दि॰ ८।६४

विद्वन्मण्डली ने इन प्रतिज्ञाओं को सुना, वादी और प्रतिवादी में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया, मध्याह्न में कुछ समय के लिये शास्त्रार्थ में विराम होता था जब दोनों व्यक्ति अपने भोजन करने के लिये जाते थे। इसी प्रकार शास्त्रार्थ कई दिनों तक चलता रहा। शारदा को स्वयं अपने घर का काम काज देखना था। इस लिये उसने दोनों पण्डितों की गरदन में माला डाल दी और यह घोषित कर दिया कि जिसकी माला मलिन पड़ जायेगी वह शास्त्रार्थ में पराजित समझा जायेगा। शास्त्रार्थ में किसी प्रकार की कटुता न थी। दोनों—शंकर और मण्डन—समभाव से अपने आसन पर बैठे रहते थे[1]। उनके ओठों पर मन्दस्मित की रेखा झलकती थी, मुख मण्डल विकसित था, न तो शरीर में पसीना होता था और न कम्प, न वे आकाश की ओर देखते थे। बल्कि सावधान मन से एक

---

१ अन्योन्यमुत्तरमखण्डयतां प्रगल्भं,
बद्धासनौ स्मित विकासिमुखारविन्दौ ।
न स्वेदकम्पगगनेक्षण शालिनौ वा,
न क्रोधवाक्छलमवादि निरुत्तराभ्याम् ॥
शं॰ दि॰ ८।७२

दूसरे के प्रश्नों का उत्तर बड़ी प्रगल्भता से देते थे। निरुत्तर होने पर वे क्रोध से वाकुछल का भी प्रयोग न करते थे। इसी प्रकार अनेक दिन व्यतीत हो गये। अन्ततोगत्वा 'तत्त्वमसि' महावाक्य को लेकर निर्णायक शास्त्रार्थ छिड़ा। इस शास्त्रार्थ का वर्णन 'शंकर दिग्विजय' के लेखकों ने बड़े विस्तार के साथ दिया है। यहाँ पर इसी शास्त्रार्थ का सारांश पाठकों के मनोरंजन के लिये दिया जाता है।

मण्डन मिश्र मीमांसा के अनुयायी होने के कारण द्वैतवादी थे। उधर शंकर वेदान्ती होने के कारण अद्वैत के प्रतिपादक थे। मण्डन का आग्रह था समस्त उपनिषद् द्वैतपरक हैं और आचार्य शंकर का अनुरोध था कि उपनिषद् अद्वैत का वर्णन करते हैं। दोनों ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में बड़े-बड़े अनूठे तर्कों का प्रयोग किया। मण्डन मिश्र का पूर्व पक्ष है कि जीव और ब्रह्म की अभिन्नता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि यह अभिन्नता तीनों प्रमाणों से बाधित है—(१) प्रत्यक्ष से (२) अनुमान से और (३) श्रुति से।

मण्डन—'तत्त्वमसि' (जीव ही ब्रह्म है) वाक्य से आत्मा और परमात्मा की एकता कैसे मानी जा सकती है क्योंकि इस एकता का न तो प्रत्यक्ष ज्ञान है और न अनुमान ही होता है। प्रत्यक्ष तो अभेदवाद का महान् विरोधी है क्योंकि यह तो प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिदिन का अनुभव है कि मैं ईश्वर नहीं हूँ। अतः प्रत्यक्ष विरोधी होने के कारण से इस वाक्य का प्रयोजन जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करने में नहीं है।

शंकर—यह मत ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा जीव और परमात्मा में भेद का ज्ञान कभी नहीं होता। प्रत्यक्ष का ज्ञान विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष के ऊपर अवलम्बित रहता है। इन्द्रियों का ईश्वर के साथ तो कभी सन्निकर्ष होता नहीं। तब विरोध का प्रसङ्ग कहां?

मण्डन—जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वज्ञ है। इस बात में तो किसी को सन्देह नहीं है। तब भला अल्पज्ञ और सर्वज्ञ की एकता मानना प्रत्यक्ष रूप से अनुचित नहीं है।

शङ्कर—इसी सिद्धान्त में आपकी त्रुटि है। प्रत्यक्ष तथा श्रुति में कोई भी विरोध नहीं हो सकता क्योंकि दोनों के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण अविद्या से युक्त होने वाले जीव में और माया से युक्त होने वाले ईश्वर में भेद दिखलाता है। उधर श्रुति ('तत्त्वमसि' यह उपनिषद् वाक्य) अविद्या और माया से रहित शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा और ब्रह्म में अभेद दिखलाती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का आश्रय कलुषित जीव और ईश्वर है और श्रुति का आश्रय विशुद्ध आत्मा और ब्रह्म है। एक आश्रय में विरोध होता है। भिन्न आश्रय होने से यहाँ तो किसी प्रकार का विरोध लक्षित नहीं होता। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से अभेद श्रुति का किसी प्रकार का विरोध न होने से उसका तिरस्कार कथमपि

यदि कोई श्रुति पुष्ट की जाती है तो वह प्रबल नहीं हो सकती, क्योंकि उन प्रमाणों के द्वारा अर्थ के अभिव्यक्त हो जाने के कारण वह श्रुति अत्यन्त दुर्बल मानी जाती है। प्रबल श्रुति तो वह है जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि के द्वारा न प्रकट किये गये अर्थ को प्रकट करे। पदार्थों की परस्पर विभिन्नता—जिसको आप इतने अभिनिवेश के साथ सिद्ध कर रहे हैं—जगत् मे सर्वत्र दीख पड़ती है। अत. उसका प्रतिपादन करने वाली श्रुति दुर्बल होगी। अभेद तो जगत् में कहीं नहीं दिखाई पड़ता। अत. उसको वर्णन करने वाली श्रुति पूर्व की अपेक्षा प्रबलतर होगी। इस कसौटी पर कसे जाने से 'तत्त्वमसि' का अभेद-प्रतिपादन ही श्रुति का प्रतिपाद्य विषय प्रतीत होता है। अत इस वाक्य का अर्थ जीव और ब्रह्म की एकता में है जिसका विरोध न तो प्रत्यक्ष से है, न अनुमान से और न श्रुति से।

> प्राबल्यमापादयति श्रुतीनां,
> मानान्तरं नैव बुधाग्रयायिन्।
> गतार्थवादानमुखेन तासां,
> दौर्बल्य—सम्पादकमेव किन्तु॥
>
> शा० दि० ८। १३०

बस, इस युक्ति को सुन कर मण्डन मिश्र चुप होकर निरुत्तर हो गये। उनके गले की माला मलिन पड़ गयी। तुहिनपात से मुरझाये हुये कमल की तरह मण्डन का ब्रह्म-तेज से चमकता हुआ चेहरा उदासीन पड़ गया। मीमांसा की विजय-वैजयन्ती फहराने की उत्कट लालसा को अपने हृदय में छिपाये हुये मण्डन जिस अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे वह अवसर आया। उन्होंने उसे उपयोग करने का प्रयत्न भी किया परन्तु उसमें सफलता न प्राप्त कर सके। अलौकिक प्रतिभासम्पन्न शंकर के सामने उन्हें अपना पराजय स्वीकार करना पड़ा। पण्डित-मण्डली में सहसा खलबली मच गयी। उन्हें इस बात की स्वप्न में भी आशंका नहीं थी कि पंडित-समाज के मण्डनभूत मण्डन की प्रभा किसी भी पण्डित के सामने कभी क्षीण होगी। परन्तु आज आश्चर्य—भरे नेत्रों से उन्होंने देखा कि माहिष्मती की जनता के सामने मीमांसक-मूर्धन्य मण्डन का उन्नत मस्तक अवनत हो गया है। मध्यस्थ शारदा भी पति के भावी संन्यास ग्रहण के कारण खिन्न होकर भी अपने कर्तव्य से च्युत नहीं हुई और उसने शंकर की विजय पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। इस प्रकार शंकर ने अपने सर्वप्रथम शास्त्रार्थ में पण्डितों के शिरोमणि मण्डन मिश्र को पराजित कर विद्वन्मण्डली में अपने पाण्डित्य का प्रभाव जमाया।

—o—

भी लिप्त नहीं कर सकते[1]। कर्म का फल तो उसे ही प्राप्त होता है जो इन कर्मों को करने में अहंकार रखता है परन्तु ज्ञान के द्वारा जब यह अहंकार-बुद्धि नष्ट हो जाती है तब कर्ता को किसी प्रकार का फल नहीं मिलता। यदि वह ब्रह्म-हत्या करता है तब भी वह पापों से लिप्त नहीं होता, और यदि हजारों भी अश्वमेध, यज्ञ करता है तब भी वह पुण्य नहीं प्राप्त कर सकता। ऋग्वेद का वह दृष्टान्त क्या तुम्हें याद नहीं है कि ब्रह्मज्ञानी संकल्प-रहित इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरा विश्वरूप को मार डाला और मुनियों को भेड़ियों को मार कर खाने के लिये दे डाला था[2]। परन्तु इस कर्म से उनका एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। उधर जनक ने अनेक यज्ञ किया, हजारों रुपया दक्षिणा रूप में दिया,[3] परन्तु वे अभय ब्रह्म को प्राप्त करने वाले राजर्षि थे। फलतः ऐसे सत्कर्मों का फल उनके लिये कुछ भी न हुआ। ब्रह्म-वेत्ता की यही तो महिमा है। संकल्प के नाश का यही तो प्रभाव है कि सुकृत और दुष्कृत के फल कर्ता को तनिक भी स्पर्श नहीं करते। मैं वासनाहीन हूँ—मेरे हृदय में काम की वासना का लेश भी अवशिष्ट नहीं है। अतः मेरा परकाय प्रवेश करके शास्त्र काम-शास्त्र का अध्ययन करना कथमपि निन्दनीय नहीं है। अतः इस काम से मुझे विरक्त मत करो, प्रत्युत सहायता देकर इसके अनुष्ठान को सुगम बनाओ।

गुरु के कथन के सामने शिष्य ने अपना सिर झुकाया। आचार्य शंकर शिष्यों के साथ दुर्गम पर्वत-शिखर पर चढ़ गये। वहाँ एक सुन्दर गुफा दिखाई पड़ी जिसके आगे एक विशाल समतल शिला पड़ी हुई थी। पास ही स्वच्छ जल से भरी हुई एक सरसी सुशोभित हो रही थी। आचार्य ने अपने शिष्यों से कहा कि यहीं पर रह कर आप लोग मेरे शरीर की सावधानी से रक्षा कीजिये जब तक मैं इस राजा के मृतक शरीर में प्रवेश कर काम-कला का अनुभव प्राप्त करता हूँ। शिष्यों ने इस आज्ञा को मान ली। शंकर ने उस गुफा में अपने स्थूल शरीर को छोड़ दिया और केवल लिङ्ग शरीर[4] से युक्त होकर योग-बल से राजा के शरीर में प्रवेश किया। प्रवेश करने की प्रक्रिया इस प्रकार थी। योगी शंकर ने अपने शरीर के अंगूठे से आरम्भ कर प्राण वायु को ब्रह्म-रन्ध्र तक खींच कर पहुँचाया और ब्रह्म रन्ध्र के भी बाहर निकल कर वे मरे हुये राजा के शरीर में ठीक उसके विपरीत क्रम से प्रवेश कर गये। अर्थात् ब्रह्म-रन्ध्र से प्राणवायु का संचार आरम्भ कर धीरे धीरे उसे नीचे लाकर पैर के अंगूठे तक पहुँचा दिया। चकित जनता ने आश्चर्य भरे नेत्रों से देखा कि राजा अमरुक के शव में प्राण का संचार हो गया।

---

१ कथमपगते जगदशेषमिदं कलयन् स्मरेति हृदि कर्मफलैः।
न फलाय हि स्वपनकालकृतं नसुकृतादि जाग्रदनुबुद्धितम—शं दि ९।६५ ॥

२ ऋग्वेद १०।८।८०

३ बृहदारण्यक उपनिषद् अध्याय ३

४ लिङ्ग शरीर—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि इन सत्रह वस्तुओं के समुदाय को लिङ्ग शरीर कहते हैं। और इसी शरीर के द्वारा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। देखिये—ईश्वर कृष्ण—सांख्य कारिका ४०।

मुख के ऊपर कान्ति आ गयी, नाक से धीरे-धीरे वायु निकलने लगा। हाथ, पैर हिलने और डुलने लगे; नेत्र खुल गये। देखते-देखते राजा उठ बैठा। रानी और मन्त्रियों के हर्ष का ठिकाना न रहा। इस अद्भुत घटना को देखकर जनता स्तब्ध हो गयी।

राजा अमरुक के पुनरुज्जीवन की बात सारे राज्य में बड़ी शीघ्रता के साथ फैल गयी। जो सुनता वही आश्चर्य करता। राजा ने अपने मन्त्रियों की सलाह से राज्य की उचित व्यवस्था की। इस व्यवस्था का फल राज्य में उचित रीति से दीख पड़ने लगा। सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य था। मन्त्रियों को राज्य के संभालने में लगाकर इस नये राजा ने सुन्दरी विलासिनी स्त्रियों के साथ रमण करना आरम्भ किया। शंकर वज्रोली क्रिया के मर्मज्ञ पण्डित थे, जिसकी सहायता से उन्हें काम कला के सीखने में देर न लगी। इसी अवस्था में उन्होंने 'कामसूत्र' का गाढ़ अनुशीलन किया तथा इस प्रकार इस शास्त्र के वे पारंगत पण्डित बन गये। उनकी अभीष्ट की पूर्ति हो चली।

उधर तो शंकर राज्य का काम कर रहे थे और इधर गुफा में पड़े उनके शरीर को उनकी शिष्य-मण्डली रक्षा कर रही थी। दिन बीते, रातें आयीं। धीरे-धीरे एक मास की अवधि भी बीत चली, परन्तु जब आचार्य नहीं लौटे तब शिष्यों को महती चिन्ता उत्पन्न हुई कि क्या किया जाय? किधर खोज निकाला जाय? उनके राज्य का पता तो था नहीं। तब पद्मपाद ने यह सलाह दी कि आचार्य को ढूंढ़ निकालना चाहिये, हाथ पर हाथ रखने से क्या लाभ? तदनुसार कतिपय शिष्य आचार्य के शरीर की रक्षा करने के लिये वहाँ रक्खे गये और कुछ शिष्य पद्मपाद के साथ आचार्य की खोज में निकले। जाते-जाते वे लोग अमरुक राजा के राज्य में पहुँचे। राज्य की सुव्यवस्था देखते ही उन्हें यह भान हो गया कि यह उनके नृप वेशधारी आचार्य का ही राज्य है। लोगों के मुख से उन्होंने सुना कि राजा साक्षात् धर्म की मूर्ति है। परन्तु उसे गायन-विद्या से बड़ा प्रेम है। तदनुसार शिष्यों ने गायक का वेष बना कर राजा के दरबार में उपस्थित हुये। राजा ने इन कलावन्तों को देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और उन्हें कोई नयी वस्तु सुनाने की आज्ञा दी। गायक लोग तो इस अवसर की प्रतीक्षा में थे ही। आज्ञा मिलते ही उन्होने अपना गाना प्रारम्भ कर दिया। गायन आध्यात्मिक भावों से भरा था। स्वर की मधुर लहरी सभामण्डप को भेद कर ऊपर उठने लगी। इस गायन ने राजा के चित्त को बरबस अपनी ओर आकृष्ट किया।

यह आध्यात्मिक गायन आत्मा के सच्चे स्वरूप का बोध करने वाला था। पद्मपाद राजा को उसके सच्चे स्वरूप से परिचित कराकर उसके हृदय में प्रबोध उत्पन्न करना चाहते थे। इसलिये उन्होंने गाना आरम्भ किया जिसका अभिप्राय यह था :—

चावल भूसी के भीतर छिपा रहता है। चतुर लोग इस भूसी को कूटकर चावल को उससे अलग निकाल लेते हैं। ब्रह्म आकाश आदि भूतों को उत्पन्न कर उसके भीतर प्रविष्ट होकर छिपा हुआ है। वह पञ्चकोषों के भीतर ऐसे ढंग से छिपा हुआ है कि बाहरी दृष्टि रखने वाले व्यक्तियों के लिये उसकी सत्ता का पता नहीं चलता। परन्तु विद्वान् लोग युक्तियाँ के सहारे उसकी विवेचना कर चावल की भाँति जिस आत्मा का साक्षात्कार करते हैं वह तत्त्व तुम्हीं हो :—

> स्वयमुत्पाद्य विश्वमनुप्रविश्य
> गूढमत्र मयादि कोशतुष जाले।
> कुशो विविच्य युक्त्यवघाततो
> यत्तण्डुलवदाददति तत्त्वमसि तत्त्वम्॥
>
> शं० दि० १०।४६

हे राजन्! समझो कि तुम कौन हो? विद्वान् लोग शम (मन का निग्रह), दम (इन्द्रिय का निग्रह), उपरम (वैराग्य) आदि साधनों के द्वारा अपनी बुद्धि में जिस सच्चिदानन्द रूप तत्त्व के पाने में समर्थ होते हैं और जिसे पाकर के जन्म-मरण से रहित होकर आवागमन के क्लेश से मुक्त हो जाते हैं वह तत्त्व तुम्हीं हो :—

> शमदमोपरमादि साधनैर्धीरा;
> स्वात्मनाऽत्मनि यदन्विष्य कृतकृत्या:।
> अधिगतामित सच्चिदानन्दरूपा,
> न पुनरिह खिद्यन्ते तत्त्वमसि तत्त्वम्॥
>
> शं० दि० १०।५४

गायन समाप्त हुआ। नृपवेश धारी शंकर के हृदय में अपने प्राचीन स्वरूप के ज्ञान का उदय हुआ। उन्हें अपनी भूल का पता चला। वे शिष्यों को केवल एक मास की अवधि देकर आये थे। परन्तु परिस्थितियों के वश में पड़ कर उन्होंने कामातुराग में अपने को इतना अनुरक्त कर दिया कि अपनी अवधि का काल उन्हें स्मरण नहीं रहा। पद्मपाद के इस गायन ने उनकी पूर्व प्रतिज्ञा को उनके सामने लाकर सजीव रूप से खड़ा कर दिया। उन्होंने अपने कर्तव्य को भली भाँति पहचान लिया और इन गायकों की आशा पूरी कर इन्हें विदा किया। कञ्चुकियों के द्वारा समझाये जाने पर शंकर मूर्छित हो गये। उन्होंने राजा के शरीर को छोड़ दिया और गुफा में स्थित अपने शरीर में पहिले कहे गये ढंग से वे घुस गये। ब्रह्मरन्ध्र से आरम्भ कर पैर के अँगूठे तक धीरे-धीरे प्राणों का संचार हो गया। शिष्यों ने आश्चर्य से देखा कि गुरु का शरीर प्राणों से युक्त गया। अतः यह देख कर उन्हें महान् हर्ष हुआ।

शङ्कर का उत्तर

शंकर का शरीर सचेष्ट हो गया। अपने शिष्यों के साथ वे प्रतिज्ञानुसार सीधे शारदा देवी के पास पहुँचे। शारदा स्वयं अलौकिक शक्ति से युक्त थीं। शंकर की यह आश्चर्य जनक घटना उनके कानों तक पहुँच चुकी थी। वे समझ गईं कि शङ्कर

ने अब काम-शास्त्र में भी निपुणता प्राप्त कर ली है। अब उनसे विशेष शास्त्रार्थ करने की आवश्यकता नहीं है। शंकर ने उन प्रश्नों का यथोचित उत्तर देकर उन्हें निरुत्तर कर दिया।[1]

शंकर के इस युक्तियुक्त उत्तर को सुनकर शारदा देवी (भारती) नितान्त प्रसन्न हुई और उन्होंने शंकर की प्रतिभा और विद्वत्ता के सामने अपना पराजय स्वीकार किया। अब वे शंकर से बोलीं कि मुझे पराजित कर आपने अब मेरे पति देव के ऊपर पूरी विजय पायी है। मण्डन मिश्र ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार संन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और आचार्य ने उन्हें संन्यास-मार्ग में दीक्षित कर उनका नाम 'सुरेश्वराचार्य' रक्खा।

शंकर और मण्डन के शास्त्रार्थ की ऐतिहासिकता

शंकर और मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ का यह विस्तृत विवरण 'शंकर-दिग्विजयों' के प्रचलित वर्णन के आधार पर दिया गया है। इन ग्रन्थों में ... यह धारणा है कि मण्डन मिश्र मीमांसा शास्त्र के ... पण्डित थे। अतएव उनका द्वैत-मार्ग के ही ऊपर ही आग्रह था। इसीलिये अद्वैतवादी शंकर ने अपने अद्वैतवाद के मण्डन के लिये मण्डन मिश्र की द्वैतवादी युक्तियों का बड़ी ऊहापोह के साथ खण्डन किया। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर इस शास्त्रार्थ के भीतर एक विचित्र ही रहस्य दिखाई पड़ता है। इधर मण्डन मिश्र की लिखी हुई 'ब्रह्म सिद्धि' नामक पुस्तक प्रकाशित होकर विद्वानों के सामने आयी है। इसके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मण्डन मिश्र भी पक्के अद्वैतवादी थे। तब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि शंकराचार्य का इनके साथ क्योंकर शास्त्रार्थ हुआ? दोनों तो अद्वैतवादी ही ठहरते हैं। जान पड़ता है कि मण्डन मिश्र आचार्य शंकर के प्रतिस्पर्धी अद्वैतवादी दार्शनिक थे। दोनों—शंकर और मण्डन—के अद्वैतवाद के सिद्धान्तों में बहुत भिन्नता पायी जाती है। शंकर अपने अद्वैतवाद को ठीक उपनिषद् की परम्परा पर अवलम्बित मानते थे और संभव है कि इसीलिये वे मण्डन के अद्वैतवाद को उपनिषद्—विरुद्ध समझते थे। जब तक एक प्रबल प्रतिस्पर्द्धी के मत का खण्डन नहीं होता तब तक अपने सिद्धान्त का प्रचार करना कठिन है। सम्भवतः इसीलिये शंकर ने मण्डन मिश्र को अपने उपनिषन्मूलक अद्वैतवाद का प्रचारक बनाने के लिये ही उन्हें परास्त करने में इतना आग्रह दिखलाया। अतः इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से उपनिषद् अद्वैतवादी शंकर का उपनिषद्-विरुद्ध(?) अद्वैती मण्डन से शास्त्रार्थ करना नितान्त युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

---

[1] शंकर के उत्तर का ठीक ठीक वर्णन दिग्विजयों में नहीं मिलता। प्रश्न काम—शास्त्र का है। उत्तर भी कामशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता ही है। अतः अनावश्यक समझ कर ही इन ग्रन्थकारों ने इसका निर्देश नहीं किया है। हम भी इनका अनुकरण कर चुप रह जाना ही उचित समझते हैं। जिज्ञासु पाठक वात्स्यायन कामसूत्र, रतिरहस्य, पञ्चसायक आदि ग्रन्थों में इसका उत्तर देख सकते हैं।

—०—

दशम-परिच्छेद

दक्षिण-यात्रा

मण्डन मिश्र के ऊपर विजय-प्राप्त करने से आचार्य शंकर ने उत्तरी भारत की पण्डित-मण्डली के ऊपर अपना प्रभाव जमा लिया। मण्डन मिश्र को तो वे अपना शिष्य बना ही चुके थे। अब उन्होंने उत्तर भारत को छोड़कर दक्षिण भारत की ओर यात्रा करना आरंभ किया। इस यात्रा का अभिप्राय था दक्षिण भारत के अवैदिक मतों का खण्डन करना और अपने अद्वैत मार्ग का प्रचार करना। आचार्य अपनी शिष्य मण्डली के साथ, जिसमें प्रमुख सुरेश्वर और पद्मपाद थे, माहिष्मती नगरी से दक्षिण भारत की ओर चल पड़े। रास्ते में पड़ने वाले अनेक तीर्थ-स्थलों पर निवास करना और जनता को अद्वैत मार्ग की शिक्षा देना आचार्य शंकर की दैनिक चर्या थी। वे महाराष्ट्र मण्डल से होकर और भी नीचे दक्षिण की ओर गये। बहुत संभव है कि महाराष्ट्र के प्रमुख तीर्थ—क्षेत्र पण्ढरपुर में उन्होंने निवास किया हो। यह तीर्थ विष्णु भगवान् के ही एक विशिष्ट विग्रह पण्ढरीनाथ से सम्बद्ध है। महाराष्ट्र में यह वैष्णव धर्म का प्रधान केन्द्र है। यह मन्दिर प्राचीन बतलाया जाता है।

श्रीपर्वत

महाराष्ट्र देश में धर्म प्रचार के अनन्तर आचार्य अपनी मण्डली के साथ सुप्रसिद्ध तीर्थ-क्षेत्र श्रीशैल या श्रीपर्वत[1] पर पहुँचे। आज भी उस क्षेत्र की पवित्रता, प्राचीनता और भव्यता किसी प्रकार न्यून नहीं हुई है। यह स्थान मद्रास प्रान्त के कर्नूल जिले में एक प्रसिद्ध देवस्थान है। यहाँ का शिव मन्दिर बड़ा ही विशाल और भव्य है जिसकी लम्बाई ६६० फीट और चौड़ाई ५१० फीट है। इसकी दीवालों के ऊपर रामायण और महाभारत की कथाओं से सम्बद्ध सुन्दर चित्र अङ्कित किये गये हैं। मन्दिर के बीच में मल्लिकार्जुन महादेव की स्थापना की गयी है। भारतवर्ष में विख्यात द्वादश जोतिर्लिङ्गों में मल्लिकार्जुन अन्यतम है। प्राचीन काल में तो इस स्थान की महत्ता और भी अधिक थी। मन्त्र-सिद्धि तथा तान्त्रिक उपासना से इस स्थान का गहरा सम्बन्ध था। कापालिक तान्त्रिकों के अतिरिक्त बौद्ध तान्त्रिकों से भी इस स्थान का गहरा सम्बन्ध था, इस बात के लिये अनेक प्रमाण मिलते हैं। सुनते हैं कि माध्यमिकमत-विख्यात आचार्य सिद्ध नागार्जुन ने इसी पर्वत पर निवास कर अपनी अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। बाणभट्ट (सप्तम शताब्दी का पूर्वार्द्ध) ने भी इस स्थान का सिद्धि-क्षेत्र के रूप में उल्लेख

---

1 श्रीपर्वत का विशेष विवरण १२ वें परिच्छेद में है। वहीं देखिए।

किया है [1]। महाराज हर्षवर्धन ने अपनी 'रत्नावली' नाटिका में इसी श्रीपर्वत से आने वाले एक सिद्ध का वर्णन किया है जिसे अकाल में ही फूलों को खिला देने की अपूर्व सिद्धि प्राप्त थी [2]। महाकवि भवभूति ने भी 'मालती—माधव' में इस स्थान को मन्त्र-सिद्धि के लिये उपादेय तथा सिद्धपीठ बतलाया है।

शैव स्थान होने पर भी बहुत दिनों से यह स्थान अवैदिक मार्गावलम्बियों के अधिकार में आ गया था। इस स्थान पर बौद्धों का प्रभाव बहुत ही अधिक था। हीनयानी बौद्धों के अष्टादश निकायों में दो निकायों के नाम हैं पूर्वशैलीय और अपरशैलीय। तिब्बती ग्रन्थों से पता चलता है कि इस नामकरण का यह कारण था कि श्रीपर्वत के पूरब और पश्चिम में दो पहाड़ थे, जिनका नाम क्रमशः पूर्वशैल और अपरशैल था। इन्हीं शैलों पर निवास करने के कारण इन निकायों का ऐसा नामकरण हुआ था। परन्तु शंकराचार्य के समय में यहाँ बौद्धों के प्रभाव का पता नहीं चलता, उस समय तो इसे कापालिकों ने अपना अड्डा बना रक्खा था।

कापालिकों का परिचय

प्राचीन समय में इस सम्प्रदाय की प्रभुता और महत्ता बहुत ही अधिक थी। यह एक उग्र तान्त्रिक शैव सम्प्रदाय था जिसके अनुयायी माला, अलंकार, कुण्डल, चूडामणि, भस्म और यज्ञोपवीत ये छः मुद्रिकायें (चिह्न) धारण करते थे। ये लोग मनुष्यों की हड्डियों की माला पहिनते थे, श्मशान में रहते थे और आदमियों की खोपड़ियों में भोजन करते थे। परन्तु किसी विचित्र योग के अभ्यास से उन्हें विचित्र सिद्धियाँ प्राप्त [3] थीं।

इनकी पूजा बड़े उग्र रूप की थी। ये शंकर के उग्ररूप महाभैरव के उपासक थे। इनकी पूजा में मद्य, मांस आदि का प्रचुर व्यवहार होता था। इनके उपास्य देव महाभैरव का स्वरूप बड़ा उग्र तथा भयानक था। "ये लोग आग में मनुष्य के मांस की आहुति देते थे, ब्राह्मण के कपाल (खोपड़ी) में शराब पीकर ये अपने व्रत की पारणा करते थे। महाभैरव के सामने पुरुषों की बलि दिया करते

१—जयति ज्वलत्प्रतापज्वलनप्राकारकृतजगद्रक्षः।
सकलप्रणयिमनोरथसिद्धिश्रीपर्वतो हर्षः॥

हर्ष-चरित, प्रथम उच्छ्वास।

२—रत्नावली—पृ० ६७-६८ (निर्णयसागर)

३—प्रबोध चन्द्रोदय में इनकी सिद्धियों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

हरिहर सुरज्येष्ठ श्रेष्ठान्सुरानहमाहरे,
वियति वहतां नक्षत्राणां रुणध्मि गतीरपि।
सनगनगरीमम्भः पूर्णां विधाय महीमिमां,
कलय सकलं भूयस्तोयं क्षणेन पिबामि तत्॥

प्र० च० ३।१

थे[1]।" शंकराचार्य के समय में इन कापालिकों का बड़ा प्रभाव था। क्योंकि ६३६ ई० के एक शिलालेख से पता चलता है कि चालुक्य वंशी राजा पुलकेशी द्वितीय के पुत्र नागवर्धन ने कपालेश्वर की पूजा के लिये बहुत सी जमीन दानरूप में दी थी।

ऐसे तान्त्रिक क्षेत्र में शंकराचार्य को अपने वैदिक मार्ग का प्रचार करना था। उन्होंने भगवान् मल्लिकार्जुन तथा भगवती भ्रमराम्बा की बड़े अनुराग से पूजा की और कुछ दिनों तक यहाँ निवास किया। वे अपने शिष्यों को भाष्य पढ़ाते अद्वैत मार्ग का उपदेश देते और अवैदिक मतों के सिद्धान्तों की निःसारता भली भाँति दिखलाते। कापालिक जैसे अवैदिक पन्थ का खण्डन उनका प्रधान लक्ष्य था। विद्वान् लोग शंकर की ओर झुकने लगे। वहाँ की जनता शंकर के उपदेशों को सुनकर कापालिक मत को छोड़कर वैदिक मार्ग में अनुराग दिखलाने लगी। कापालिकों ने देखा कि एक महान् अतर्कित विघ्न उपस्थित हुआ। परन्तु उनमें ऐसा कोई विद्वान् न था जो शंकर की युक्तियों का उत्तर देता। पराजय के साथ ही साथ इन कापालिकों की प्रतिहिंसा (बदला) की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी। तर्क से हार कर उन्होंने कर्कश तलवार का आश्रय लिया। इनके नेता का नाम था उग्रभैरव। उसने शंकर को मार डालने की अच्छी युक्ति निकाली। वह इनका शिष्य बन गया—साधारण शिष्य नहीं बल्कि उग्र शिष्य। धीरे-धीरे वह आचार्य शंकर का प्रिय पात्र बन गया। अवसर पाकर उसने शंकर से अपना गूढ़ अभिप्राय कह सुनाया कि भगवन्! मैं विषम परिस्थिति में हूँ। मुझे एक अलौकिक सिद्धि प्राप्त होने में एक क्षुद्र विघ्न उपस्थित हो गया है। मुझे बलि देने के लिये राजा या किसी सर्वज्ञ पण्डित का सिर चाहिये। पहिला तो मुझे मिल नहीं सकता है और दूसरा आपकी अनुकम्पा पर अवलम्बित है। आप से बढ़कर इस जगत् में है ही कौन? इसलिये आप अपना सिर मुझे दे दीजिये। शंकराचार्य ने गूढ़ अभिप्राय से भरे हुये इस वचन को सुना। परन्तु वे तो परोपकारी जीव थे। उन्होंने इस बात की स्वीकृति दे दी। परन्तु इस कापालिक को सावधान कर दिया कि मेरे शिष्यों के सामने कभी इस बात की चर्चा न करे। मुझे डर है कि वे इस प्रस्ताव को कभी स्वीकार न करेंगे। कल जब मैं अकेला रहूँ तो तुम आना और मैं अपना सिर तुम्हें दे दूँगा। दूसरे दिन वह कापालिक हाथ में त्रिशूल लेकर, माथे में त्रिपुण्ड धारण कर, हड्डियों की माला को गले से लटकाये हुये, शराब की मस्ती में लाल-लाल आँखें घुमाता हुआ शंकराचार्य के निवास स्थान पर आया। उस समय विद्यार्थी लोग दूर चले गये थे। आचार्य एकान्त में बैठे हुये अभ्यास में लीन थे।

उस भैरवाकार कापालिक को देखकर उन्होंने शरीर छोड़ने का निश्चय कर लिया। अपने अन्तःकरण को एकाग्र कर वे योगासन पर ध्यान-मुद्रा में बैठ गये।

१ मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां,
वह्नौ ब्रह्मकपाल कल्पितसुरा पानेन न पारणा।
सद्यः कृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलै
रर्च्यो न. पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरव ॥ प्र० च०

प्रणव का जप करते हुये उन्होंने अपनी इन्द्रियों को उनके व्यापार से हटाया और निर्विकल्प समाधि में जा विराजे। आचार्य को बिल्कुल एकान्त में देख कर उस कापालिक ने अपनी कामना पूरी करनी चाही। परन्तु पद्मपाद जैसे विलक्षण बुद्धि वाले शिष्य को वह ठग न सका। उन्हें उस कापालिक की दुरभिसन्धि का कुछ पता चल गया था। उस उग्रभैरव ने तलवार से शंकराचार्य का सिर काटने के लिये ज्योंही उठाया त्योंही पद्मपाद वहाँ अकस्मात् उपस्थित हो गये और त्रिशूल के नोंक से उसका काम तमाम कर डाला। उग्रभैरव का पराजय कापालिक मत के नाश का श्रीगणेश था। देखते ही देखते यह कापालिक मत श्रीपर्वत के प्रदेश से उच्छिन्न हो गया। इस प्रकार अद्वैत की विजय दुन्दुभि सर्वत्र बजने लगी।[1]

गोकर्ण की यात्रा

यहां से यतिराज शंकर अपने शिष्यों के साथ गोकर्ण क्षेत्र में पधारे। यह स्थान बम्बई प्रान्त में एक प्रसिद्ध शैव तीर्थ है। गोवा से उत्तर लगभग तीस मील की दूरी पर यह नगर समुद्र के किनारे स्थित है। यहां के महादेव का नाम 'महाबलेश्वर' है, जहां आज भी शिवरात्रि के अवसर पर बहुत बड़ा मेला लगता है। प्राचीन काल में इसकी प्रसिद्धि और भी अधिक थी। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इसकी विपुल महिमा गायी गयी है। वाल्मीकि रामायण से पता चलता है कि कुबेर के समान सम्पत्ति पाने की अभिलाषा से लंकाधिपति रावण ने अपनी माता कैकसी के परामर्श से यहीं घोर तपस्या की थी तथा अपने मनोरथ को सिद्ध किया था[2]। महाभारत इसे देवताओं की तपस्या का स्थल बतलाता है जहां केवल तीन रात ठहरने से अश्वमेध यज्ञ करने का फल मिलता है। अनुशासन पर्व में अर्जुन के इस स्थान पर जाने का उल्लेख मिलता है[3]। पिछले काल में भी इसकी पवित्रता अक्षुण्ण बनी रही। महाकवि कालिदास ने गोकर्ण के महादेव को वीणा बजा कर प्रसन्न करने के लिये नारद जी का आकाश मार्ग से वहां जाने का उल्लेख किया है[4]।

१—उग्रभैरव के पराजय के विशेष विवरण के लिये देखिये:—

माधव—शंकर दिग्विजय—सर्ग ११

सदानन्द—शंकर विजयसार—सर्ग १०

आनन्दगिरि ने कापालिक के पराजय की घटना का उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया है।

२—ततः क्रोधेन तेनैव, दशग्रीवः सहानुजः।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म, तपसे धृतमानसः॥
प्राप्स्यामि तपसा काममिति कृत्वाध्यवस्य च।
आगच्छदात्मसिद्ध्यर्थं गोकर्णस्याश्रमं शुभम्॥

वा० रा०, उत्तर काण्ड ९। ४५-४६।

३—अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम्॥ वनपर्व ८५। २४

४—अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः॥

रघुवंश ८।३३

इसी गोकर्ण क्षेत्र में आचार्य शंकर ने तीन रात तक निवास किया। भगवान् महाबलेश्वर की स्तुति करते हुये वहाँ के विद्वानों और भक्तों के सामने अपने अद्वैत मार्ग का शंकर ने उपदेश किया।[1]

हरिशंकर की यात्रा

गोकर्ण के अनन्तर शंकर हरिशंकर नामक तीर्थस्थल में पधारे। यहाँ हरिहर की मूर्ति विराजमान थी। आचार्य शंकर ने अद्वैतवाद के प्रतीकरूप हरिशंकर की स्तुति श्लेषात्मक पद्यों के द्वारा इस प्रकार की :—

हे हरे! आपने मन्दर नामक पहाड़ को धारण कर देवताओं को अमृत भोजन कराया है। मन्दराचल के धारण करने पर भी आप स्वयं खेद रहित हैं। हे कच्छप रूपी नारायण! आप अपनी अपार कृपा मुझ पर कीजिये। (शिव को लक्षित कर) हे भगवान् शंकर! आप मन्दर नामक विष को धारण करने वाले तथा भक्षण करने वाले हैं। कैलाश पहाड के ऊपर अपनी सुन्दर मूर्ति से आप नाना प्रकार के विलास करते हैं। इस दास को भी अपनी अपार कृपा का पात्र बनाइये।[2]

हे नृसिंह रूपी नारायण! आपने सिंह रूप धारण कर देवताओं के शत्रु हिरण्यकश्यपु का संहार किया है और प्रह्लाद को आनन्दित बनाया है। अत: मैं आपको प्रणाम करता हूं। (शिव को लक्षित कर) हे शंकर! आप पंच मुख धारण करने वाले हैं, आपके मस्तक के ऊपर नदियों में सब श्रेष्ठ गङ्गा विराजती हैं। गजासुर को मार कर आप अत्यन्त आनन्दित हुये। अतः मैं आपको प्रणाम करता हूँ।[3]

मूकाम्बिका की यात्रा

हरिशंकर की यात्रा करके शंकर मूकाम्बिका की ओर चल पड़े। रास्ते में एक विचित्र घटना घटी। एक ब्राह्मण दम्पति अपने मरे हुये एकलौते लड़के को गोदी में लेकर विलाप कर रहे थे। आचार्य का कोमल हृदय उनके करुण रुदन पर पिघल गया। वहाँ के लोगों ने शंकराचार्य से बड़ी प्रार्थना की कि भगवन्! आप अलौकिकशक्ति सम्पन्न हैं। आप कृपया इस ब्राह्मण बालक को जिला दीजिये। आकाश वाणी ने भी शंकर को इस कार्य के लिये प्रेरित किया। तब आचार्य ने उसे अपने योगबल से जिला दिया। इस अद्भुत घटना को देखकर लोगों के आश्चर्य तथा ब्राह्मण-दम्पत्ति के हर्ष का ठिकाना न रहा। अनन्तर वे मूकाम्बिका के मन्दिर में पहुँचे और भगवती

१—यात्रा के उल्लेख के लिए द्रष्टव्य—माधव (१२ सर्ग) तथा सदानन्द (११ सर्ग)

२—यो मन्दरागं दधदादितेयान्, सुधाभुजः स्माऽऽतनुतेऽविषादी।
स्वामद्रिलीलोचितचारुमूर्ते, कृपामपारां स भवान् व्यधत्ताम्॥

३—समावहन् केसरितां वरां यः, सुरद्विषत्कुञ्जरमाजघान।
प्रह्लादमुल्लासितमादधानं पञ्चाननं तं प्रणुम पुराणम्॥
माधव—शं॰ दि॰ १२। १०, १२

की रहस्यमयी वाणी में स्तुति की।[१]

मूकाम्बिका की स्तुति करके और कुछ दिन वहाँ निवास करके शंकर 'श्रीवलि' नामक अग्रहार में पहुँचे। अग्रहार उस बस्ती को कहते हैं जिसमें केवल ब्राह्मणों का ही निवास रहता है। इस अग्रहार में लगभग (२०००) दो हजार अग्निहोत्री ब्राह्मण निवास करते थे। उसमें प्रभाकर नामक एक ब्राह्मण भी रहते थे। ये थे तो बड़े सम्पन्न, धना और मानी परन्तु अपने पुत्र की मूर्खता और पागलपन के कारण नितान्त दुःखित थे। वह न कुछ सुनता था और न कहता था। आलसी की तरह कुछ विचार करता हुआ पड़ा रहता था। परन्तु वह बड़ा गुणसम्पन्न था। प्रभाकर ने ब्राह्मण-पुत्र के जी उठने की बात पहिले ही सुन रक्खी थी। उस अग्रहार में शंकर के आते ही एक दिन वे अपने पुत्र के साथ उनके पास पहुँचे और अपनी दुरवस्था कह सुनायी—भगवन्, यह मेरा पुत्र तेरह वर्ष का हो गया। किसी प्रकार हमने इसका उपनयन कर दिया है। परन्तु न तो इसे अक्षरज्ञान अभी तक हुआ, न वेद का सामान्य परिचय ही। इसका आचरण विलक्षण है। न खाने का नियम और न पीने का नियम। जब जो चाहता है, करता है। क्या आप इसकी जड़ता का कारण बतलायेंगे? प्रभाकर के इन वचनों को सुनकर शंकराचार्य ने उस बालक से पूछा कि तुम कौन हो? तुम जड़ के समान आचरण क्यों करते हो? इतना सुनते ही वह बालक कहने लगा—भगवन्! मैं जड़ नहीं हूँ। जड़ पुरुष तो मेरे पास रहने से कार्य में स्वयं लग जाता है। मैं आनन्द रूप हूँ। देह इन्द्रिय आदि से अलग हूँ। मैं विकारों से ही चैतन्य रूप हूँ। कौन कहता है कि मैं जड़ हूँ?[२]

हस्तामलक शिष्य की प्राप्ति

इतना सुनते ही सभा मण्डली आश्चर्यचकित हो गयी। पिता जिस बालक को नितान्त मूर्ख, आलसी, तथा पागल समझता था, वह बहुत बड़ा महाज्ञानी निकला। आचार्य ने प्रभाकर से कहा कि यह लड़का तुम्हारे यहाँ रहने योग्य नहीं है। पूर्व जन्म के अभ्यास से यह सब कुछ जानता है परन्तु कुछ कहता नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो बिना पढ़े वह इतने सुन्दर श्लोक कैसे कहता। संसार की वस्तुओं में इसकी किसी प्रकार आसक्ति नहीं है। इतना कह कर शंकर ने उस बालक को अपना शिष्य बना लिया और उसका नाम हस्तामलक रक्खा।

१ आराधनं ते बहिरेव केचिदन्तर्बहिश्चैकतमेऽन्तरेव।
अन्य परे त्वम्य! कदापि कुर्युर्नैव त्वदेकथानुभवैकनिष्ठाः॥
शं० दि० १२।१०

२ नाहं जडः किन्तु जडः प्रवर्तते, मत्सन्निधानेन न सन्दिहे गुरो।
षडूर्मिषड्भावविकारवर्जितं, सुखैकतानं परमस्मि तत्पदम्॥
शं० दि० १२।५५

शृङ्गेरी

शंकराचार्य श्रीबलि अग्रहार में निवास करने के अनन्तर अपने शिष्यों के साथ शृङ्गगिरि पधारे। *यह वही स्थान है, जहाँ आज से लगभग बारह वर्ष* पहिले शंकर ने एक विशालकाय सर्प को अपना फन फैला कर मेढक के बच्चों की रक्षा करते हुये देखा था। उस पुरानी बात को उन्होंने अपने शिष्यों से कह सुनाया। इसी स्थान पर ऋषि शृङ्ग ने तपस्या की थी। स्थान इतना पवित्र था कि बहुत पहिले से ही वहाँ मठस्थापन करने का उन्होंने संकल्प कर लिया था। *आज उसी पुरातन संकल्प को कार्यान्वित करने का अवसर आ गया था।* शिष्यों की मण्डली ने आचार्य के इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। तदनुसार ऋषि शृङ्ग के प्राचीन आश्रम में शिष्यों के अनुरोध से रहने योग्य कुटियाँ तैयार की गयीं। शंकर ने मन्दिर बनवा कर शारदा देवी की प्रतिष्ठा की और श्री विद्या सम्प्रदायानुसार तान्त्रिक पूजा, पद्धति की व्यवस्था कर दी, जो उस समय से लेकर आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।

शृंगेरी की स्थिति

यह स्थान आजकल मैसूर रियासत के कडूर जिले में तुङ्ग नदी के बायें किनारे पर अवस्थित है। यह आजकल एक बहुत बड़ा संस्थान (देव स्थान) है, जहाँ अद्वैत विद्या का प्रचार विशेष रूप से हो रहा है। शंकराचार्य के द्वारा स्थापित आदि-पीठ होने के कारण इस स्थान की महत्ता तथा गौरव विशेष है। यहाँ के शंकराचार्य की मान्यता अत्यधिक है। मैसूर की रियासत से इसे बड़ी भारी जागीर प्राप्त हुई है तथा वार्षिक सहायता भी दी जाती है। विजयनगर के राजाओं ने भी इस मठ को विशेष जागीर दी थी।[1]

आचार्य शंकर ने शृङ्गेरी मठ को अपने रचनात्मक कार्य कलाप का मुख्य केन्द्र बनाया। उत्तर काशी में रह कर शंकर ने अपने भाष्य-ग्रन्थों की रचना कर ली थी परन्तु उसके विपुल प्रचार का अवसर उन्हें बहुत ही कम मिला था। इस स्थान पर रहते समय उन्हें इनके प्रचार का अच्छा अवसर मिला। उन्होंने अपने विद्वान् शिष्यों को जिनकी बुद्धि शास्त्र के रहस्यग्रहण करने में नितान्त सूक्ष्म थी, अपने भाष्यों को पढ़ाया। यहीं पर रहते हुये उन्हें एक मनीषी शिष्य की प्राप्ति हुयी। यह शिष्य आचार्य का बड़ा ही भक्त सेवक था। उसका नाम था गिरि। यह नामतः ही गिरि न था प्रत्युत गुणतः भी गिरि था। पक्का जड़ था। परन्तु था शंकर का एकमात्र भक्त।

१—इस स्थान के विशेष वर्णन के देखिये—इसी ग्रन्थ का मठ-विवरण

तोटकाचार्य की प्राप्ति

आचार्य अपने भाष्यों की व्याख्या जब विद्वान् शिष्यों के सामने किया करते थे तब वह भी उसे सुना करता था। एक दिन की घटना है कि वह अपना कौपीन धोने के लिये तुङ्गभद्रा के किनारे गया था। उसके आने में कुछ विलम्ब हुआ। शंकर ने उसकी प्रतीक्षा की। उपस्थित विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाने में कुछ विलम्ब कर दिया। पद्मपाद आदि शिष्यों को यह बात बड़ी बुरी लगी—इस मृत्पिण्डबुद्धि शिष्य के लिये गुरु जी का इतना अनुरोध कि उन्होंने उसी के लिये पाठ पढ़ाने से रोक रक्खा। शंकर ने यह बात अनुमान से जान ली तथा अपनी अलौकिक शक्ति से बस शिष्य में समस्त विद्याओं का संचार कर दिया। उसके मुख से अध्यात्म विषयक विशुद्ध पद्यमयी वाणी निरर्गल रूप से निकलने लगी। इसे देख कर शिष्यों के अचरज का ठिकाना न रहा। जिसे वे वज्र-मूर्ख समझ कर अनादर का पात्र समझते थे वही अध्यात्म-विद्या का पारगामी पण्डित निकला। शिष्य के मुख से तोटक छन्दों में वाणी निकली थी। इसीलिये गुरु जी ने इनका नाम तोटकाचार्य रख दिया। ये आचार्य के पट्ट शिष्यों में से अन्यतम थे। ज्योतिर्मठ की अध्यक्षता का भार इन्हीं को सौंपा गया।

वार्तिक की रचना

ऊपर कहा गया है कि शृङ्गेरी निवास के समय शंकर ने अपने भाष्यों के प्रचार की ओर भी दृष्टि डाली। यह अभिलाषा तो बहुत दिन से उनके हृदय में अङ्कुरित हो उठी थी कि ब्रह्मसूत्र भाष्य को लोकप्रिय और बोधगम्य बनाने के लिये उनके ऊपर वार्तिक[1] तथा टीका की रचना करना नितान्त आवश्यक है। भट्ट कुमारिल से भेंट करने का प्रधान उद्देश्य इसी कार्य की सिद्धि थी। परन्तु उस विषम स्थिति में उनसे यह कार्य सिद्ध न हो सका। शृङ्गेरी का शान्त वातावरण इस कार्य के लिये नितान्त अनुकूल था। सामने पवित्र तुङ्गा नदी कल-कल करती हुयी बहती थी। स्थान जन संघर्ष से नितान्त दूर था। किसी प्रकार का जन कोलाहल तथा संसार का दु.समय प्रपञ्च उस पार्वत्य प्रदेश में प्रवेश न कर सकता था। चारों तरफ घने जंगलों से प्रकृति ने उसे घेर रक्खा था। इसी शान्त वातावरण में वार्तिक रचना का अच्छा अवसर दीख पड़ा। शंकर ने सुरेश्वर से अपनी इच्छा प्रकट की कि वे ही ब्रह्मसूत्र भाष्य पर वार्तिक लिखें। सुरेश्वर ने अपनी नम्रता प्रकट करते हुये अपनी अयोग्यता का निवेदन किया। परन्तु गुरु के आग्रह करने पर उन्होंने यह गुरुतर भार वहन करना स्वीकार किया। परन्तु शिष्यों से बड़ा झमेला

[1] जिस टीका ग्रन्थ में मूलग्रन्थ में कहे गये, नहीं कहे गये अथवा बुरी तरह कहे गये सिद्धान्तों की मीमांसा की जाती है उसे वार्तिक कहते हैं। इसमें मूल-ग्रन्थ के विषयों की केवल व्याख्या ही नहीं रहती प्रत्युत उसके विरोधी मतों का भी साङ्गोपाङ्ग खण्डन रहता है।

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहु: वार्तिकज्ञाः मनीषिणः॥

खड़ा किया। आचार्य शंकर के अधिकाश शिष्य पद्मपाद के पक्षपाती थे। उन्होंने आचार्य का कान भरना आरम्भ किया कि यह वार्तिक-रचना का कार्य सुरेश्वर से भलीभांति नहीं हो सकता। पूर्वाश्रम मे वे (सुरेश्वर) गृहस्थ थे और कर्म-मीमांसा के अनुयायी तथा आग्रही प्रचारक थे। उनका यह संस्कार अभी तक छूटा न होगा। यह शास्त्रार्थ मे आपके द्वारा जीते गये थे अतः विवश होकर इन्होंने संन्यास ग्रहण किया है, अपनी स्वतन्त्रता और स्वेच्छा से नहीं। इसी प्रकार के अनेक निन्दात्मक वचन कह कर शिष्यों ने गुरु के प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं किया। उनकी सम्मति में पद्मपाद ही इस कार्य को सम्पन्न करने के पूर्ण अधिकारी थे।

आचार्य बड़े संकट में पड़ गये। अपनी इच्छा के विरुद्ध शिष्यों की यह भावना जान कर उनके चित्त मे अत्यन्त क्षोभ हुआ। वे पद्मपाद की योग्यता को जानते थे तथा उनकी गाढ़ गुरु-भक्ति से भी परिचित थे। उन्होंने पद्मपाद को बुला कर अपना प्रस्ताव सुनाया। परन्तु पद्मपाद ने हस्तामलक को ही भाष्य लिखने मे समर्थ बतलाया, क्योंकि उनके सामने वेदान्त के समग्र सिद्धान्त हाथ के आँवले की तरह प्रत्यक्ष थे। आचार्य शकर पद्मपाद के इस प्रस्ताव को सुनकर मुसकराने लगे तथा उनका पूर्व चरित सुना कर कहा कि वे निपुण अवश्य हैं, वेदान्त के तत्त्वों मे उनका प्रवेश गम्भीर है, परन्तु वे तो सदा समाहित (समाधि मे, लग्न) चित्त रहा करते हैं, अतः उनकी प्रवृत्ति बाह्य कार्यो मे कथमपि नहीं होती। अत. मैं तो उन्हे इस कार्य के योग्य नहीं समझता। मेरी दृष्टि मे तो समस्त शास्त्रों के तत्त्व को जानने वाले सुरेश्वर ही इस कार्य के सर्वथा योग्य हैं। उनके समान कोई दूसरा नहीं दीख पड़ता। परन्तु मैं अपने अधिकांश शिष्यों के मत के विरुद्ध कार्य नहीं करूँगा। जब उनका आग्रह तुम्हारे ही लिये है तब तुम मेरे भाष्य के ऊपर वृत्ति बनाओ; वार्तिक बनाने का कार्य तो स्वयं सुरेश्वर ने स्वीकार कर ही लिया है।

पद्मपाद से यह कहकर आचार्य शकर ने सुरेश्वर से भी शिष्यों के इस आक्षेप को कह सुनाया तथा उनसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने के लिये कहा।

सुरेश्वर के द्वारा आक्षेप-खण्डन

शिष्य ने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर वेदान्त तत्त्वों का प्रतिपादक 'नैष्कर्म्य सिद्धि' लिखा। आचार्य ने इस ग्रन्थ को देख कर विशेष हर्ष प्रकट किया। सुरेश्वर ने केवल ग्रन्थ लिख कर ही अन्य शिष्यों के आक्षेपों को निःस्सार प्रमाणित नहीं किया प्रत्युत युक्तियों के बल पर भी उनकी विरुद्ध उक्तियों का भलीभाँति खण्डन कर दिया। उनका कहना था कि :—अवश्य ही मैं पूर्वाश्रम में गृहस्थ था, परन्तु सन्यास लेने पर कौन कहता है कि मुझमें गृहस्थ की वही प्राचीन कर्मानुसक्ति बनी हुई है। बालकपन के बाद यौवन आता है तो क्या बाल्यकाल की चपलता यौवन काल में भी बनी रहती है? सच तो यह है कि जो अवस्था बीत गयी,

वह बीत गयी। मन ही तो बन्धन और मोक्ष का कारण है। पुरुष का चरित्र निर्मल होना चाहिये, चाहे वह गृहस्थ हो अथवा सन्यासी [१]।

लोगों का यह आक्षेप या दोषारोपण कि मैं संन्यास को योग्य आश्रम नहीं मानता, नितान्त अयथार्थ है। यदि इसे मैं आश्रम नहीं मानता तो आपके साथ शास्त्रार्थ करने के अवसर पर मैं इसे ग्रहण करने की प्रतिज्ञा क्यों करता? यह मेरी प्रतिज्ञा ही इस बात की साक्षिणी है कि मेरा इस आश्रम में विश्वास पूर्ण तथा अटूट है। शिष्यों का यह भी आक्षेप ठीक नहीं कि भिक्षु लोग मेरे घर में नहीं आते हैं—क्योंकि मैं उनके प्रति आदर-सत्कार नहीं दिखलाता। इस आक्षेप के खण्डन के लिये आप ही स्वयं प्रमाण हैं। क्या मेरे घर में आपने प्रवेश नहीं किया था? क्या मैंने आपकी उचित अभ्यर्थना नहीं की? मैं सच कहता हूँ कि पराजय के कारण से मैंने संन्यास नहीं ग्रहण किया है, अपितु वैराग्य के उदय होने से। शंकर के ऊपर इन वचनों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा परन्तु अन्य शिष्यों का आग्रह मान कर सुरेश्वर से दो उपनिषद्-भाष्यों पर वार्तिक लिखने के लिये उन्होंने कहा:—(१) तैत्तिरीय-उपनिषद्-भाष्य के ऊपर, क्योंकि यह ग्रन्थ आचार्य की अपनी शाखा—तैत्तिरीय शाखा—से संबद्ध था और (२) बृहदारण्यक उपनिषद् पर, क्योंकि यह भाष्य सुरेश्वर की अपनी शाखा—काण्व शाखा—से सम्बन्धित था। यही अन्तिम ग्रन्थ सुरेश्वर की अनुपम तथा सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस प्रकार इन्होंने वार्तिकों की रचना कर 'वार्तिककार' का नाम सार्थक किया।

पद्मपाद की रचना

गुरु की आज्ञा पाकर पद्मपाद ने शारीरक भाष्य के ऊपर टीका बनायी जिसका पूर्वभाग 'पञ्चपादिका' के नाम से और उत्तरभाग 'वृत्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। 'पञ्चपादिका' ब्रह्मसूत्र के ऊपर पहिली टीका है जिसमें भाष्य के गूढ़अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। पद्मपाद ने इसे गुरुशंकर को गुरुदक्षिणा रूप में समर्पित किया। गुरु ने अपना अत्यन्त हर्ष प्रकट किया। कहते हैं कि इन्होंने सुरेश्वर से स्पष्ट ही कहा कि इस टीका के पाँच ही चरण प्रसिद्ध होंगे जिसमें केवल चतुःसूत्री (ब्रह्मसूत्र के आरम्भिक चार सूत्र) की टीका ही विशेष विख्यात होगी। इस प्रकार आचार्य की अध्यक्षता में ग्रन्थ-प्रणयन का कार्य सुचारु रूप से चलता रहा।

१—अहं गृही नाम विचारणीयं; किं ते न पूर्वं मन एव हेतुः।
बन्धे च मोक्षे च मनो विशुद्धौ, गृही भवेद्वाऽप्युत मस्करी वा॥

—शं० दि० १३।५७

एकादश परिच्छेद

पद्मपाद का तीर्थाटन

पद्मपाद का घर चोल (द्रविड) देश में था। परन्तु विद्याध्ययन के लिये वे बाल्यकाल में ही काशी में चले आये थे। यहीं पर काशी में उनकी शंकराचार्य से भेंट हुई और वे उनके शिष्य बन गये। तब से वे लगातार अपने गुरु के साथ ही अनेक तीर्थों में भ्रमण करते रहे। शृङ्गेरी में 'पञ्चपादिका' की रचना के अनन्तर उनके हृदय में दक्षिण के तीर्थों के देखने की अभिलाषा जगी। शंकर से उन्होंने इस कार्य के लिये आज्ञा माँगी। पहिले तो वे इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे; परन्तु शिष्य के विशेष आग्रह करने पर उन्होंने तीर्थयात्रा की अनुमति दे दी। अपने अनेक सहपाठियों के साथ में पद्मपाद दक्षिण के तीर्थों के दर्शन के लिये निकल पड़े। वे पहिले पहल 'कालहस्तीश्वर'[1] में पहुँचे और सुवर्णमुखरी नामक नदी में स्नान कर उन्होंने महादेव की विधिवत् पूजा की और वहाँ कुछ काल तक निवास किया। यहाँ से चलकर वे काञ्ची[2] क्षेत्र में पहुँचे। शिवकाञ्ची में स्थित कामेश्वर और कामाक्षी नाम से विख्यात शिव, पार्वती की उन्होंने विधिवत् अर्चना की। अनन्तर काञ्ची के पास ही 'कल्लाल' नामक ग्राम में स्थित 'कल्लालेश' नामक विष्णुमूर्ति का दर्शन कर भक्ति-भाव से उनकी पूजा की। वहाँ से वे 'पुण्डरीकपुर' नामक नगर में पधारे। वहाँ शिव का अखण्ड ताण्डव हुआ करता है जिसे निर्मल चित्त वाले तथा दिव्य चक्षु से युक्त मुनिजन सदा प्रत्यक्ष किया करते हैं। वहाँ से चलकर वे शिवगङ्गा नामक प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र में पहुँचे। यहाँ के शिवलिङ्ग का नाम दाक्षायणीनाथ है। पद्मपाद ने स्नानादि करके महादेव की पूजा की। अब पद्मपाद की इच्छा रामेश्वर-दर्शन की हुई। उन्होंने उधर जाने का मार्ग पकड़ा। रास्ते में उन्हें परम पवित्र कावेरी नदी मिली। मुनि ने यहाँ पर नदी में विधिवत् स्नान किया और आगे प्रस्थान किया।

पद्मपाद के मामा इसी प्रदेश में निवास करते थे। वे स्वयं बड़े भारी पण्डित थे। उन्होंने अपने भानजे को अनेक शिष्यों के साथ आया हुआ देखकर बड़े आनन्द का अनुभव किया। पद्मपाद के इतने दिनों के बाद आने का समाचार

१—दक्षिण भारत का प्रसिद्ध शैव तीर्थ।

२—काञ्ची तो अपनी स्थिति तथा पवित्रता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह मद्रास प्रान्त का प्रसिद्ध शैव क्षेत्र है और सप्तपुरियों में से अन्यतम है। 'कल्लाल' आदि छोटे-मोटे स्थान इसी के पास थे। इस समय इनके वर्तमान नाम का पता नहीं चलता।

बिजली की तरह चारों ओर फैल गया। गाँव के सब लोग इन्हें देखने के लिये दौड़े आये। पद्मपाद में भी कितना परिवर्तन हो गया था। गये तो थे ब्रह्मचारी बनकर काशी विद्याध्ययन करने और वहाँ से संन्यासी बनकर लौटे। लोगों के विस्मय का ठिकाना न रहा।

पद्मपाद ने गृहस्थ आश्रम की प्रशंसा कर उन्हें अपने धर्म का विधिवत् अनुष्ठान करने का आदेश दिया। गृहस्थाश्रम ही तो सब आश्रमों का मूल आश्रय है। प्रातः तथा सायंकाल अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने वाला मृगचर्मधारी ब्रह्मचारी जब भूख से व्याकुल हो जाता है तब अपनी पूर्ति के लिये गृहस्थ के ही आश्रम में जाता है। इसी प्रकार उच्चस्वर से शास्त्र की व्याख्या करने वाले तथा प्रणव मन्त्र जपने वाले संयमी संन्यासी की उदर ज्वाला जब दोपहर के समय धधकने लगती है तो वह गृहस्थ के ही घर में तो भिक्षा के लिये जाता है। परोपकार ही गार्हस्थ धर्म का मूलमन्त्र है। विचार तो कीजिये, चारों पुरुषार्थों की सिद्धि शरीर के ऊपर अवलम्बित है[1]। शरीर यदि स्वस्थ्य है तो पुरुषार्थों का अर्जन भलीभाँति हो सकता है तथा यह शरीर अन्न के ऊपर अवलम्बित है। अन्न तो हमें गृहस्थों से ही प्राप्त होता है इसीलिये संसार के जितने फल हैं वे गृहस्थ रूपी वृक्ष से प्राप्त होते हैं। अतः गृहस्थाश्रम में रहकर उसके धर्म को आप लोग भली भाँति निबाहिये। यही मेरे उपदेश का सारांश है।

गार्हस्थ धर्म की प्रशंसा

पद्मपाद अपने मामा के घर में टिके। उनके घर में भोजन किया। भोजन कर लेने पर मामा ने पूछा कि इस विद्यार्थी के हाथ में कौन सी पुस्तक गुप्त रूप से रक्खी है। पद्मपाद ने कहा कि यह वही टीका है जिसे मैंने अपने गुरु शंकराचार्य के द्वारा रचित ब्रह्म-सूत्र भाष्य पर लिखी है। मामा ने उस ग्रन्थ का अवलोकन कर, अपने भानजे की विलक्षण बुद्धि देख एक ही साथ आनन्द और खेद का अनुभव किया। आनन्द हुआ प्रबन्ध लिखने की निपुणता को देख कर परन्तु खेद हुआ स्वाभिमत मीमांसा मत का खण्डन देख कर। अनेक प्रबल युक्तियों के सहारे पद्मपाद ने अपने अद्वैत मत का मण्डन और रक्षण किया था। इस कारण तो उन्हें महान हर्ष हुआ परन्तु जब उन्होंने प्रभाकर मत का—जो उनका अपना खास मत था—खण्डन देखा तो उनके हृदय में डाह की आग जलने लगी। पद्मपाद को रामेश्वर की ओर जाना अभीष्ट था परन्तु वे अपने साथ इस ग्रन्थ को ले जाना नहीं चाहते थे। कौन जाने रास्ते में कुछ अनर्थ हो जाय, इसलिये उन्होंने अपना ग्रन्थ अपने मामा के यहाँ रख दिया और शिष्यों के साथ

१—शरीरमूलं पुरुषार्थसाधनं
तच्चान्नमूलं श्रुतितोऽवगम्यते।
तच्चान्नमस्माद् गृहमेधिषु स्थितं
सर्वं फलं गेहपतिप्रसाधनम् ॥

—शं० दि० १०।३०।

दक्षिणयात्रा के लिये चल पड़े। अगस्त्य के आश्रम का दर्शन करते हुये वे सीधे सेतुबन्ध [1] मे पहुँचे। वहाँ भगवान् शंकर—रामेश्वर—की विधिवत् पूजा की और कुछ दिनों तक वहाँ निवास किया।

पद्मपादिका का जलाया जाना

पद्मपाद यात्रा के लिये गये अवश्य परन्तु उनका चित्त किसी अतर्कित विघ्न की आशंका से नितान्त चिन्तित रहता था। उधर उनके मामा के हृदय में विद्वेष की आग जल ही रही थी। अपने ही घर में अपने ही मत को तिरस्कृत करने वाली पुस्तक रखना उन्हें असह्य हो उठा। घर जलाना उन्हें मंजूर था परन्तु पुस्तक रखना सह्य न था। बस उन्होंने घर में आग लगा दी। आग की लपटें धू धू करती हुई आकाश में उठने लगीं। देखते-देखते घर के जलने के साथ ही साथ पद्मपाद का यह ग्रन्थ-रत्न भी भस्मसात् हो गया। उधर पद्मपाद रामेश्वर से लौट कर आये और महान् अनर्थ की यह बात सुनी। मामा ने बनावटी सहानुभूति दिखलाते हुये ग्रन्थ के नष्ट हो जाने पर अत्यन्त खेद प्रकट किया। पद्मपाद ने उत्तर दिया कि कोई आपत्ति नहीं है। ग्रन्थ अवश्य नष्ट हो गया है परन्तु मेरी बुद्धि तो नष्ट नहीं है। फिर वह बना लेगी। सुनते हैं कि इस उत्तर को सुन कर मामा ने एक नया सूझ निकाली। उनकी बुद्धि को विकृत करने के लिये उन्होंने भोजन में विष मिला कर उनको दे दिया जिससे पद्मपाद की फिर वैसा ही पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखने की योग्यता जाती रही। उन्होंने पुनः उस ग्रन्थ को लिखने का उद्योग किया परन्तु लिखने में नितान्त असमर्थ रहे। इस घटना से वे बड़े क्षुब्ध हुये और गुरु के दर्शन के लिये उन्होंने अब लौट जाना ही उचित समझा। मतविद्वेष के कारण मामा के द्वारा ऐसा अनर्थ कर बैठना एक अनहोनी तथा अचरजभरी घटना थी। पद्मपाद की यह कृति उनके मामा की विद्वेषाग्नि में जल भुन कर राख हो गयी।

शंकर की केरल यात्रा

शंकर ने शृङ्गेरी में शारदा की पूजा-अर्चा का भार अपने पट्ट शिष्य आचार्य सुरेश्वर के ऊपर छोड़कर अपने देश (जन्मभूमि) केरल में जाने का निश्चय किया। उनके हृदय में अपनी वृद्धा माता के दर्शन की लालसा उत्कट हो उठी। उन्होंने अकेले ही केरल जाना निश्चित किया। जब वे अपनी जन्मभूमि कालटी की ओर अपना पैर बढ़ाये जा रहे थे तब कितनी ही प्राचीन बातों की मधुर स्मृतियाँ उनके हृदय में जाग रही थीं। उन्हें अपना बालकपन स्मरण हो रहा था। माता की ममता मूर्तिमती बन कर उनके नेत्रों के सामने झूलने लगी। उनके हृदय में उनकी सब से अधिक चिन्ता थी जिसने लोक के उपकार के निमित्त अपने स्वार्थ को तिलाञ्जलि दी थी। जगत् के मंगल के लिये उन्होंने अपने एकलौते बेटे को संन्यास लेने की अनुमति दी थी। इतना विचार करते ही उनका ....

1—रामेश्वरम्—भारत के सुदूर दक्षिण में समुद्र के किनारे प्रसिद्ध शैव तीर्थ।

भक्ति से गद्-गद् हो गया। उनका चित्त लालायित हो रहा था कि कब अपनी वृद्धा माता का दर्शन कर अपने को कृतकृत्य बनाऊँगा! शंकर आठ वर्ष की उम्र में इसी रास्ते से होकर आये थे, आज उसी रास्ते से लौट रहे थे। अन्तर इतना ही था कि उस समय वे गुरु की खोज में निकले थे और आज वे अद्वैत वेदान्त के उद्भट प्रचारक, मर्मज्ञ व्याख्याता तथा शिष्यों के गुरु बन कर लौट रहे थे।

माता—मृत्यु शय्या पर

इस प्रकार सोचते हुये वे अपने जन्म स्थान कालटी में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने अपनी माता को रोगशय्या पर देखा। इतने दिनों के बाद अपने पुत्र को देख कर माता का हृदय खिल उठा, विशेषत ऐसे अवसर पर जब वह अपने जीवन की घड़ियाँ गिन रही थी। शंकर ने अन्तिम समय पर माता के पास आने की अपनी प्रतिज्ञा को खूब निभाया, माता ने प्रसन्न होकर कहा कि बेटा! मैं बड़ी भाग्यवती हूँ कि ऐसे अवसर पर तुम्हें कुशली और प्रसन्न चित्त देख रही हूँ। अब मुझे अधिक क्या चाहिये? बुढ़ापे के कारण जीर्ण शीर्ण इस शरीर को ढोने की क्षमता अब मुझ में नहीं है। मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे ऐसा उपदेश दो कि मैं इस भवसागर से पार हो जाऊँ। शंकर ने उन्हें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया और माता ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि इस निर्गुण तत्त्व को मेरी कोमल बुद्धि ग्रहण नहीं कर रही है। अतः तुम सुन्दर सगुण ईश्वर का मुझे उपदेश दो। तब शंकर ने भुजङ्गप्रयात छन्द में अष्टमूर्ति शंकर की स्तुति की। शिव के दूत हाथों में डमरू और त्रिशूल लेकर झट से उपस्थित हो गये। उन्हें देख कर उनकी माता डर गयीं तथा उनके साथ जाने में अपनी अनिच्छा प्रकट की। तब आचार्य ने विनयपूर्वक इन दूतों को लौटाया और सौम्य रूप भगवान् विष्णु की स्तुति की। माता को यह रूप बहुत पसन्द आया। मरण-काल उपस्थित होने पर माता ने पुत्र द्वारा वर्णित कमलनयन भगवान् कृष्ण का ध्यान किया और इस प्रकार हृदय में चिन्तन करते हुये उस भाग्यवती माता ने योगियों के समान अपने शरीर को छोड़ा।

माता का दाह-संस्कार

अब शंकर के सामने यह बहुत बड़ी समस्या थी कि माता की अन्त्येष्टि क्रिया किस प्रकार की जाय। इस कार्य के लिये उन्होंने अपने बन्धु-बान्धवों को भी बुलाया। संन्यास ग्रहण करने के पहिले ही शंकर ने अपनी माता का दाह संस्कार अपने ही हाथों करने की प्रतिज्ञा की थी। तदनुसार वे स्वय इस का के लिये तैयार हो गये। उनके दायादों की हठधर्मिता क्या कही जाय? एक तो वे पहिले ही से उनकी कीर्ति-कथा सुनकर उद्विग्न थे। दूसरे संन्यासी के द्वारा दाह संस्कार करने की बात उन्हें शास्त्र से विरुद्ध ज्ञात हुई। अतः उन लोगों ने सहायता देने से मुँह मोड़ लिया। तब शंकर ने अकेले ही अपनी माता का दाह-संस्कार करने का दृढ़ निश्चय किया। वे अपने माता के शव को उठा कर घर के दरवाजे पर ले गये और आग्रह करने पर भी उनके दायादों ने उनकी माता को जलाने के लिये आग तक

न दी तब उन्होंने घर के समीप ही सूखी हुई लकड़ियाँ बटोरी। कहा जाता है कि उन्होंने अपनी माता की दाहिनी भुजा का मन्थन कर स्वयं आग निकाली और उसी से उनका दाह-संस्कार किया[1]। अपने दायादों के इस हृदयहीन बर्ताव पर उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्होंने उन ब्राह्मणों को शाप दिया कि तुम्हारे घर के पास ही आज से श्मशान बना रहेगा। हुआ भी वही जो आचार्य ने कहा था। आज भी मालाबार प्रान्त के ब्राह्मण अपने घर के द्वार पर ही अपना मुर्दा जलाते हैं।

शंकर की यह मातृभक्ति नितान्त श्लाघनीय है। यह उनके चरित्र का बड़ा ही माधुर्यमय अंग है। माता को छोड़ कर शंकर का कोई भी सगा संबंधी न था। माता की अनुकम्पा से ही उन्हें अपने जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति हुई थी। ऐसी माता की अनुपम ममता का भला वे अनादर कैसे कर सकते थे? इसीलिये संन्यास धर्म के *आपाततः विरुद्ध होने पर भी तथा दायदों के तिरस्कार को सहने* पर भी शंकर ने वह कार्य कर दिखलाया जो उनके चरित्र में सदा चिरस्मरणीय रहेगा।

'पञ्चपादिका' का उद्धार

'पञ्चपादिका' के जलाये जाने पर पद्मपाद अत्यन्त दुःखित हुये, इसकी चर्चा पहिले की जा चुकी है। अब वे गुरू के दर्शन करने के लिये उद्विग्न हो उठे। उनको पहिले यह समाचार मिल चुका था कि आचार्य आजकल शृङ्गेरी छोड़ कर केरल देश में विराजमान हैं। अतः वे अपने सहपाठियों के साथ उनके दर्शन के निमित्त केरल देश में आये। गुरु के सामने शिष्यों ने मस्तक झुकाया। पद्मपाद को चिन्तित देखकर आचार्य ने इसका कारण पूछा। तब उन्होंने अपनी तीर्थ यात्रा की बिचित्र कहानी कह सुनायी :—

भगवन्! जब मैं भगवान् रंगनाथ का दर्शन कर रास्ते में लौट रहा था तब मुझे मेरे पूर्वाश्रम के मामा मिले और मुझे बड़े अनुनय-विनय के साथ अपने घर ले गये। वे थे तो भेदवादी मीमांसक, परन्तु मैंने पूर्व वासना के अनुरोध से, उनके भेदवादी होने पर भी, अपनी भाष्य-वृत्ति उन्हें पढ़ सुनाई। जहाँ कहीं उन्होंने शङ्का की वहाँ मैंने उचित उत्तर देकर पूर्ण समाधान किया। मैंने आप की सूक्तियों को अपना कवच बना कर अपने मातुल को शास्त्रार्थ में पराहत कर दिया। इस पराजय से उनका हृदय छिपे-छिपे जल रहा था। परन्तु मुझे इसकी कुछ भी खबर न थी। उनके घर पर मैंने अपनी भाष्य-टीका रख दी और बिना किसी शंका के तीर्थाटन के लिये चल पड़ा। जब मैं वहाँ से लौट कर आता हूँ तो क्या देखता हूँ कि वर्षों का मेरा परिश्रम मामा की कृपा से जल कर स्वाहा

१—संचित्य काष्ठानि सुशुष्कवन्ति, गृहोपकण्ठे धृततोयपात्रः।
स दक्षिणे दोष्णि ममन्थ वह्निं, ददाह तां तेन च संयतात्मा॥

माधव—शं० दि० १४।४८

हो गया है। मुझे में अब वह सामर्थ्य न रहा जिससे मैं वृत्ति लिख सकूँ। इसी विषम स्थिति ने मुझे इतना चिन्तित बना रक्खा है।

शंकर ने यह वृत्तान्त सुनकर बड़ी सहानुभूति प्रकट की और अपने प्रिय शिष्य को यह कह कर सान्त्वना प्रदान किया कि पहिले तुमने शृङ्गेरी पर्वत के ऊपर 'पञ्चपादिका' को बड़े प्रेम से पढ़कर सुनाया था। वह मेरे चित्त में इतनी जम गई है कि हटती नहीं। तुम अपने शोक को दूर करो और आओ इसे लिख डालो। गुरु के इन सान्त्वनापूर्ण वचनों को सुनकर पद्मपाद का चित्त आश्वस्त हुआ। शंकर ने इस ग्रन्थ को ठीक आनुपूर्वी रूप से कह सुनाया और उन्होंने गुरुमुख से निकले हुये अपने ग्रन्थ को फिर से लिख डाला। बस पद्मपाद की वृत्ति का इतना ही अंश शेष है। आचार्य की अलौकिक स्मरणशक्ति देख कर शिष्य-मण्डली आश्चर्य-चकित हो गयी। क्यों न हो? अलौकिक पुरुषों की सभी बातें अलौकिक हुआ करती हैं।

राजा राजशेखर से भेंट

शंकराचार्य को केरल देश में आया हुआ सुनकर केरल नरेश राजा राजशेखर उनसे भेंट करने के लिए आए। इसी राजा ने शंकर की अलौकिक विद्वत्ता तथा लोकोत्तर प्रतिभा को उनके बाल्य काल में देखकर उस समय भी आदर प्रदर्शन किया था। यह राजा संस्कृत-काव्य का बड़ा प्रेमी था और स्वयं भी इसने तीन नाटकों की संस्कृत में रचना की थी। जब वह इस बार शंकर से भेंट करने के लिये आया तो उससे शंकर ने उन नाटकों के विषय में पूछा कि वे सर्वत्र प्रसिद्ध तो हो रहे हैं? परन्तु राजा ने शोकभरे शब्दों में अपनी असावधानी से उनके जल जाने की बात कही। बाल्यकाल में आचार्य ने इन नाटकों को राजा के मुख से सुन रक्खा था। तभी से ये तीनों नाटक उन्हें कण्ठाग्र थे। राजा की इच्छा जान कर उन्होंने इन तीनों ग्रन्थों को फिर से उन्हें लिखवा दिया[1]। *इन दोनों घटनाओं से आचार्य की अपूर्व मेधाशक्ति का अश्रुतपूर्व* दृष्टान्त पाकर शिष्य-मण्डली कृतार्थ हो गयी। राजा ने प्रसन्न होकर कहा कि भगवन् मैं आप का दास हूँ। कहिये मेरे लिये आपकी क्या आज्ञा होती है? तब शंकर ने उससे कहा कि हे राजन्! कालटी ग्राम के ब्राह्मणों को मैंने ब्राह्मण कर्म को अनधिकारी होने का शाप दिया है। आप भी उनके साथ ऐसा ही बर्ताव कीजियेगा। राजा ने इस बात को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार आचार्य ने केरल की यात्रा समाप्त की और अपनी शिष्य-मण्डली के साथ शृङ्गेरी लौट आये।

१—राजा राजशेखर के तीनों नाटक कौन से हैं? पता नहीं चलता। केरल के विद्वान् बालरामायण, बालभारत, कर्पूरमञ्जरी को ही ये तीन नाटक मानते हैं जिनका शंकर ने उद्धार किया था। उनको दृष्टि में कवि राजशेखर ही केरल के राजा राजशेखर हैं, परन्तु यह बात एक दम असंगत है। कवि राजशेखर ने 'चाहमानकुलमौलिमालिका' क्षत्रियाणी अवन्तिसुन्दरी से प्रवश्य विवाह किया था, पर वे थे यायावर ब्राह्मण। पर उनका विदर्भ में था और कर्म क्षेत्र था इस प्रान्त का कान्यकुब्ज नगर। इसीसे वे विशेष कान्यकुब्ज के पक्षपाती हैं। द्रष्टव्य ना० प्र० प० भाग ६ पृ० १८०—२०२।

द्वादश परिच्छेद

दिग्विजय यात्रा

शृङ्गेरी में मठ की स्थापना कर तथा शिष्यों के द्वारा वेदान्त ग्रन्थ की रचना करवाना आचार्य शङ्कर का आरम्भिक काल था। अब उनके सामने भारतवर्ष में सर्वत्र अद्वैत मत के प्रचार करने का अवसर आया। अब तक उनके अन्तेवासी ही उनके उपदेशामृतों का पान करते थे। अब आचार्य ने चारों ओर जनता के सामने अपने उपदेशामृत की वर्षा करने का संकल्प किया। अपने शिष्यों के साथ उन्होंने भारत के प्रसिद्ध तीर्थों में भ्रमण किया। जो तीर्थ पहले वैदिक धर्म के पीठस्थल थे, अद्वैतपरक वेदान्त के मुख्य दुर्ग थे, वे ही आज तामस तान्त्रिक पूजा तथा अन्य अवैदिक मतों के अड्डे बन गए थे। आचार्य ने इन मत वालों का यथार्थ खण्डन किया और सर्वत्र अद्वैत-वेदान्त की वैजयन्ती फहराई।

आचार्य शङ्कर के साथ उनके भक्त शिष्यों की एक बृहत् मण्डली थी। साथ ही साथ वैदिक धर्म के परम हितैषी राजा सुधन्वा भी आकस्मिक आपत्तियों से बचाने के लिए इस मण्डली के साथ थे। इस प्रकार यह मण्डली भारतवर्ष के प्रधान तीर्थ तथा धर्म-क्षेत्रों में जाती। विरोधियों की युक्तियों को आचार्य खण्डन करते और उन्हें अपने अद्वैत मत में दीक्षित करते। आचार्य शङ्कर का यह तीर्थ-भ्रमण 'दिग्विजय' के नाम से प्रख्यात है। शंकर के चरितग्रन्थों में इसी का विशेष रूप से वर्णन रहता था। इसीलिए वे 'शङ्कर दिग्विजय' के नाम से प्रख्यात होते आये हैं। प्रत्येक चरितग्रन्थ में इस दिग्विजय का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, परन्तु इन वर्णनों में परस्पर भिन्नता भी खूब है। चरितग्रन्थों की समीक्षा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दिग्विजय की प्रधानतया दो शैलियाँ हैं। एक चिद्विलास के 'शंकर-विजय विलास', अनन्तानन्द गिरि के 'शंकर विजय' तथा धनपतिसूरि की टीका में उद्धृत आनन्द-गिरि (?) के 'शंकर विजय' में स्वीकृत है तथा दूसरी शैली माधव के 'शंकर-दिग्विजय' में मान्य हुई है। दोनों में शंकर के द्वारा विहित इस दिग्विजय का क्रम भी भिन्न है तथा स्थानों में भी पर्याप्त भिन्नता है। माधव के वर्णन की अपेक्षा आनन्दगिरि का वर्णन विस्तृत है, परन्तु अनन्तानन्दगिरि के वर्णन का भौगोलिक मूल्य बहुत ही कम है। एक उदाहरण ही पर्याप्त है। आचार्य शंकर ने केदारलिंग के दर्शन के अनन्तर बदरीनारायण का दर्शन किया, परन्तु इस ग्रन्थकार का कहना है—'अमरलिंगं केदारलिंग दृष्ट्वा कुरुक्षेत्रमार्गात् बदरीनारायणदर्शनं कृत्वा······ उवाच' अर्थात् अमरलिंग केदारलिङ्ग का दर्शन कर शंकर ने कुरुक्षेत्र के मार्ग से बदरीनारायण का दर्शन किया। बात बिल्कुल समझ में नहीं आती कि केदारनाथ के दर्शन के अनन्तर बदरीनाथ का दर्शन ही उचित क्रम है, पर इसे सिद्ध करने के

लिए कुरुक्षेत्र जाने की क्या आवश्यकता ? यह तो अप्राकृतिक है तथा द्राविड प्राणायाम के समान है। इसी प्रकार की अनेक बातें मिलती हैं जिससे शङ्कर के दिग्विजय का क्रम ठीक-ठीक नहीं जमता। इसलिए हमें बाध्य होकर *दिग्विजय के स्थानों का वर्णक्रम से वर्णन करना उचित प्रतीत होता है। जिन स्थानों का वर्णन सब ग्रन्थों में मिलता है उनकी सत्यता हमें माननी ही पड़ती है।* ऐसे स्थानों के सामने ॐ चिन्ह लगा दिया गया है।

स्थानों का वर्णक्रम से वर्णन

अनन्तशयन[1] (चिद्[2]०, आ०)-इस स्थान पर आचार्य ने एक मास तक निवास किया था। यह वैष्णवमत का प्रधान केन्द्र था। यहां वैष्णवों के ६ सम्प्रदाय रहते थे—भक्त, भागवत वैष्णव, पाञ्चरात्र, वैखानस तथा कर्महीन। शङ्कर के द्वारा पूछे जाने पर इन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रतिपादित किया—वासुदेव परमेश्वर तथा सर्वज्ञ हैं। वे ही भक्तों पर अनुकम्पा करने के लिए अवतार धारण करते हैं। उनकी उपासना के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है तथा उनका लोक प्राप्त होता है। कौण्डिन्य मुनि ने वासुदेव की उपासना कर यहीं मोक्ष प्राप्त किया था। उसी मार्ग का अनुसरण हम भी करते हैं। हम लोगों में दो विभाग हैं—कोई ज्ञानमार्गी हैं और कोई कर्ममार्गी हैं। दोनों के अनुसार मुक्ति सुलभ होती है। अनन्तर छहों सम्प्रदाय वालों ने अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का सांगोपांग वर्णन किया। पांञ्चरात्र लोगों में पाँच वस्तुओं का ('पञ्चकालों' का) विशेष माहात्म्य है जिनके नाम हैं—(१) अभिगमन—कर्मणा मनसा वाचा जप-ध्यान-अर्चन के द्वारा भगवान् के प्रति अभिमुख होना; (२) उपादान—पूजानिमित्त फलपुष्पादि का संग्रह; (३) इज्या—पूजा (४) अध्याय—आगमग्रन्थों का श्रवण मनन और उपदेश; (५) योग—अष्टांग योग का अनुष्ठान। वैखानस मत में विष्णु की सर्वव्यापकता मानी जाती है। कर्महीन सम्प्रदाय गुरु को ही मोक्ष का दाता मानता है। गुरु भगवान् विष्णु से प्रार्थना करता है कि वे शिष्यों के क्लेशों को दूर कर उन्हें इस भवसागर से पार लगावें। आचार्य ने इनकी युक्तियों का सप्रमाण खण्डन किया—कर्म से मुक्ति नहीं होती; निष्काम बुद्धि से कर्मों का सम्पादन चित्त की शुद्धि करता है। तब अद्वैत ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है। वैष्णवों ने इस मत को मान लिया।

अयोध्या (आ०)—इस स्थान पर भी आचार्य पधारे थे। इस स्थल की किसी विशिष्ट घटना का उल्लेख नहीं है।

अहोबल[3] (आ०)—भगवान् नरसिंह के आविर्भाव का यह परम पावन

[1]यह स्थान सुदूर दक्षिण के त्रिवेन्द्रम रियासत में तथा दक्षिणी समुद्र के तीर पर अवस्थित है। त्रिवेन्द्रम के महाराजा आज भी वैष्णव धर्म के उपासक हैं। 'पद्मनाभ' का सुप्रसिद्ध मन्दिर भी यहीं है।

[2]अध्याय २८ (चिद्० ग्रन्थ० पृ० ७-१०)।

[3]चिद्विलास अ० ३०, आ० प्रक० २३, मा० सर्ग १५।

स्थल है। शृंगेरी में पीठ की स्थापना कर तथा सुरेश्वर को इसका अध्यक्ष बनाकर शंकराचार्य ने इस स्थान की यात्रा की थी। अतः यह दक्षिण भारत में ही कहीं होगा। इसके वर्तमान नाम का पता नहीं चलता। (प्रक० ६३)

इन्द्रप्रस्थपुर (आ०)—यह स्थान प्राचीन इन्द्रप्रस्थ (आधुनिक दिल्ली) ही प्रतीत होता है। शंकराचार्य के समय में यहाँ इन्द्र के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाले धार्मिक सम्प्रदाय का बोलबाला था। आचार्य के साथ इन लोगों का संघर्ष हुआ था। पराजित होकर इन्होंने अद्वैत मत को अंगीकार कर लिया। (प्रक० ३३)

उज्जैनी*—यह स्थान आज भी धार्मिक महत्त्व रखता है। यह मालवा प्रान्त का प्रधान नगर है। भारत की सप्तपुरियों में यह अन्यतम नगरी रही है। आचार्य के समय में यहाँ कापालिक मत का विशेष प्रचार था। यहाँ उन्होंने दो महीने तक निवास किया। आनन्दगिरि के कथनानुसार उन्मत्त भैरव नामक शूद्रजाति का कापालिक यहीं रहता था। वह अपनी सिद्धि के सामने किसी को न तो उपासक ही मानता था, न पण्डित ही। उसे भी शंकर के हाथों पराजय मानना पड़ा। चार्वाक, जैन तथा नाना बौद्धमतानुयायियों को भी आचार्य ने यहाँ परास्त किया। माधव के कथनानुसार यहाँ भेदाभेदवादी भट्ट भास्कर निवास करते थे शंकर ने पद्मपाद को भेजकर, भेंट करने के लिए उन्हें अपने पास बुलाया। वे आये अवश्य, परन्तु अद्वैत का प्रतिपादन सुनकर उनकी शास्त्रार्थ—लिप्सा जाग उठी। इन दोनों दार्शनिकों में तुमुल शास्त्रार्थ छिड़ गया—ऐसा आश्चर्यजनक शास्त्रार्थ, जिसमें भास्कर अपने पक्ष की पुष्टि में प्रबल युक्तियाँ देते थे और शङ्कर अपनी प्रखर बुद्धि से उनका खण्डन करते जाते थे। विपुल शास्त्रार्थ के अनन्तर भास्कर की प्रभा क्षीण पड़ी और उन्हें भी अद्वैतवाद को ही उपनिषत्-प्रतिपाद्य मानना पड़ा[1]। माधव का यह कथन इतिहासविरुद्ध होने से सर्वथा अग्राह्य है। भास्कर ने ब्रह्म-सूत्रों पर भेदाभेद के समर्थन में भाष्य लिखा है जिसमें शंकराचार्य के मत का भरपूर खण्डन है। रामानुज ने वेदार्थसंग्रह में, उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि में तथा वाचस्पति मिश्र (८९८ वि०) ने भामती में इनके मत का उल्लेख पुरःसर खण्डन किया है। अतः इनका समय शंकर तथा वाचस्पति के मध्यकाल में होना चाहिए। ये शंकर के समकालीन थे ही नहीं। अत: शंकर के साथ इनके शास्त्रार्थ करने की माधवी कल्पना निरङ्कुश अनैतिहासिक अथ च उपेक्षणीय है। आचार्य के प्रति समधिक आदर की भावना से प्रेरित होकर ग्रन्थकार ने भास्कर के ऊपर शंकर के विजय की बात कल्पित की है।

कर्नाटक (मा०)—माधव के कथनानुसार कर्नाटक देश कापालिक मत का प्रधान पीठ था। कापालिक लोगों की हथियारबन्द सेना थी जो सरदार क्रकच की अधीनता में वैदिक धर्मावलम्बियों पर आक्रमण किया करती थी।

[1] माधव—शंकरदिग्विजय, सर्ग १५, श्लोक ८०—११०।

क्रकच का रूप बड़ा ही भयङ्कर था—श्मशान का भस्म उसके शरीर पर मला रहता, एक हाथ में मनुष्य की खोपड़ी और दूसरे हाथ में त्रिशूल चमकता था; वह भैरव का बड़ा ही उग्र उपासक था। शङ्कराचार्य के शिष्यों से लड़ने के लिए उसने अपनी शिक्षित तथा रणोन्मत्त सेना भेजी। यदि राजा सुधन्वा अपने अस्त्र-शस्त्रों से इसे मार नहीं भगाते, तो वह शङ्कर के शिष्यों का काम ही तमाम कर डालती। पर वीर राजा के संग का फल खूब ही फला। मदमत्त कापालिक तलवार, तोमर तथा पट्टिश से ब्राह्मणों पर टूट पड़े, पर सुधन्वा ने अपने बाणों से उनका संहार कर शंकराचार्य के शिष्यों की खूब ही रक्षा की। क्रकच इस पराजय से नितान्त क्षुब्ध हुआ और उसने सहायतार्थ स्वयं भगवान् भैरव का ही आह्वान किया। सुनते हैं भैरव प्रकट हुए और अपने परमभक्त क्रकच को बड़ा ही डाँटा कि वह उनके ही अवतार शंकराचार्य से इतना घोर विरोध किये हुए था। फलतः क्रकच का सर्वनाश हो गया। आचार्य की विजय हुई[1]।

काञ्ची[2]—काञ्ची हमारी सप्तपुरियों में अन्यतम है। मद्रास के पास आज भी यह अपनी धार्मिक प्रतिष्ठा बनाए हुए है। इसके दो भाग हैं—शिव-काञ्ची तथा विष्णुकाञ्ची। माधव का कथन है[3] कि आचार्य ने यहाँ परविद्या के अभ्यास के निमित्त एक विचित्र मन्दिर बनवाया और वहाँ से तान्त्रिकों को दूर भगा कर भगवती कामाक्षी को श्रुति-प्रतिपादित पूजा की प्रतिष्ठा की। आनन्दगिरि ने तो शंकर का काञ्ची के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया है[4]। यहीं रह कर आचार्य ने शिवकाञ्ची तथा विष्णुकाञ्ची—दोनों नगरों का निर्माण किया तथा भगवती कामाक्षी की प्रतिष्ठा की। कामाक्षी वायुरूपिणी ब्रह्मविद्यात्मक रुद्रशक्ति[4] हैं। ये गुहावासिनी ही थीं। आचार्य ने अपनी शक्ति से इन्हें व्यक्त रूप दिया तथा इनकी विशिष्ट प्रतिष्ठा की। श्रीचक्र की भी प्रतिष्ठा इस नगरी में शङ्कर ने की। कामकोटि-पीठ के अनुसार शङ्कर ने अन्त में यहीं निवास किया था। उन्होंने देवी की उग्रकला को अपनी अलौकिक शक्ति से शान्त कर उसे मृदु तथा मधुर बना दिया[5]। कामाक्षी के मन्दिर में श्रीचक्र की[4] स्थापना तथा कामकोटि पीठ की प्रतिष्ठा उसी समय आचार्य ने की। काञ्ची के राजा का नाम राजसेन था, जिसने आचार्य की अनुमति से अनेक मन्दिर

---

[1] माधव—शं० दि०, सर्ग १५, श्लो० १०—१८

[2] आ० ६६—६५ प्र०, मा०, सर्ग १५,

[3] सुधाम च तत्र कारयित्वा परविद्या चरण[illegible] विचित्रम्।
अपवार्य च तान्त्रिकानतानीद्भगवत्याः श्रुतिसम्मतां सपर्याम्॥

—माधव : शं० दि०, १५।५

[4] आनन्दगिरि—शं० दि० (६३—६५ प्रकरण)

[5] प्रकृतिं च गुहाश्रयां मनोज्ञां [illegible] प्रवेश्य [illegible]
[illegible] गुरुवर [illegible] शङ्करार्यः॥

—गुरुरत्न मालिका

तथा देवालय बनाया। शङ्कर ने कामाक्षी के मन्दिर के बिलकुल मध्य-स्थान (बिन्दु स्थान) में स्थिर मान कर 'श्रीचक्र' के आदर्श पर काञ्ची को फिर से बसाया। इन तीनों विभिन्न मन्थों की सहायता से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य ने काञ्ची में कामाक्षी के मन्दिर तथा श्रीचक्र की स्थापना की थी। काञ्ची का वर्तमान धार्मिक वैभव शङ्कर के ही प्रयत्नों का फल है[1]।

कामरूप (मा०)—यह स्थान आसाम प्रान्त का मुख्य नगर है जहाँ कामाख्या का मन्दिर तान्त्रिक पूजा का महान् केन्द्र है। शङ्कर ने इस स्थान की भी यात्रा की। यहाँ माधव ने इन्हें अभिनवगुप्त के पराजित करने की बात लिखी है, परन्तु यह घटना ऐतिहासिक नहीं प्रतीत होती। अभिनवगुप्त काश्मीर के निवासी थे। वे प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के नितान्त प्रौढ़ तथा माननीय आचार्य हैं। वे साहित्य-शास्त्र के भी महारथी हैं। 'अभिनव-भारती' तथा 'लोचन' ने इनका नाम साहित्य-जगत् में जिस प्रकार अमर कर दिया है, उसी प्रकार ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रालोक, परमार्थसार, मालिनीविजयवार्तिक तथा परात्रिंशिका विवृति ने त्रिक (शैव) दर्शन के इतिहास में इन्हें चिरस्मरणीय बना दिया है। ये अलौकिक सिद्ध पुरुष थे। ये अथ 'त्र्यम्बक' मत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल थे। इनका समय अनेक प्रमाणों से ११ वें शतक का उत्तरार्ध है—ठीक शंकर के समय से तीन सौ वर्ष बाद। इन्हें ब्रह्मसूत्रों पर शक्तिभाष्य का लेखक भी कहा गया है[2], परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं। ब्रह्मसूत्रों के ऊपर किसी भी प्राचीन पण्डित का 'शक्तिभाष्य' उपलब्ध नहीं होता। अतः ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान काश्मीरक शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त के साथ अष्टम शतक में विद्यमान शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ की कल्पना नितान्त अनैतिहासिक है। दार्शनिक जगत् में अभिनव की कीर्ति बहुत बड़ी है। अतः शङ्कर की महत्ता दिखलाने के लिए ही इस शास्त्रार्थ की घटना कल्पित की गई है।

***काशी**—इस पुण्यमयी विश्वनाथपुरी के साथ शङ्कराचार्य का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। आचार्य को अपने लक्ष्य की सिद्धि में काशीवास से बहुत ही लाभ हुआ, इसे हम निःसंकोच भाव से कह सकते हैं। माधव के कथनानुसार भगवान् विश्वनाथ की स्पष्ट आज्ञा से शंकर ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखने का सङ्कल्प किया जिसे उन्होंने उत्तर काशी में जाकर पूरा किया। आनन्दगिरि तो काशी को ही भाष्यों के प्रणयन का स्थान बतलाते हैं। यहीं रहते समय वेदव्यास

[1] चिद्विलास—शं० वि० वि०, २१ वाँ अध्याय,
आनन्दगिरि—शं० वि०, ११ प्रकरण।

[2] तदनन्तरमेव कामरूपानधिगत्याभिनवगुप्तम् ।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं स च मनसेदमालुलोचे।

—माधव : शं० दि० १५। १५८

से शङ्कराचार्य का साक्षात्कार हुआ था। यहीं आचार्य ने कर्म, चन्द्र, मङ्ग, क्षपणक, पितृ, गरुड, शेष, सिद्ध—आदि नाना मतों के सिद्धान्तों का खण्डन कर वैदिक मार्ग की प्रतिष्ठा की थी। काशी में मणिकर्णिका घाट के ऊपर ही आचार्य का निवास था, इस विषय में दिग्विजयों में दो मत नहीं हैं।

कुरु (मा० चिद्०)—कुरुदेश प्रसिद्ध ही है। इसकी प्रधान नगरी इन्द्रप्रस्थ का नाम पहले आ चुका है। यहाँ किसी विशेष घटना का उल्लेख नहीं मिलता (चिद्० ३१ सर्ग, मा० १६ सर्ग)।

केदार (मा०)—उत्तराखण्ड का यह सुप्रसिद्ध तीर्थ है। इसकी प्रसिद्धि बहुत ही प्राचीन काल से है। पुराणों में यह तीर्थ बड़ा ही पवित्र तथा महत्त्वशाली माना गया है। (मा० ५५ प्रक०)

गणवर (आ०)—यह नगर दक्षिण भारत में था। यह गणपति की पूजा का प्रधान केन्द्र था। यहाँ शंकर ने बहुत दिनों तक अपने शिष्यों के साथ निवास किया। यहाँ गणपति के उपासकों के ये विभिन्न सम्प्रदाय थे—महागणपति, हरिद्रा गणपति, उच्छिष्ट गणपति, नवनीत, स्वर्ण तथा सन्तान गणपति के पूजक, जिन्हें शङ्कर ने परास्त कर अद्वैतमत में दीक्षित किया था[1]।

गया (आ०)—यह बिहार प्रान्त का सुप्रसिद्ध तीर्थ है जहाँ श्राद्ध करने से प्रेतात्मायें मुक्ति लाभ करती हैं। (मा० प्रक० ५५)

गोकर्ण (चिद्०, मा०)—यह बम्बई प्रान्त का प्रसिद्ध शिवक्षेत्र है। गोवा से लगभग ३० मील पर यह नगर समुद्र के किनारे स्थित है। यहाँ के शिव का नाम 'महाबलेश्वर' है जिनके दर्शन के लिए शिवरात्रि के समय बड़ा उत्सव होता है। कुबेर के समान सम्पत्ति पाने की इच्छा से रावण ने अपनी माता कैकसी की प्रेरणा से यहीं घोर तपस्या की थी तथा अपना मनोरथ सिद्ध किया था[2]। महाभारत काल में भी यह मान्य तीर्थक्षेत्र था। यहाँ अर्जुन ने तीर्थयात्रा की थी कालिदास ने भी गोकर्णेश्वर को वीणा बजाकर प्रसन्न करने लिए नारद जी का आकाशमार्ग से जाने का उल्लेख किया है[3]। (मा०, सर्ग १२, चिद्०, २६ प्रक०)

चिदम्बर (चिद्०, आ०)—यह दक्षिणभारत का प्रधान शैव तीर्थ है। महादेव की आकाशमूर्ति यहीं विद्यमान है। यहाँ का विशालकाय शिवमन्दिर दक्षिणी स्थापत्यकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। नटराज की अभिराम मूर्ति आरम्भ में यहीं मिली थी। इस मन्दिर की एक विशिष्टता यह भी है कि इसके ऊपर नाट्य-

---

[1] द्रष्टव्य—आनन्दगिरि शं० वि० (१४—१२ प्रकरण)

[2] आपत्स्वत् स सिद्धयर्थं गोकर्णस्याश्रमं शुभम्।

—वाल्मीकि, उत्तर, ६। ४६।

[3] अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः॥

—रघु० ८। ३३

शास्त्र में वर्णित हस्तविक्षेप के चित्र हैं। इन चित्रों के परिचय में नाट्यशास्त्र के तत्तत् श्लोक उट्टंकित किये गये हैं। आनन्दगिरि की सम्मति में शङ्कर का जन्म यहीं हुआ था, परन्तु यह मत ठीक नहीं। इसका खण्डन हमने चरित के प्रसङ्ग में कर दिया है (चिद्० २६, अध० आन०, २ प्रक०)।

जगन्नाथ—सप्तपुरियों में यह अन्यतम पुरी है। उड़ीसा देश में समुद्र तट पर इसकी स्थिति है। यह 'पुरी' के ही नाम से विख्यात है। यहीं कृष्ण, बलराम और सुभद्रा की काष्ठमयी प्रतिमाएँ हैं। हमारे चार धामों में यह भी प्रधान धाम है। शङ्कराचार्य ने यहाँ पर अपना 'गोवर्धन पीठ' स्थापित किया। (चिद्० अध० १०, आ०, ५५ प्रकरण)

द्वारिका—भारत के पश्चिमी समुद्र के तीर पर द्वारिकापुरी विराजमान है। यहाँ आचार्य ने अपना पीठ स्थापित किया जो शारदापीठ के नाम से विख्यात है। माधव ने यहाँ पाञ्चरात्र मतानुयायी वैष्णवों की स्थिति बतलाई है। (चिद्० ३१; अ० आन०, प्र० ५५; मा०, सर्ग १५)

नैमिश (मा०)—यह वही स्थान है जहाँ ऋषियों के प्रश्नों के उत्तर में सूत ने नाना प्रकार की पौराणिक कथाएँ कहीं। यह स्थान संयुक्तप्रान्त में ही लखनऊ से उत्तर-पूर्व में सीतापुर ज़िले में है। आज भी यह तीर्थस्थल माना जाता है।

पण्ढरपुर—(चिद्०) इस स्थान पर पाण्डुरंग की प्रसिद्ध प्रतिमा है। द्राविड़ देश में यह सबसे अधिक विख्यात वैष्णव क्षेत्र है। यहाँ का प्रसिद्ध मंत्र है—पुण्डरीक वरदे विट्ठल। विठ्ठल नाथ कृष्ण के ही रूप हैं। शंकर ने पाण्डुरंग की स्तुति में एक स्तोत्र भी लिखा है।

प्रयाग—माधव ने त्रिवेणी के तट पर मीमांसक कुमारिल भट्ट के साथ शंकर के भेंट करने की बात लिखी है। इसका विस्तृत वर्णन पहले किया गया है। आनन्दगिरि ने वरुण, वायु आदि के उपासक, शून्यवादी, वराहमतानुयायी, लोक—गुण—सांख्य—योग तथा वैशेषिक मतवादियों के साथ शास्त्रार्थ करने की घटना का उल्लेख किया है।[1]

पांचाल (मा०)—शंकर के इस देश में जाने का सामान्य ही उल्लेख मिलता है। यह प्रान्त आधुनिक संयुक्तप्रान्त में गंगा-यमुना के दोआब का उत्तरीय भाग है। महाभारत में इस देश की विशेष महिमा दीख पड़ती है। उस समय यहाँ के राजा द्रुपद थे जिनकी पुत्री द्रौपदी पाण्डवों की पत्नी थी।

बदरी—यही उत्तराखण्ड का प्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र है। इस स्थान से शङ्कराचार्य का विशेष सम्बन्ध है। यहाँ भगवान् के विग्रह की स्थापना तथा वर्तमान पद्धति से उनकी अर्चा का विधान आचार्य के ही द्वारा किया गया है। इस विषय

[1] आनन्दगिरि—शं० वि० (३५—४१ प्रकरण)

का पर्याप्त विवेचन पीछे किया गया है। आनन्दगिरि के कथनानुसार शङ्कर ने यहाँ तप्तकुण्ड का पता लगाकर अपने शिष्यों के शीतजनित कष्ट का निवारण किया था।

बाह्लिक (मा०)—माधव ने आचार्य के यहाँ जाने का सामान्य रूप से उल्लेख किया है। यह स्थान भारतवर्ष की पश्चिमोत्तरी सीमा के बाहर था। बैक्ट्रिया के नाम से इसी देश की प्रसिद्धि इतिहास-ग्रन्थों में मिलती है।

भवानी नगर (आ०)—यह दक्षिण भारत का कोई शाक्त पीठ प्रतीत होता है। वर्तमान समय में इसकी स्थिति का विशेष परिचय नहीं मिलता। आनन्दगिरि ने 'मल्लारपुर' के अनन्तर आचार्य के यहाँ जाने का उल्लेख किया है। यहाँ शक्ति की उपासना विशेष रूप से प्रचलित थी। इसके समीप ही कुवलयपुर नामक कोई ग्राम था, जहाँ लक्ष्मी के उपासकों की बहुलता थी। यहाँ रहते समय आचार्य ने शक्ति की तामस पूजा का विशेष रूप से खण्डन किया और इस मत के अनुयायियों को सात्त्विक पूजा की दीक्षा दी। (आ० प्र० १६—२२)

मथुरा (चिद्० मा०)—चिद्विलास का कहना है कि आचार्य अपने शिष्यों के साथ यहाँ आये थे। गोकुल तथा वृन्दावन में भी इन्होंने निवास किया था। हमने पहले ही लिखा है कि आचार्य के कुल देवता भगवान श्रीकृष्णचन्द्र थे। अतः कृष्ण के चरणारविन्द से पवित्रित तीर्थ में आना तथा निवास करना सर्वथा समुचित है। शंकराचार्य को केवल शङ्करोपासक मानना नितान्त अनुचित[1] है।

मधुरा (चिद्०)—यह दक्षिण का प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र है जहाँ मीनाक्षी का प्रसिद्ध मन्दिर है। यहाँ सुपर्णमुखिनी नामक नदी में स्नान कर शङ्कर ने मीनाक्षी तथा सुन्दरेश्वर का दर्शन किया।

मध्यार्जुन (आ० चिद्०)—यह स्थान तंजोर जिले में है जिसका वर्तमान नाम 'तोरू विद् मरुदूर' है इसके पूरब तरफ आनीश्वर नामक प्रसिद्ध स्थान है जिसे प्रसिद्ध शैवदार्शनिक हरदत्ताचार्य के जन्मस्थान होने का गौरव प्राप्त है। भविष्योत्तर पुराण में इस अग्नीश्वर क्षेत्र का माहात्म्य भी विशेष रूप से वर्णित है। उस अंश का ही नाम है 'अग्नीश्वर माहात्म्य' इससे स्पष्ट है कि मध्यार्जुन प्राचीन काल से ही अपने धार्मिक माहात्म्य के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। यहाँ महादेव की मूर्ति है। यहाँ की एक विचित्र घटना का उल्लेख आनन्दगिरि ने किया है। शङ्कराचार्य ने विधिवत् पूजन के अनन्तर यहाँ के अधिष्ठातृ देवता महादेव से पूछा कि भगवन् द्वैत और अद्वैत इन उभय मार्गों में कौन सच्चा है? इस पर व्यक्तरूप धारण कर महादेव लिंग से प्रकट हुए और दाहिना हाथ उठाकर तीन बार जोर से कहा कि अद्वैत ही सत्य है। आचार्य तथा उपस्थित जनता को

[1] चिद्विलास, अध्याय ११ :—

याधु वृन्दावनाख्यं वृन्दावनमुदैक्षत ॥७॥

ततोऽसौ मधुरां प्राप मधुरां नगरीं हरेः

ततो गोकुलमापापो तत्रैकं दिनमास्थितः ॥८॥

घटनासे विस्मय तथा सन्तोष दोनों प्राप्त हुए। (चिद्—२६ अ०)

मरुन्धपुर (आ०)—इस नगर का उल्लेख आनन्दगिरि ने किया है जहाँ चार्य मल्लपुर के अनन्तर पधारे थे। यह स्थान मल्लपुर से पश्चिम में था। हाँ विष्वक्सेन मत तथा मन्मथ मत के खण्डन की बात लिखी हुई है। आ० प्रक० १०)

मल्लपुर (आ०)—यह भी कोई दक्षिण ही का स्थान प्रतीत होता है जहाँ मल्लारि' की पूजा विशेष रूप से होती थी (आ०, प्रक० २६)।

मागधपुर (आ०) इस स्थान की स्थिति का ठीक ठीक पता नहीं चलता यह मगध का ही कोई नगर था या किसी अन्य प्रान्त का। आनन्दगिरि ने इसे न्धपुर' के उत्तर में बतलाया है। यहाँ कुबेर तथा उनके सेवक यक्ष लोगों की पासना होती थी। (आ० प्रक० ३२)

*मायापुरी—इसका वर्तमान काल मे प्रसिद्ध नाम हरद्वार है। इस स्थान शङ्कराचार्य का विशेष सम्बन्ध रहा है। बदरीनाथ जाते समय शङ्कराचार्य इधर ही गये थे। प्रसिद्धि है कि विष्णु को प्रतिमा को डाकुओं के डर से पुजारी गों ने गङ्गा के प्रवाह में डाल दिया था। शङ्कर ने इस प्रतिमा का उद्धार कर फिर सकी प्रतिष्ठा की।

मृडपुरी (चिद्०)—यह भी दक्षिण का कोई तीर्थ है। वासुकि क्षेत्र से चार्य शङ्कर के जाने का उल्लेख चिद्विलास में किया गया है। यहाँ पर बौद्धों साथ शङ्कर का शास्त्रार्थ हुआ था। (चिद्०, अ० २६)

यमप्रस्थपुर (आ०)—आनन्दगिरि ने इस स्थान को इन्द्रप्रस्थपुर से याग के मार्ग में बतलाया है। इन्द्रप्रस्थपुर तो वर्तमान दिल्ली के ही पास था। हीं से प्रयाग जाते समय यह नगर मिला था। यम की पूजा होने के कारण इस नगर का यह नाम पड़ा था। (आ० प्रक० ३४)

*रामेश्वर—यह नगर आज भी अपनी धार्मिक पवित्रता अक्षुण्ण बनाये ए है। इसी स्थान पर भगवान् रामचन्द्र ने समुद्र बँधवाया था और उसी के उपलक्ष्य में यहाँ रामेश्वर नामक भगवान् शङ्कर को प्रतिष्ठा की थी। हमारे चार ामों में अन्यतम धाम यही है। यह सुदूर दक्षिण समुद्र के किनारे है। यहाँ का ाल काय मन्दिर दाक्षिणात्य स्थापत्य कला का उत्कृष्ट नमूना है, जिसका मण्डप क सहस्र स्तम्भों से सुशोभित है। भगवान् का सुवर्ण का बना हुआ रथ अब भी ड़ी धूमधाम के साथ निकलता है। माधवाचार्य ने यहाँ शाक्त लोगों की प्रधानता बतलायी है।

वक्रतुण्डपुरी—(चिद्०) यह दक्षिण में प्राचीन तीर्थ विशेष है। यहाँ की दी का नाम गन्धवती है। यह गणपति की उपासना का प्रधान क्षेत्र है। यहाँ पर ढुंढिराज और वीरविघ्नेश नामक आचार्यों के साथ जो पाश, अंकुश आदि के न्हों को अपने शरीर पर धारण किए हुए थे, आचार्य शंकर का शास्त्रार्थ हुआ। चिद्—अ० २८)

वासुकिक्षेत्र (चिद्०)—आचार्य ने यहाँ कुमारधारा नदी में स्नान क स्वामी कार्तिकेय की विधिवत् अर्चना की। यह स्थान कार्तिकेय की उपासना क प्रधान क्षेत्र था। इसके पास ही कुमार पर्वत है जिसकी प्रदक्षिणा आचार्य ने की कुमार की पूजा करते हुए शङ्कर ने कुछ दिन यहाँ बिताये थे। (चिद्०, अ० २६)

विजलबिन्दु—(आ०) इस स्थान का निर्देश आनन्दगिरि ने किया है और इसे हस्तिनापुर से दक्षिण-पूर्व बतलाया है। अतः वर्तमान संयुक्त प्रान्त के पश्चिमी हिस्से में इसे कहीं होना चाहिये। यह उस समय का एक प्रख्यात विद्यापीठ प्रतीत होता है। आनन्दगिरि के अनुसार मण्डन मिश्र का यही निवासस्थान था। मण्डन बहुत ही धनाढ्य व्यक्ति थे। विद्यार्थियों के लिए उन्होंने स्थान और भोजन का विशेष प्रबन्ध कर रक्खा था। उनके नाम तथा प्रबन्ध से आकृष्ट होकर छात्रों का बड़ा जमाव लगता था (आनन्दगिरि, प्रकरण ५३)।

विदर्भनगर—(मा०) यह नगर वर्तमान बरार है। माधवाचार्य ने यहाँ शंकर के जाने का उल्लेख किया है।

वेङ्कटाचल—(मा० चिद्०)—यह दक्षिण का प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थस्थल है जिसे साधारण लोग 'बाला जी' पुकारते हैं। यह आज-कल एक बड़ा भारी धनाढ्य संस्थान है, जहाँ अभी संस्कृत विद्यालय स्थापित किया गया है। यहाँ विष्णु की पूजा पाञ्चरात्र विधि से न होकर वैखानस विधि से की जाती है। वैष्णवों में वैखानस तंत्र विशेष महत्त्व रखता है। शंकर ने यहाँ वेङ्कटेश की पूजा बड़े प्रेम-भक्ति के साथ करके निवास किया था। (चिद्विलास अ० २६)।

वैकुण्ठगिरि—(आ०) आनन्दगिरि ने इस स्थान का निर्देश काशी के पास किया है (प्रकरण ६१)।

रुद्रपुर—(आ०) यह स्थान श्रीपर्वत के पास कहीं दक्षिण में था। आचार्य जब श्रीपर्वत पर निवास करते थे तब इस नगर के ब्राह्मणों ने आकर के कुमारिल भट्ट के कार्यों की बात कही थी। उनकी सूचना पाकर आचार्य यहाँ गये और यहीं पर इन्होंने कुमारिल का साक्षात्कार किया। आनन्दगिरि का यह कथन (प्रकरण ५५, पृष्ठ १८०) अन्य किसी दिग्विजय के द्वारा पुष्ट नहीं होता। माधव ने तो स्पष्ट ही प्रयाग को शङ्कर और कुमारिल के भेंट होने का स्थान बतलाया है।

श्रीपर्वत—आजकल यह मद्रास प्रान्त के कर्नूल जिले का प्रसिद्ध देव-स्थान है। यहाँ का शिवमन्दिर बड़ा विशाल तथा भव्य है जिसकी लम्बाई ६६० फुट तथा चौड़ाई ५१० फुट है, जिसके दीवाल पर रामायण और महाभारत के सुन्दर चित्र अङ्कित किये गए हैं। यह द्वादशों लिङ्गों में अन्यतम श्रीमल्लिकार्जुन तथा भ्रमराम्बा का स्थान है। इस मन्दिर की व्यवस्था आजकल पुष्पगिरि के शंकराचार्य की ओर से होती है। प्राचीन काल में यह सिद्धिक्षेत्र माना जाता था।

माध्यमिक मत के नागार्जुन ने इसी पर्वत पर तपस्या कर सिद्धि प्राप्त की थी तथा सिद्ध नागार्जुन का नाम अर्जन किया था। शंकराचार्य के समय में तो इसका प्रभाव तथा प्रसिद्धि बहुत ही अधिक थी। बाणभट्ट ने राजा हर्षवर्धन की प्रशंसा करते हुये इन्हें भक्त लोगों के मनोरथ-सिद्धि करने वाला श्रीपर्वत कहा है[१]। भवभूति ने मालतीमाधव में इस स्थान की विशेष महिमा बतलाई है। किसी समय यह बौद्ध लोगों का प्रधान केन्द्र था। चैत्यवादी निकाय के जो दो—पूर्वशैलीय और अपरशैलीय—भेद थे वे इसी श्रीपर्वत के पूर्व और पश्चिम अवस्थित दो पर्वतों के कारण दिए गये थे। कापालिकों का यह मुख्य केन्द्र प्रतीत होता है। शङ्कराचार्य का उग्रभैरव के साथ यहीं पर संघर्ष हुआ था। (चिद्० अ० २.)

सुब्रह्मण्य—(आ०,—आनन्दगिरि ने अनन्तशयन के पश्चिम १५ दिन यात्रा करने के अनन्तर यह स्थान मिला था ऐसा लिखा है। यह कार्तिकेय का आविर्भाव-स्थान माना गया है। यहाँ कुमारधारा नदी है जिसमें स्नान कर शंकर ने कुमार का पूजन किया था। चिद्विलास ने जिसे वासुकि क्षेत्र नाम से लिखा है वह यही स्थान प्रतीत होता है आनन्दगिरि[२] ने यहाँ पर शंकर के द्वारा हिरण्यगर्भ मत, अग्निवादी मत तथा सौरमत के खण्डन की बात लिखी है।

आचार्य शंकर के द्वारा इन्हीं स्थानों की यात्रा की गई थी। जिन स्थानों के विषय में सब दिग्विजयों का एकमत है वे क्रमशः ये हैं:—उज्जैनी, काञ्ची, काशी, द्वारिका, पुरी, प्रयाग, बदरीनाथ, रामेश्वर, श्रीपर्वत तथा हरिद्वार। ये समग्र स्थान धार्मिक महत्त्व के हैं। अतः शंकराचार्य का इन स्थानों में जाना तथा विरोधी मतवालों को परास्त करना स्वाभाविक प्रतीत होता है। द्वारिका, जगन्नाथपुरी, बदरी तथा रामेश्वर के पास तो उन्होंने मठों की स्थापना की। अन्य स्थानों से आचार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध था जिसका वर्णन पहले दिया जा चुका है।

---

[१] जयति ज्वलत्प्रतापज्वलनप्राकारकृतजगद्रक्षः।
सकलप्रणयिमनोरथसिद्धि श्रीपर्वतो हर्षः॥

[२] आनन्दगिरि प्रकरण ११—१२

त्रयोदश परिच्छेद

तिरोधान

काश्मीर प्राचीनकाल से ही जितना प्राकृतिक अभिरामता के लिए प्रसिद्ध है उतना ही अपने विद्या वैभव के लिए भी विख्यात है। यहाँ के पण्डितों ने संस्कृत साहित्य के नाना विभागों को अपनी अमूल्य कृतियों से पूर्ण किया है। दर्शन और साहित्य का, तन्त्र तथा व्याकरण का तो यह ललित क्रीडानिकेतन ही ठहरा। भगवती शारदा इस क्षेत्र की अधिष्ठात्री देवी हैं। इसलिए यह मण्डल शारदापीठ या शारदाक्षेत्र के नाम से प्रख्यात है। महाकवि बिल्हण की यह उक्ति[1] कि कविता-विलास केसर के सहोदर हैं—इसीलिए शारदादेश को छोड़कर कविता और केसर के अंकुर अन्यत्र नहीं उगते—जन्मभूमि के प्रेम का परिणाम नहीं है, अपितु इसके पीछे सच्चा इतिहास विद्यमान है। भगवती शारदा का प्राचीन मन्दिर आज भी विद्यमान है परन्तु जननिवास से जंगल में इतना दूर है कि वहाँ विशिष्ट यात्री ही पहुँच पाते हैं। साधारण यात्री तो मार्ग की कठिनता से विचलित होकर लौट ही आता है। इस शारदा के मन्दिर के पास ही कुण्ड था जिसकी प्राचीनकाल में प्राण-संजीवन करने की विलक्षण शक्ति सुनी जाती है। शारदाकुण्ड के जल से स्पर्श होते ही मृत व्यक्ति में प्राणों का संचार हो उठता था। यहाँ एक प्रवाद प्रसिद्ध[2] है कि कर्नाटक देश का राजा था जिसके कान भैंसे के कान के समान थे। अतः वह 'महिषकर्ण' कहलाता था। वह काश्मीर में अपने शरीर दोष के निवारण के लिए आया, परन्तु राजकन्या के अकारण कोप का भाजन बन जाने से उसे अपने प्राणों से हाथ धोने की नौबत आ गई। उसका अङ्ग छिन्न-भिन्न कर दिया गया, परन्तु एक भक्त सेवक उन्हें बटोरकर कुण्ड के पास ले गया जिसके जल के स्पर्श मात्र से ही उनमें जीवनी-शक्ति का संचार हो आया—राजा जी उठा।

शारदा पीठ में शङ्कर

इसी शारदा के मन्दिर में सर्वज्ञपीठ था जिस पर वह पुरुष आरोहण कर सकता था जो सकल ज्ञान-विज्ञान-कला तथा शास्त्र का निष्णात पण्डित होता था। बिना सर्वज्ञ के कोई पुरुष उस पर अधिरोहण का अधिकारी न था। इस मन्दिर में प्रत्येक दिशा की ओर चार दरवाजे थे। मन्दिर में भगवती शारदा का साक्षात् निवास था। कोई भी अपवित्र व्यक्ति मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकता था।

---

[1] सहोदराः कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥
—विक्रमाङ्कदेवचरित १।२१

[2] शङ्करदिग्विजय - शङ्कर और रामानुज, पृ० ३४७-३४८

दक्षिण में रहते हुए शंकराचार्य ने यह बात सुनी कि शारदा मन्दिर के पूरब, पश्चिम तथा उत्तर के द्वार तो खुले रहते हैं, परन्तु दक्षिण का द्वार कभी नहीं खुलता। उन दरवाजों से होकर वही व्यक्ति प्रवेश कर सकता है जो सर्वज्ञ हो। दक्षिण भारत में सर्वज्ञ के अभाव से मन्दिर का दक्षिण द्वार कभी खुलता ही नहीं; हमेशा बन्द ही रहता है। आचार्य ने दाक्षिणात्यों के[1] नाम से इस कलंक को धो डालने की इच्छा से शिष्यों के साथ काश्मीर की यात्रा की। शारदा मन्दिर में पहुँचकर उन्होंने अपनी सुनी बातें सच्ची पाईं। आत्मबल तथा चरित्रबल के तो वे निकेतन ही थे। उन्होंने बलपूर्वक दक्षिण द्वार को धक्का देकर खोल दिया और उसमें प्रवेश करने का ज्योंही उद्योग किया, त्योंही चारों ओर से पण्डितों की मण्डली उन पर टूट पड़ी और जोर से चिल्लाने लगी—पहले अपनी सर्वज्ञता की परीक्षा दे दीजिए, तब इस द्वार से प्रवेश करने का साहस कीजिए। शङ्कराचार्य ने यह बात सहर्ष स्वीकार की। इसके लिए तो वे बद्धपरिकर थे ही। वहाँ प्रत्येक शास्त्र के पण्डितों का जमघट था। वे लोग अपने शास्त्र की बातें उनसे पूछने लगे। शङ्कर ने उन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देकर सब पण्डितों को चमत्कृत कर दिया। वे परीक्षा में खरे उतरे। विभिन्न दर्शनों के पेचीदे प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देकर आचार्य ने अपने सर्वज्ञ होने की बात सप्रमाण सिद्ध कर दी। मन्दिर के भीतर जाकर उन्होंने सर्वज्ञपीठ की ओर दृष्टि डाली। साहस कर वे इस पीठ पर अधिरोहण करने का ज्यों ही प्रयत्न करने लगे, ठीक उसी समय शारदा की भावना आकाशवाणी के रूप में प्रकट हुई। आकाशवाणी ने कहा—इस पीठ पर अधिरोहण करने के लिए सर्वज्ञता ही एक मात्र कारण नहीं है, पवित्रता भी उसका सहायक साधन है। आप संन्यासी हैं—संसार के प्रपञ्च का सर्वथा परित्याग कर चुके हैं। संन्यासी होकर मृतक शरीर में प्रवेश कर कामिनियों के साथ रमण करना तथा कामकला सीखना क्या संन्यासी का न्यायानुमोदित आचरण है? ऐसा पुरुष पवित्र चरित्र होने का अधिकारी कैसे हो सकता है?

शंकर ने उत्तर दिया—मैंने इस शरीर से जन्म लेकर अब तक कोई पातक नहीं किया। कामकला का रहस्य मैंने अवश्य सीखा है परन्तु अन्य दूसरे शरीर को धारण कर लिया है। उस कर्म से यह भिन्न शरीर किसी प्रकार लिप्त नहीं हो सकता[2]। शारदा ने आचार्य की युक्ति मान ली और उन्हें पीठ पर अधिरोहण करने की अनुमति देकर उनकी पवित्रता पर मुहर लगा दी। पण्डित-मण्डली के हृदय को आश्चर्यसागर में डुबाते हुए सर्वज्ञ शंकर ने इस पवित्र शारदापीठ के सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया।

---

[1] द्रष्टव्य माधव, शं० दि० सर्ग

[2] नास्मिन् शरीरे कृतकिल्बिषोऽहं जन्मप्रभृत्यम्ब न संदिहेऽहम्।
व्यधायि देहान्तरसंश्रयाद्यत् तेन लिप्येत हि कर्मणाऽन्यः॥
शं० दि०—१६/८६

नैपाल में शङ्कर

इस घटना के अनन्तर शङ्कराचार्य ने सुना कि नैपाल में पशुपतिनाथ की पूजा यथार्थ रूप से नहीं हो रही है। नैपाल तो बौद्धधर्म का प्रधान केन्द्र ही था। यहाँ के निवासी अधिकांश बौद्ध मत के मानने वाले थे। अतः पशुपतिनाथ की वैदिक पूजा की उपेक्षा करना नितान्त स्वाभाविक था। पशुपतिनाथ का अष्टमूर्ति शंकर में अन्यतम स्थान है। वे यजमान मूर्ति के प्रतिनिधि हैं। इसीलिये उनकी मूर्ति मनुष्याकृति है। स्थान प्राचीनकाल से ही बड़ा पवित्र तथा गौरवशाली माना जाता था। यह पवित्रता आज भी अक्षुण्ण रूप से बनी हुई है। परन्तु शंकर के समय में बौद्धधर्म के बहुत प्रचार के कारण पशुपतिनाथ की पूजा में शैथिल्य आ गया था। इसी को दूर करने के लिये शंकर अपनी शिष्य-मण्डली के साथ नैपाल में पहुँचे।

उस समय नैपाल में ठाकुरी वंश (या राजपूत वंश) के राजा राज्य करते थे। तत्कालीन राजा का नाम था शिवदेव (या वरदेव)। ये नरेन्द्रदेव वर्मा के पुत्र थे। उस समय नैपाल और चीन का घनिष्ठ राजनैतिक सम्बन्ध था। चीन के सम्राट् ने नरेन्द्रदेव को नैपाल का राजा स्वीकृत किया था।[1] नैपालनरेश ने शंकर की बड़ी अभ्यर्थना की, और आचार्य-चरण के आगमन से अपने देश को धन्य माना। आचार्य ने बौद्धों को परास्त कर उस स्थान को उनके प्रभाव से उन्मुक्त कर दिया। पशुपतिनाथ की वैदिक पूजा की व्यवस्था उन्होंने ठीक ढंग से कर दी। इस कार्य के लिए उन्होंने अपने ही सजातीय नम्बूदी ब्राह्मण को इस कार्य के निमित्त रख दिया। यह प्रथा आज भी उसी अक्षुण्ण रूप से चल रही है। नम्बूद्री ब्राह्मण के कुछ कुटुम्ब नैपाल में ही बस गये हैं। ये आपस में विवाह शादी भी किया करते हैं। परन्तु इस विवाह की सन्तान पूजा के अधिकारी नहीं माने जाते हैं। खास मालाबार देश की कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होता है वही यहाँ की पूजा का अधिकारी बनता है। आज भी पशुपतिनाथ के मन्दिर के पास ही शङ्कराचार्य का मठ है और थोड़ी ही दूर पर शंकर और दत्तात्रेय की मूर्तियाँ आज भी श्रद्धा तथा भक्ति से पूजी जाती हैं।

---

[1] शंकर के समकालीन नैपाल नरेश के विषय में भिन्न भिन्न मत हैं। 'नैपाल वंशावली' के अनुसार शंकर की नैपाल यात्रा के समय सूर्यवंशी वृषदेव नामक राजा राज्य कर रहे थे। शंकर के रहते ही समय उन्हें पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम उन्होंने आचार्य शंकर के ही नाम पर रक्खा। डाक्टर फ्लीट के अनुसार वृषदेव का काल ६३०—६५५ ई० है। ऐतिहासिक लोग इस वंशावली को विशेष महत्त्व नहीं देते। द्रष्टव्य—Indian Antiquary Vol. 16 (1887) pp. 41.
अन्य प्रमाणों के लिए देखिए - शंकर और रामानुज १८४—८६।

इस घटना के पहले ही आचार्य को अपने परम गुरु गौड़पाद-आचार्य का आशीर्वाद प्राप्त हो गया था एक दिन यह विचित्र घटना घटी थी। गौड़पाद ने दर्शन देकर अपने प्रशिष्य को कृतार्थ किया। शंकर के गुरु थे भगवत् गोविन्दपाद और उनके गुरु थे ये गौड़पाद। इस प्रकार शंकर इनके प्रशिष्य लगते थे। आचार्य ने इनकी माण्डूक्य-कारिका पर लिखे गये अपने भाष्य को पढ़ सुनाया। वे अत्यन्त प्रसन्न हुये और आशीर्वाद दिया कि यह शंकर का भाष्य सर्वत्र प्रसिद्ध होगा क्योंकि इसमें अद्वैत के सिद्धान्तों का परिचय सम्प्रदाय के अनुकूल ही किया गया है। जिन रहस्यों को मैंने शुकदेव जी से सुन कर गोविन्द मुनि को बतलाया था उन्हीं का यथार्थ उद्घाटन इन भाष्यों में भली-भाँति किया गया है। माण्डूक्यकारिका लिखने में जो मेरा अभिप्राय था उसकी अभिव्यक्ति कर तुमने मेरे हृदय को इस भाष्य में रख दिया है। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारे भाष्य इस पृथ्वी-तल पर अलौकिक प्रभा सम्पन्न हो कर जगत् का वास्तव में मंगल-साधन करेंगे।

गौड़पाद का आशीर्वाद

इस प्रकार, सुनते हैं कि आचार्य शंकर के भाष्यों को वेदव्यास तथा गौड़पाद जैसे ब्रह्मवेत्ता मुनियों का आशीर्वाद प्राप्त हुआ।

आचार्य का तिरोधान

आचार्य शङ्कर ने अपना अन्तिम जीवन किस स्थान पर बिताया तथा सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण किस स्थान पर किया ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। जिस प्रकार शंकर के जीवनवृत्त के विषय में सर्वांश में सर्वत्र एक मत नहीं दीख पड़ता, उसी प्रकार उनके शरीरपात के विषय में भी प्राचीन काल से ही मतभेद चला आता है। हमने काश्मीर में सर्वज्ञ पीठ पर आचार्य के अधिरोहण की जो बात ऊपर लिखी है उसका आधार माधव कृत शंकर-दिग्विजय ही है। अधिरोहण के अनन्तर आचार्य ने अपने शिष्यों को विभिन्न मठों में मठकार्य निरीक्षण के लिए भेज दिया और स्वयं वहाँ से बदरीनारायण की ओर चले गये। यह भी प्रसिद्ध है कि वहाँ कुछ दिन भगवान् नारायण की पूजा अर्चा में बिता कर वे दत्तात्रेय के दर्शन के निमित्त उनके आश्रम में गये और उनकी गुफा में उन्हीं के साथ कुछ दिन तक निवास किया। दत्तात्रेय ने शंकर की उनके विशिष्ट कार्य के लिए उनकी प्रचुर प्रशंसा की। इसके बाद वे कैलास पर्वत पर गये और वहीं अपना स्थूल शरीर छोड़कर वे सूक्ष्म शरीर में विलीन हो गये। यह वृत्तान्त शृंगेरी पीठ तुसारी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है और अधिकांश सन्यासी लोग इसी बात को प्रामाणिक मानते हैं।

शृंगेरी की परम्परा

[1]माधव, शं० दि०, सर्ग १६। ३३—५४

'गुरुवंश काव्य' में लक्ष्मण शास्त्री ने यही मत लिखा है[1]। चिद्विलास यति ने भी इसी मत की पुष्टि की है[2]। माधव ने इस घटना का उल्लेख किया है[3]। संन्यासियों की यह दृढ़ धारणा है कि आचार्य ने अपना लौकिक कार्य समाप्त कर कैलास पर्वत पर शरीर छोड़ा।

चिद्विलास ने माधव के मत को तिरोधान के विषय में स्वीकृत किया है परन्तु अधिरोहण के विषय में उनका कहना है कि शंकराचार्य ने काञ्ची में सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण किया था, काश्मीर में नहीं। माधवाचार्य ने जिन दो श्लोकों में (१६।५१—५२) शंकर के काश्मीर में सर्वज्ञ-पीठारोहण की घटना लिखी है वे दोनों श्लोक राजचूडामणि दीक्षित के 'शंकराभ्युदय' के ही हैं (८।६८,६९) परन्तु 'शंकराभ्युदय' में लिखा है कि यह घटना काञ्ची में हुई थी काश्मीर में नहीं—यही दोनों में भेद है।

केरल की परम्परा इससे नितान्त भिन्न है। गोविन्दनाथ यति लिखित 'शंकराचार्य चरितम्' के अनुसार आचार्य की मृत्यु केरल देश में ही हुई। काञ्ची में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण करने के अनन्तर आचार्य ने वहाँ कुछ दिनों तक निवास किया। अनन्तर रामेश्वर में महादेव का दर्शन और पूजन कर शिष्यों के साथ घूमते घामते वे वृषाचल पर आये। यह स्थान केरल में है और बड़ा पवित्र है। इसीलिए यह दक्षिण कैलास कहा जाता है। यहीं रहते उन्हें मालूम पड़ा कि उनका अन्त काल अब आ गया है। उन्होंने विधिवत् स्नान किया और शिवलिंग का पूजन किया। अनन्तर श्रीमूल नामक स्थान में उन्होंने भगवान् कृष्ण और भगवान् भार्गव की विधिवत् पूजा की। कहा जाता है कि आचार्य ने अपने अन्तिम दिन त्रिचूर के मन्दिर में बिताये थे और उनका शरीर इसी मन्दिर के विशाल प्राङ्गण में समाधि रूप में गाड़ा गया था। केरल देश में आज भी त्रिचूर के मन्दिर की बड़ी प्रतिष्ठा है।

केरल देश की मान्यता

---

[1] दत्तात्रेयं भुवनविनुतं वीक्ष्य नत्वान्वगादीद्
चृत्तं स्वीय सकलमपि तान्प्रेषितान्दिक्षु शिष्यान्।
सोऽपि श्रुत्वा मुनिपतेरदादाशिषो विश्वरूपा—
चार्यादिभ्यः सुखमवसतां तत्र तौ भाषमाणौ॥
३।७०

[2] इत्युक्त्वा शङ्कराचार्यकरपल्लवमाददात्।
अवलम्ब्य करं प्रेम्णा दत्तात्रेयः सतापस.॥ ४९
प्रविवेश गुहाद्वारं स्वज्ञा जनसन्तते.।
क्रमाज्जगाम कैलासं प्रमथै. परिवेष्टितम्॥ ५०
शङ्करविजयविलास—३० (अ०)

[3] शा० दि०, सर्ग १६ श्लो० १०२—३

जिस स्थान पर यह घटना घटी थी उस स्थान पर महाविष्णु के चिन्हों के साथ एक चबूतरा बनवा दिया गया है। त्रिचूर के पास एक ब्राह्मणवंश आज भी निवास करता है जो अपने को मण्डन मिश्र या सुरेश्वराचार्य का वंशज बतलाता है। त्रिचूर के मन्दिर की केरल भर में ख्याति पाने का यही कारण माना जाता है कि शंकराचार्य की समाधि उसी मन्दिर के पास[1] है।

काञ्ची कामकोटिपीठ की परम्परा

कामकोटिपीठ (काञ्ची) की परम्परा पूर्वोक्त दोनों परम्पराओं से भिन्न है। इस मठ की मान्यता है कि शङ्कराचार्य ने अपने शिष्यों को तो चारों मठों का अध्यक्ष बना दिया और अपने लिए उन्होंने काञ्ची को पसन्द किया।

काञ्ची में देहपात

यहीं कम्पातीरवासिनी भगवती कामेश्वरी अथवा कामकोटि देवी की निरन्तर अर्चना करते हुए आचार्य शङ्कर ने अपने अन्तिम दिन बिताये। काञ्ची नगरी के निर्माण में शङ्कर का विशेष हाथ था, ऐसा कहा जाता है। शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची की रचना उन्हीं के आज्ञानुसार राजसेन नामक राजा ने, जो उनका परम भक्त था, किया। कामाक्षी के मन्दिर को विष्णुस्थान मानकर श्रीचक्र की कल्पना के अनुसार नगरी बसा दी गयी। सदाशिव ब्रह्मेन्द्र कृत 'गुरुरत्नमालिका टीका' तथा 'गुरु परम्परास्तोत्र' में लिखा है कि भगवन् शङ्कर अपने जीवन के अन्तिम समय तक काञ्ची में ही विराजमान थे[2]। आनन्दगिरि ने शङ्करविजय में काञ्ची में ही आचार्य के शरीरपात होने की बात लिखी है[3]। एक विलक्षण बात यह है कि काञ्ची के मन्दिर कामाक्षी के मन्दिर का सामना करते हुए खड़े हैं अर्थात् सब मन्दिरों का मुँह कामाक्षी के मन्दिर की ओर ही है। बिना बुद्धिपूर्वक रचना किये हुए ऐसी घटना हो नहीं सकती।

प्रसिद्धि है कि शङ्कराचार्य कैलास से पाँच स्फटिक लिंग लाये थे जिनमें चार लिंगों की स्थापना उन्होंने चार प्रसिद्ध तीर्थों में की। शृंगेरी में उन्होंने भोग लिंग की स्थापना की। चिदम्बरम् में मोक्षलिंग की प्रतिष्ठा की। तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग में वे दक्षिण भारत के त्रिचनापल्ली के समीप स्थित जम्बुकेश्वर तीर्थ में पहुँचे और वहाँ की देवी अखिलाण्डेश्वरी के कानों में ताटङ्क के स्थान पर श्रीचक्र रखकर उन्होंने

पांच प्रसिद्ध लिङ्ग

---

[1] इस परम्परा के लिए द्रष्टव्य —पं० बलदेव उपाध्याय, 'शङ्कर दिग्विजय' का अनुवाद, परिशिष्ट पृ० ५८३—८६

[2] तत्र संस्थाप्य कामाक्षीं जगाम परमं पदम्।
विश्वरूपयतिं स्थाप्य स्वाश्रमस्य प्रचारणे ॥

[3] काञ्चीनगरे कदाचिद्‌युविग्रहसूक्ष्मशरीरं स्थूले अन्तर्धाय सद्रूपो भूत्वा सूक्ष्मं कारणे विलीनं कृत्वा चिन्मात्रीभूत्वा ·· ··· ··· ··· ·· ···सर्वजगद्व्यापकं चैतन्यमभवत्। तत्रत्याः

भगवती की उग्र कला को मृदु बना दिया। तोटकाचार्य को ज्योतिर्मठ का अधिपति बना कर बदरीनारायण के पास मुक्तिलिंग की प्रतिष्ठा की। नेपाल क्षेत्र में (जिसका प्राचीन नाम नीलकण्ठ क्षेत्र है) उन्होंने वीरलिंग की स्थापना कर उसके पूजा अर्चा की व्यवस्था की। इस प्रकार चार लिंगों की स्थापना शृंगेरी, चिदम्बरम्, नेपाल तथा बदरीनारायण में क्रमशः करके शङ्कर ने अपने पास सर्वश्रेष्ठ पञ्चम लिंग रखा। वह योगलिंग नाम से प्रसिद्ध था। काञ्ची में शङ्कर इसी लिंग की पूजा किया करते थे[1]। देहत्याग के समय उन्होंने इस लिंग को सुरेश्वर के हाथ *में समर्पित किया और काञ्चीपीठ तथा वहाँ के* शारदामठ का भार भी उन्हीं को दे दिया। स्मरण रखना चाहिए कि यह शारदामठ शृंगेरी के शारदा पीठ से भिन्न है और शिवकाञ्ची में ही स्थित है। *'शिव रहस्य' में भी* काञ्ची में योगलिंग की स्थापना तथा आचार्य के अन्तर्धान होने की बात लिखी है[2]। मार्कण्डेय संहिता (काण्ड ७२, परिच्छेद ७) में *लिखा है कि शङ्कर ने कामकोटि पीठ* में योगलिंग की प्रतिष्ठा की और उसके पूजन के लिए सुरेश्वराचार्य की नियुक्ति[3] की। रामभद्र दीक्षित कृत पतञ्जलिचरित (८।७१) से भी प्रतीत होता है कि शङ्कर का देहावसान काञ्ची में ही हुआ था। काञ्ची के लिंग के नाम के विषय में कहीं भोगेश्वर और कहीं योगेश्वर पाठ मिलता है परन्तु पूर्वापर का अच्छी तरह समन्वय कर योगेश्वर पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। नैषध में (१२।३८) काञ्ची स्थित जिस स्फटिकलिंग का वर्णन है वह शङ्कर द्वारा स्थापित योगेश्वरलिंग ही है[4]।

इस प्रकार कामकोटि पीठ से सम्बद्ध ग्रन्थों के कथनानुसार आचार्य का

ब्राह्मणाः सर्वे शिष्याः श्रुतिस्मृतीश्च उपनिषद्गीताब्रह्मसूत्राणि सम्यक् पठन्तः अत्यन्तशुचिस्थले गर्तं कृत्वा तत्र गन्धाक्षतबिल्वपत्रतुलसीप्रसूनादिभिः सम्पूज्य तच्छरीरं समाधिं चक्रुः। आनन्दगिरि—शङ्कर विजय ७४ प्रकरण,

[1]आनन्द गिरि—शङ्कर विजय प्रकरण ६८

[2]तद्योग भोगवरमुक्तिसुमोक्षयोग-
लिंगार्चनाप्राप्तजयस्वकाश्रमे
तान् वै विजित्य तरसा क्षतशास्त्रवादै-
र्मिश्रान् स काञ्च्यामथ सिद्धिमाप ॥ -शिवरहस्ये।

[3]काञ्च्यां श्रीकामकोटौ तु योगलिंगमनुत्तमम्।
प्रतिष्ठाप्य सुरेशार्यं पूजार्थं युयुजे गुरु ॥

[4]*स्निग्धार्जुनमय पवित्रमग्रमत्र तारकार्तिहृताद्भुतं।*
यत्र स्नान्ति जयन्ति, यान्ति कश्च के वा न पार्थिमाः॥
मद्धिन्दुचित्रमिन्दुरञ्जति जल भाविय दर्शनेन।
नद्यालयो जनदेववाञ्छितदिव्यभूमौ गिरिं योगेश्वरः॥
- नैषध, सर्ग १२, श्लो० ३८।

देहावसान काञ्ची में हुआ था। इन ग्रन्थकारों का कहना है कि माधवाचार्य के अनुसार जो वर्णन मिलता है वह कामकोटि पीठ के ३८ वें शङ्कराचार्य के जीवन का वृत्त है,' आदि शङ्कराचार्य का नहीं। इनका नाम 'धीर शङ्कर' था। इन्होंने आदिशङ्कर के समान समस्त भारत का विजय किया। इन्होंने ही काश्मीर में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया था तथा कैलास में महापद में लीन हो गये थे। उन्हीं के जीवन की घटनाएँ आदिशङ्कर के ऊपर आरोपित कर दी गयी हैं; वस्तुतः ये घटनाएँ 'धीर शङ्कर' की हैं। आदि शङ्कर ने तो काञ्ची में अपना शरीर छोड़ा था और यहीं वे महापद में लीन हो गये थे[१]।

इस प्रकार आचार्य के तिरोधान के विषय में तीन प्रधान मत हैं—(१) केरल की परम्परा आचार्य का तिरोधान केरल के 'त्रिचूर' नामक स्थान पर मानती है; (२) कामकोटिपीठ के अनुसार शंकर ने अपनी ऐहिक लीला का संवरण काञ्ची में किया। वहीं भगवती कामाक्षी की पूजा अर्चा में वे अपना अन्तिम दिन बिताते थे। सर्वज्ञ पीठ पर यहीं अधिरोहण किया तथा उनकी समाधि काञ्ची में ही दी गई; (३) शृंगेरी मठ के अनुसार इन्होंने कैलास में जाकर इस स्थूल शरीर को छोड़ा। ये ही तीन मत हैं। प्रथम मत के पोषक प्रमाण अन्यत्र नहीं मिलते। द्वितीय मत के पोषक प्रमाण बहुत अधिक हैं जिनका उल्लेख प्रथमतः किया गया है। तृतीय मत ही सर्वत्र प्रसिद्ध है तथा समग्र संन्यासियों का इसी मत में विश्वास है। दिग्विजयों के कथन इस विषय में एकरूपात्मक नहीं हैं। ऐसी विषम स्थिति में किसी सिद्धान्त पर पहुँचना बहुत ही कठिन है। जो कुछ हो, इतना तो बहुमत से निश्चित है कि शंकराचार्य ने भारतभूमि में वैदिक धर्म की रक्षा की सुन्दर व्यवस्था कर ३२ वर्ष की आयु में इस धराधाम को छोड़ा। उनके निधन की तिथि भी भिन्न भिन्न मानी जाती है। कुछ लोग उनका अवसान वैशाख शु० ११ को, कुछ वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को और कुछ लोग कार्तिक शु० ११ को मानते हैं।

शंकराचार्य के तिरोधान के विषय में एक प्रवाद प्रसिद्ध है जिसका यहाँ उल्लेख करना उचित है। प्रवाद यह है कि शंकराचार्य जब दिग्विजय के लिये बाहर जाते थे तब एक बड़ा भारी लोहे का कड़ाहा साथ ले चलते थे। बौद्धों के साथ जब शास्त्रार्थ करने लगते थे तब उस कड़ाहे में तेल भर कर आग के ऊपर गरम करने के लिये रख देते थे। विपक्षी से यह प्रतिज्ञा करा लेते थे कि यदि वह शास्त्रार्थ में हार जायेगा तो उसी खौलते हुये तेल में फेंक दिया जायेगा। एक बार शंकर महाचीन (तिब्बत) में बौद्धों से शास्त्रार्थ करने के लिये गये और तांत्रिक बौद्धों को शास्त्रार्थ में परास्त भी किया। उनके शिष्य आनन्दगिरि ने और आगे बढ़ने से रोका—भगवन् आगे बढ़ने की अब आवश्यकता नहीं है।

[१]विशेष द्रष्टव्य Prof. Venkteshan—The Last days of Shankaracharya—Journal of Oriental Research, Madras. Vol. I.

जगत् की सीमा नहीं है। आप शास्त्रार्थ कहाँ तक करते चलियेगा? गुरु ने शिष्य की बात मान ली और उस कड़ाहे को वहीं अपने दिग्विजय की सीमानिर्धारण करने के लिये छोड़ कर वहाँ से लौटे। तिब्बत में सुनते हैं कि वह स्थान 'शंकर-कटाह' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। नेपाल और तिब्बत में यह किम्वदन्ती प्रचलित है कि शंकर तिब्बत के किसी लामा से शास्त्रार्थ में पराजित हुये थे और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार खौलते हुए तेल में अपने को फेंक कर प्राणत्याग किया था। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि किसी लामा ने तान्त्रिक प्रयोग से शंकर को मार डाला था। ये तरह-तरह की निर्मूल किम्वदन्तियाँ हैं जिनमें हम सहसा विश्वास नहीं कर सकते। इन्हें केवल पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार परम ज्ञानी यतिराज शंकर के जीवन का ३२ वाँ वर्ष समाप्त हुआ। वे निर्विकल्पक समाधि का आश्रय लेकर इस धराधाम से चले गये। परब्रह्म से विकीर्ण होने वाली वह परम ज्योति जगत् को आलोकित कर फिर उसी परब्रह्म में विलीन हो गई। ओम् तत् सत्।

चतुर्दश परिच्छेद

शंकराचार्य के ग्रन्थ

आदिशंकराचार्य के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का निर्णय करना एक विषम पहेली है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उन्होंने कितने तथा किन-किन ग्रन्थों की रचना की थी। शंकराचार्य की कृति के रूप में दो सौ से भी अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या इन समस्त ग्रन्थों का निर्माण गोविन्द भगवत्पूज्यपाद के शिष्य श्री शंङ्कराचार्य के द्वारा सम्पन्न हुआ था? इस प्रश्न के कठिन होने का कारण यह है कि आदि शंकर के द्वारा प्रतिष्ठापित मठों के अधिपति भी शङ्कराचार्य के नाम से ही अपने को प्रख्यात करते हैं। यह पद्धति प्राचीन काल से चली आ रही है और आधुनिक काल में भी प्रचलित है। शंकराचार्य नामधारी इन आचार्यों ने ग्रन्थों की भी बहुत रचना की है। अतः इस नाम की समता के कारण यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि किस शंकराचार्य ने किस ग्रन्थविशेष का निर्माण किया है। आदि शंकराचार्य ने अपने ग्रन्थों की पुष्पिका में अपने को गोविन्द भगवत्पूज्यपाद का शिष्य लिखा है। इस पुष्पिका के सहारे इनके ग्रन्थों का अन्य शंकराचार्य के ग्रन्थों से पार्थक्य किया जा सकता था परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि इन बाद के शंकराचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में अपने असली गुरु के नामों का निर्देश न कर के गोविन्दपाद को ही अपने गुरु के स्थान में रखा है। अतः इन पुष्पिकाओं के आधार पर भी इन शंकराचार्यों का पता लगाना कठिन है।

हमारे सामने दूसरी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि आदि शंकराचार्य के ग्रन्थों में भी परस्पर निर्देशों का नितान्त अभाव है। प्रायः देखा जाता है कि ग्रन्थकार अपने एक ग्रन्थ में पूर्वलिखित अपने दूसरे ग्रन्थ या ग्रन्थों का प्रसङ्ग वश उल्लेख किया करते हैं। परन्तु शंकराचार्य ने इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया है अतः उनके ग्रन्थों की छान-बीन करने का कोई भी साधन उपलब्ध नहीं होता।

ग्रन्थों की अन्तरंग परीक्षा ही इस निर्णय का एक मात्र साधन है। आचार्य की रचना शैली नितान्त प्रौढ़ अथ च अत्यन्त सुबोध है। वे सरल प्रसादमयी रीति के उपासक हैं। जिसमें स्वाभाविकता ही परम भूषण है। इस शैली की विशिष्टता को ध्यान में रख कर हम आद्य शंकर की रचनाओं का निर्णय कर सकते हैं। परन्तु यह भी अन्तिम निर्णय नहीं कहा जा सकता। जब तक समस्त ग्रन्थ छप कर प्रकाशित नहीं हो जाते और उनकी विशिष्ट समीक्षा तथा अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक इसी मत पर हमें आस्था रखनी पड़ेगी।

भाष्य ग्रन्थ

आदि शंकराचार्य के द्वारा लिखित ग्रन्थों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) भाष्य (२) स्तोत्र तथा (३) प्रकरण ग्रन्थ

भाष्य-ग्रन्थों को हम दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं (१) एक तो प्रस्थानत्रयी का भाष्य (२) इतर ग्रन्थों के भाष्य। साधारणतया यह प्रसिद्ध है शंकर, रामानुज तथा अन्यान्य आचार्यों ने प्रस्थानत्रय (श्रुति, स्मृति तथा सूत्र) की व्याख्या की है तथा ऐसा करते समय इन्होंने दस प्रधान उपनिषदों पर भी भाष्य लिखा है। परन्तु यह जनश्रुति वस्तुतः सत्य नहीं है; क्योंकि रामानुज का लिखा हुआ कोई भी उपनिषद् भाष्य नहीं है। ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखते समय रामानुज ने प्रसंगवश उपनिषदों की अनेक श्रुतियाँ उद्धृत की हैं तथा उनकी व्याख्या भी की है। 'प्रस्थान' शब्द का साधारण अर्थ है 'गमन'। परन्तु 'प्रस्थानत्रय' में प्रस्थान का अर्थ है मार्ग, जिसके द्वारा गमन किया जाय। वेदान्त के तीन प्रस्थान या मार्ग ये हैं:—(१) श्रुति अर्थात् उपनिषद् (२) स्मृति अर्थात् गीता और (३) सूत्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र। इन तीनों स्थानों से यात्रा करने पर आध्यात्मिक मार्ग का पथिक ब्रह्म तक पहुँच सकता है। प्रस्थान का गमन अर्थ मानने में भी कोई विशेष क्षति नहीं है। ये तीनों ग्रन्थ ब्रह्म की ओर ले जाने वाले हैं। अतः इनकी गति ब्रह्म की ओर है।

इस प्रस्थानत्रयी की जो सबसे प्राचीन तथा आदि टीकायें उपलब्ध होती हैं वे शङ्कराचार्य के द्वारा ही लिखित हैं। शंकराचार्य के पहले भी कतिपय प्रसिद्ध वेदान्ताचार्यों ने इन ग्रन्थों पर टीकायें लिखी थीं तथा इन टीकाओं का पता शंकराचार्य और उनके शिष्यों के द्वारा लिखित ग्रन्थों के निर्देशों से चलता है। भर्तृप्रपञ्च ने कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद् पर भाष्यरचना की थी। आचार्य उपवर्ष ने ब्रह्मसूत्र तथा मीमांसा सूत्रों पर वृत्तियाँ लिखी थीं। इसके विषय में यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं। परन्तु ये वृत्ति ग्रन्थ अकाल ही में काल-कवलित हो गये। जिसके कारण इनके रचयिताओं के कतिपय मतों का ही साधारण रूप से हमें परिचय मिलता है। उनके पूर्ण तथा मौलिक सिद्धान्तों का पता हमें नहीं चलता। आचार्य शंकर के भाष्य इतने पूर्ण, प्रौढ़ तथा पाण्डित्य-पूर्ण थे कि पिछले विद्वानों का ध्यान इन्हीं के ग्रन्थों के अध्ययन और अनुशीलन तक सीमित रह गया। इन प्राचीन आचार्यों के टीका-ग्रन्थों की शंकर के ग्रन्थों के सामने सर्वत्र अवहेलना होने लगी। जो कुछ भी कारण हो, इतना तो निश्चित है कि शंकर के ही भाष्य-ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी के उपलब्ध भाष्य-ग्रन्थों में प्राचीनतम हैं।

(क) प्रस्थानत्रयी भाष्य—

१—ब्रह्मसूत्र भाष्य—आचार्य शंकर की सबसे सुन्दर तथा प्रौढ़ रचना मानी जाती है। ब्रह्मसूत्र इतने लघु अक्षर वाले तथा संक्षिप्त रूप में लिखे गये हैं कि बिना भाष्य की सहायता से उनका अर्थ समझना नितान्त कठिन है। शंकर ने बड़ी सरल, सुबोध, तथा प्रौढ़ भाषा में इन सूत्रों के अर्थों को विस्तृत रूप से प्रकाशित किया है। इस भाषा को पढ़कर साहित्य के पाठ करने का आनन्द आता है। सारा भाष्य इतनी, मधुर, कोमल तथा प्रसन्न शैली में लिखा गया है कि उसे पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। इतने कठिन दार्शनिक विषय को इस सुन्दरता तथा सरलता से समझाया गया है जिसका वर्णन करना कठिन है। वाचस्पति मिश्र जैसे प्रौढ़ दार्शनिक ने इस भाष्य को केवल 'प्रसन्न-गम्भीर' ही नहीं कहा है प्रत्युत इसे गंगाजल के समान पवित्र बतलाया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार गलियों का जल गंगा की धारा में पड़ने से पवित्र हो जाता है उसी प्रकार हमारी व्याख्या (भामती) भी इस भाष्य के संसर्ग से निश्चित ही पवित्र हो जायेगी :—

"नत्वा विशुद्धविज्ञानं, शङ्करं करुणाकरम्।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं, तत्प्रणीतं विभज्यते॥
आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम्।
रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपातः पवित्रयति॥"

भामती का मंगल श्लोक ६।७

इस भाष्य को शारीरक भाष्य भी कहते हैं। 'शारीरक' शब्द का अर्थ है शरीर में रहने वाला आत्मा। इन सूत्रों में आत्मा के स्वरूप का विचार किया गया है। अतः इन सूत्रों को शारीरक सूत्र और इस भाष्य को शारीरक भाष्य कहते हैं।

२—गीता-भाष्य

भगवद्गीता का यह प्रख्यात भाष्य है। यह भाष्य दूसरे अध्याय के ११वें श्लोक से प्रारम्भ होता है। आरम्भ में आचार्य ने अपने भाष्य के दृष्टिकोण को भली भाँति समझाया है। प्राचीन टीकाकारों के गीता के संबंध में जो विभिन्न मत थे उनकी इन्होंने विशेष रूप से पर्यालोचना की है। इनके गीता भाष्य के लिखने की यह शैली है कि श्लोक में जो शब्द जिस क्रम से आये हैं उनकी व्याख्या उसी क्रम से की गयी है। आदि और अन्त में उस श्लोक के तात्पर्य के दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। इस भाष्य में शंकर ने गीता की ज्ञान परक व्याख्या की है अर्थात् इन्होंने यह दिखलाया है कि गीता में मोक्ष प्राप्ति केवल तत्व ज्ञान से ही बतायी गयी है। ज्ञान और कर्म के समुच्चय से नहीं[1]। गीता के प्राचीन

१—गीतासु केवलादेव तत्वज्ञानात् मोक्षप्राप्ति, न कर्मसमुच्चितात्।
इति निश्चितोऽर्थः।
गीताभाष्य का उपोद्घात।

टीकाकारों के मत में सर्व कर्मों के सन्यास पूर्वक आत्मज्ञान मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती प्रत्युत अग्निहोत्रादि श्रौत और स्मार्त कर्मों के साथ ज्ञान का समुच्चय करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे लोग यह भी कहते हैं कि हिंसा आदि से युक्त होने के कारण वैदिक कर्मों को अधर्म का कारण मानना कथमपि उचित नहीं है। क्योंकि भगवान् ने स्वयं शास्त्र कर्म को जिसमें गुरु, भ्राता, पुत्र आदि की हिंसा होना अनिवार्य है स्वधर्म बतलाकर प्रशंसा की है। परन्तु शंकराचार्य ने इस मत का पर्याप्त खण्डन कर ज्ञानपरक अर्थ की युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है।

३—उपनिषद्-भाष्य

आचार्य के द्वारा लिखित उपनिषद् भाष्य ये हैं—(१) ईश (२) केन—पदभाष्य तथा वाक्य भाष्य (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक (११) श्वेताश्वतर (१२) नृसिंहतापिनी।

इन उपनिषद् भाष्यों की रचना आदि शंकराचार्य के द्वारा निष्पन्न हुई मानी जाती है। पर इस विषय में विद्वानों में एकमत्य नहीं है। केन उपनिषद् के दो भाष्य—पद वाक्य तथा वाक्य भाष्य शंकर के नाम से उपलब्ध हैं। अब विचारणीय विषय यह है कि क्या इन दोनों भाष्यों की रचना शंकराचार्य ने स्वयं की थी अथवा इन दोनों में से कोई एक दूसरे की रचना है। कुछ विद्वानों का कहना है कि एक बात को ग्रन्थकार ने दो विभिन्न प्रणालियों से व्याख्या करने के लिए दो भाष्य लिखा है। एक में है पदों का भाष्य और दूसरे में है वाक्यों का भाष्य। परन्तु इन दोनों भाष्यों की अन्तरंग परीक्षा करने से यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि इनके द्वारा प्रदर्शित युक्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। वाक्य भाष्य में शंकर के अत्यन्त प्रसिद्ध मत भी कभी भिन्न रूप में तथा कभी विरुद्ध रूप में वर्णित किये गये हैं। शब्दों की व्याख्या भी दोनों भाष्यों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रदर्शित की गयी मिलती है। उदाहरण के लिये देखिये।

केन-भाष्य

"उपनिषदं भो ब्रूहि इति। उक्ता त उपनिषद्,
ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रूम इति।" (४, ७)

इसकी व्याख्या पद—भाष्य में जितनी स्वाभाविक रीति से की गयी है उतनी वाक्य भाष्य में नहीं है।

'ब्राह्मी' और 'अब्रूम' पद की व्याख्या दोनों भाष्यों में इस प्रकार है:—

"पदभाष्य—ब्राह्मीं ब्राह्मणः परमात्मनः इयं ब्राह्मी तां परमात्मविषयत्वात् अतीतविज्ञानस्य वाव एव ते उपनिषद अब्रूम इति। उक्तामेव परमात्मविषयां उपनिषदमब्रूम इति। अवधारयति उत्तरार्थम्।"

"वाक्य भाष्य—ब्राह्मीं ब्राह्मणो ब्राह्मणजातेः उपनिषदं अब्रूम वक्ष्यामः

इत्यर्थः। वक्ष्यतिः ब्राह्मीनोक्ता, उक्ता तु आत्मोपनिषद्। तस्मात् न भूताभिप्रायो अब्रूम इति शब्दः।"

पद भाष्य के अनुसार ब्राह्मी शब्द का अर्थ है ब्रह्म से संबंध रखने वाली उपनिषद् तथा 'अब्रूम' का अर्थ है 'कहा'। इसके विपरीत वाक्यभाष्य में इन शब्दों के क्रमशः अर्थ है ब्राह्मण जाति से संबंध रखने वाली उपनिषद् तथा 'अब्रूम' का अर्थ है 'कहूँगा'। 'अब्रूम' भूतकालिक क्रिया है। उसका 'वक्ष्यति' अर्थ कितना अनुचित तथा विरुद्ध है इसे विद्वान् पाठकों को बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार शब्दों की व्याख्या में ही अन्तर नहीं है, प्रत्युत मूल के पाठ में भी पर्याप्त भेद है। केन (२, २) का पाठ है 'नाहं मन्ये सुवेदेति'। पदभाष्य में मूल में 'अह' शब्द मानकर उसकी व्याख्या की गयी है, परन्तु वाक्य भाष्य में 'नाहम्' के स्थान 'नाह' पाठ माना गया है। इस मन्त्र की जो व्याख्या दोनों भाष्यों में की गयी है वह पर्याप्त रूप से विभिन्न है। अतः यह निश्चित है इन दोनों भाष्यों का एक लेखक नहीं हो सकता। पदभाष्य शंकराचार्य की भाष्य शैली के अनुगमन करने के कारण तथा अधिक तर्क युक्त होने के कारण निश्चित ही आदि शंकराचार्य की रचना है। वाक्य-भाष्य के लेखक कोई दूसरे शंकराचार्य होंगे। विद्याशंकर नाम के शृङ्गेरी मठ के एक आचार्य थे। विद्वानों की सम्मति में इन्होंने ने ही इस वाक्य भाष्य की रचना की थी।

श्वेताश्वतर उपनिषद् पर जो भाष्य आचार्य के नाम से उपलब्ध है उसकी रचना शैली और व्याख्या पद्धति ब्रह्मसूत्र-भाष्य की अपेक्षा भिन्न तथा निकृष्ट है। इसमें पुराणों के लम्बे लम्बे उद्धरण मिलते हैं। उदाहरण के लिये विष्णु पुराण, लिङ्ग पुराण, वायुपुराण के लम्बे उद्धरणों के सिवाय योगवाशिष्ठ तथा शिवधर्मोत्तर एवं विष्णुधर्मोत्तर के भी उद्धरण इस भाष्य में मिलते हैं[1]। इस प्रकार पुराणों से लम्बे लम्बे उद्धरण देना शंकराचार्य के भाष्य की शैली नहीं है। दूसरा प्रमाण इस विषय में यह है कि श्वेताश्वतर के भाष्यकार ने १।८ की व्याख्या में माण्डूक्य कारिका (३।५) का उद्धरण दिया है और उसके लेखक का उल्लेख करते हुये उन्हें 'शुकशिष्यो गौडपादाचार्यः' लिखा है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि आचार्य शंकर ने अपने परम गुरु (गोविन्द पाद के गुरु) गौडपाद के लिये सदा भगवान् तथा सम्प्रदायवित् आदि आदरणीय शब्दों का सदा प्रयोग किया है[2]। यदि वे ही इस भाष्य के भी रचयिता होते तो इस 'शुकशिष्य' जैसे निरादर सूचक शब्द से अपने परम गुरु का

(हाशिये पर: श्वेताश्वतर उपनिषद्)

[1] श्वेताश्वतर उपनिषद भाष्य—उपोद्घात।

[2] ब्रह्मसूत्र १।४।१४ में शंकराचार्य ने 'मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः' माण्डूक्यकारिका ३।१५ का उद्धरण देते हुये गौडपाद को 'सम्प्रदायविदो वदन्ति' कहा है। ब्रह्मसूत्र २।१।९ के भाष्य में शंकर ने 'अनादिमायया सुप्तो माण्डूक्यकारिका १।१६ का उद्धरण देते हुये लिखा है 'अत्रोक्तं वेदान्तार्थसम्प्रदायविद्भिराचार्यैः।

उल्लेख कदापि नहीं करते। अतः इन प्रमाणों से सिद्ध है आदि शंकराचार्य इस उपनिषद् भाष्य के कर्ता नहीं हो सकते।

माण्डूक्य भाष्य

माण्डूक्य भाष्य की रचना के विषय में विद्वानों को बड़ा संदेह है। शंका की बात है भाष्य के आरम्भ में मंगलाचरण। आचार्य शंकर के भाष्य के आरम्भ में श्लोकात्मक मंगल की रचना नहीं मिलती। तैत्तिरीय भाष्य के आदि में जो श्लोक मिलते हैं उन्हें भी आचार्यकृत होने में संदेह है। माण्डूक्यभाष्य के मंगलाचरण के द्वितीय श्लोक में छंदोदोष भी है। इस पद्य में आरम्भ के तीन चरण मन्दाक्रान्ता के हैं और अंतिम चरण स्रग्धरा का। इस प्रकार का मिश्रण छन्दः शास्त्र के नियम से अनुमोदित नहीं है। भाष्य के भीतर भी कतिपय बातें शांकर मत से बिल्कुल ही नहीं मिलतीं। इसीलिए इस भाष्य को शंकराचार्य रचित मानने में विद्वान् लोग शंका करते हैं।

नृसिंहतापनीय के विषय में भी विद्वानों का अंतिम निर्णय नहीं हुआ है। इस उपनिषद् में तान्त्रिक सिद्धान्तों का विशेष वर्णन है। तन्त्र को अर्वाचीन मानने वाले लोग इस उपनिषद् को ही संदेह की दृष्टि से देखते हैं। कुछ लोग नृसिंहतापनीय और प्रपंचसार के रचयिता को एक ही व्यक्ति मानते हैं और उसे आदि—शंकर से भिन्न मानते हैं। नृसिंहभाष्य में प्रपञ्चसार से ६ श्लोक उद्धृत किये गये हैं और वे सब श्लोक वर्तमान प्रपञ्चसार में उपलब्ध होते हैं। नृसिंहभाष्य में व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी विशेषतः पाई गई हैं, परंतु माण्डूक्य भाष्य से कम। इन्हीं कारणों से इन भाष्यों को शंकर रचित मानने में विद्वान् लोग हिचकते हैं।

उपनिषद् के भाष्यों में वही शैली तथा वही सरलता उपलब्ध होती है जो आचार्य के अन्य भाष्यों में है। शंकर ने प्रत्येक भाष्य के आरम्भ में उपोद्घात के रूप में अनेक मन्तव्यों का सुन्दर प्रतिपादन किया है। स्थान-स्थान पर प्राचीन वेदान्ताचार्यों के सिद्धान्तों को अपने मत की पुष्टि के लिए उद्धृत किया है तथा खण्डन करने के लिए भी कहीं कहीं निर्देश किया है। इस विषय में बृहदारण्यक का भाष्य सब से अधिक विद्वत्तापूर्ण, व्यापक तथा प्रञ्जल माना जाता है। इसी भाष्य के ऊपर आचार्य के पट्ट-शिष्य सुरेश्वराचार्य ने अपना विपुलकाय वार्तिक ग्रन्थ लिखा है। शंकराचार्य ने ब्रह्मप्राप्ति के साधक उपायों में कर्म की उपादेयता का खण्डन बड़ी प्रबल युक्तियों के बल पर किया है। उनके प्रबल खण्डन को देखकर प्रतीत होता है कि उस समय इस मत का कितना प्राबल्य था। साहित्यिक दृष्टि से इन भाष्यों का समधिक महत्त्व है। प्रौढ़ शास्त्रीय गद्य के ये उत्कृष्ट नमूने हैं। इस प्रस्थानत्रयी के भाष्यों में समरसता है—वही विशुद्ध विषय प्रतिपादन शैली है, वही सरल सुबोध शब्दों के द्वारा गम्भीर अर्थों का विवेचन है। आचार्य के सिद्धान्तों को समझने के लिए इन भाष्यों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

इतर ग्रन्थों पर भाष्य

प्रस्थानत्रयी के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों पर भी शंकराचार्य विरचित भाष्य उपलब्ध हैं। इनमें कुछ उनकी निःसन्दिग्ध रचनायें हैं, परन्तु अन्य भाष्य वस्तुतः किसी अन्य शंकर द्वारा विरचित हैं :—

<u>असन्दिग्ध भाष्य—</u>

(१) [illegible] विष्णुसहस्र नाम पर भाष्य। इसमें [illegible] उसकी पुष्टि में उपनिषद्, पुराण आदि ग्रन्थों का प्रमाण उद्धृत किया गया है।

(२) सनत्सुजातीय भाष्य—धृतराष्ट्र के मोह को दूर करने के लिए सनत्सुजात ऋषि ने जो आध्यात्मिक उपदेश दिया था वह महाभारत के उद्योग पर्व (अध्याय ४२—अध्याय ४६) में वर्णित है। इसे 'सनत्सुजातीय पर्व' कहते हैं। इसी पर्व का यह भाष्य है।

(३) ललितात्रिशती भाष्य—भगवती ललिता के तीन सौ नामों पर विस्तृत पाण्डित्यपूर्ण भाष्य। आचार्य ललिता के उपासक थे। इस ग्रन्थ में उपनिषत् तथा तन्त्रों का प्रमाण उद्धृत कर नामों की बड़ी ही अभिराम तथा हृदयगम व्याख्या की गई है।

(४) माण्डूक्य कारिका भाष्य—शंकर के परम गुरु गौडपादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषत् के ऊपर कारिकायें लिखी हैं। उन्हीं के ऊपर यह भाष्य है। कतिपय विद्वान् इसे आचार्य की रचना होने में संशय करते हैं, परन्तु उनकी युक्तियाँ उतनी प्रबल तथा उपादेय नहीं हैं।

निम्नलिखित भाष्यों को शंकर रचित मानने में सन्देह बना हुआ है—

(क) कौषीतकि-उपनिषद् भाष्य
(ख) मैत्रायणीय ,, ,,
(ग) कैवल्य ,, ,,
(घ) महानारायण ,, ,,
(ङ) हस्तामलक स्तोत्र भाष्य—आचार्य के शिष्य हस्तामलक के द्वारा रचित द्वादशपद्यात्मक स्तोत्र का विस्तृत भाष्य। शिष्य के ग्रन्थ पर गुरु का भाष्य लिखना असंगत सा प्रतीत होता है। आचार्य ग्रन्थावली (श्रीरंगम, १६वाँ खण्ड, पृ० १६३—१८३) में प्रकाशित।
(च) अध्यात्मपटल भाष्य—आपस्तम्बधर्मसूत्र के प्रथम प्रश्न के आठवें पटल की टीका—अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित।
(छ) गायत्री भाष्य
(ज) सन्ध्या भाष्य

नीचे लिखित टीकायें शंकर की रचना कथमपि नहीं हो सकती। उनकी रचना शैली तथा विषय का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है—

(१) अपरोक्षानुभव व्याख्या
(२) अमरुशतक टीका
(३) आनन्दलहरी टीका
(४) आत्मबोध टीका (अध्यात्मविद्या—उपदेश विधि तथा संक्षिप्तवेदान्तशास्त्र प्रक्रिया के नाम से प्रख्यात)
(५) उत्तरगीता टीका
(६) उपदेश साहस्र—वृत्ति
(७) एक श्लोक व्याख्या
(८) गोपाल तापनीय भाष्य
(९) दक्षिणामूर्ति अष्टक टीका
(१०) पञ्चदशीप्रकरण टीका
(११) पञ्चीकरण प्रक्रिया व्याख्या
(१२) परमहंस उपनिषद् हृदय
(१३) पातञ्जलयोगसूत्र भाष्य—विवरण
(१४) ब्रह्मगीता—टीका
(१५) भट्टिकाव्य—टीका
(१६) राजयोग—भाष्य
(१७) लघुवाक्य वृत्ति—टीका
(१८) ललिता सहस्रनाम भाष्य
(१९) विजृम्भित योगसूत्र भाष्य
(२०) शतश्लोकी व्याख्या
(२१) शाकटायन उपनिषद् भाष्य
(२२) शिवगीता भाष्य
(२३) षट्पदी टीका (वेदान्त सिद्धान्त दीपिका)
(२४) संक्षेप शारीरक भाष्य
(२५) सूतसंहिता भाष्य
(२६) सांख्य कारिका-टीका (जयमङ्गला टीका—कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज (नं० १८) में प्रकाशित) लेखन शैली की भिन्नता होने से शंकर कृत नहीं है। 'शङ्करार्य' नाम पण्डित की लिखी टीकायें 'जयमंगला' के नाम से विख्यात हैं। इनमें दो प्रसिद्ध हैं—(१) कामन्दक नीति सार की व्याख्या (अनन्त शयन ग्रन्थमाला नं० १४) तथा (२) वात्स्यायन कामसूत्र की व्याख्या (काशी से प्रकाशित यह सांख्य टीका नाम से ही नहीं प्रत्युत रचना शैली में भी इन टीकाओं से

मिलती जुलती है। अतः यह जयमङ्गला शङ्कराचार्य रचित न होकर शङ्करार्य (लगभग १४०० ई०) की रचना है[1]।

स्तोत्र ग्रन्थ

आचार्य परमार्थतः अद्वैतवादी होने पर भी व्यवहार भूमि में नाना देवताओं की उपासना तथा सार्थकता को खूब मानते थे। सगुण की उपासना निर्गुण की उपलब्धि का प्रधान साधन है। जब तक साधक सगुण ईश्वर की उपासना नहीं करता तब तक वह निर्गुण ब्रह्म को कभी भी नहीं प्राप्त कर सकता। अतः सगुण ब्रह्म की उपासना का विशेष महत्त्व है। आचार्य स्वयं लोक संग्रह के निमित्त इसका आचरण करते थे। उनका हृदय विशाल था। उसमें साम्प्रदायिक क्षुद्रता के लिए कहाँ स्थान न था। यही कारण है कि उन्होंने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति आदि देवताओं की सुन्दर स्तुतियों की रचना की है। इन स्तोत्रों का साहित्यिक महत्त्व कम नहीं है। दर्शन शास्त्र की उच्च कोटि में विचरण करने वाले विद्वान् की रचना इतनी ललित, कोमल, रसभाव से सम्पन्न तथा अलङ्कारों की छटा से मण्डित होगी यह देखकर आलोचक के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। शङ्कर के नाम से सम्बद्ध मुख्य स्तोत्रों की नामावली पहले दी जाती है। अनन्तर उन पर विचार किया जायेगा।

(१) गणेश स्तोत्र

(१) गणेश पञ्चरत्न (६ श्लोक) (२) गणेश भुजङ्ग प्रयात (६ श्लोक) (३) गणेशाष्टक (८॥) (४) वरद गणेश स्तोत्र।

(२) शिव-स्तोत्र

(१) शिव भुजंग (४० श्लोक) (२) शिवानन्द लहरी (१०० श्लोक) (३) शिवपादादि केशान्त स्तोत्र (४१ श्लोक) (४) शिवकेशादिपादान्त स्तोत्र (२६ श्लोक) (५) वेदसार शिव स्तोत्र (११ श्लोक) (६) शिवापराधक्षमापण (१५ श्लो०) (७) सुवर्णमाला स्तुति (५० श्लो०) (८) दक्षिणामूर्ति वर्णमाला (३५ श्लो०) (९) दक्षिणा मूर्ति अष्टक (१० श्लो०) (१०) मृत्युञ्जय मानसिक पूजा (४६ श्लो०) (११) शिवनामावल्यष्टक (६ श्लो०) (१२) शिव पञ्चाक्षर (५ श्लो०) (१३) उमा महेश्वर (१३ श्लो०) (१४) दक्षिणा मूर्ति स्तोत्र (१६ श्लो०) (१५) कालभैरवाष्टक (८ श्लो०) (१६) शिवपञ्चाक्षर नक्षत्रमाला (२८ श्लो०) (१७) द्वादशलिङ्ग स्तोत्र (श्लो० १३) (१८) दशश्लोकी स्तुति (१० श्लो०)

---

[1] द्रष्टव्य महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज—जयमंगला की भूमिका पृ० ५—६

(२) गोविन्दाष्टक—इस पर आनन्दतीर्थ की व्याख्या उपलब्ध होती है। वाणीविलास की शंकर ग्रन्थावली (भाग १८, पृ० ५६-५८) में प्रकाशित है।

(३) दक्षिणामूर्तिस्तोत्र—दस शार्दूलविक्रीडित पद्यों में निबद्ध हैं। इसके ऊपर सुरेश्वराचार्य ने 'मानसोल्लास' नामक टीका लिखी है। विद्यारण्य, स्वयंप्रकाश, या प्रकाशात्मन्, पूर्णानन्द, नारायण तीर्थ के द्वारा लिखित टीकायें मिलती हैं। इस स्तोत्र में वेदान्त के साथ शैव तन्त्र का भी विशेष प्रभाव दीख पड़ता है। तन्त्र के पारिभाषिक शब्द यहाँ उपलब्ध होते हैं। शङ्कर के तान्त्रिक मत जानने के लिए यह स्तोत्र उपादेय है।

(४) दश श्लोकी—इसी का दूसरा नाम चिदानन्द दशश्लोकी या चिदानन्द स्तवराज है। प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण है 'तदेकोवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्'। इसका दूसरा नाम 'निर्वाण दशक' है। इन श्लोकों की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने की है जिसका नाम सिद्धान्त बिन्दु है।

(५) चर्पट पञ्जरिका—१७ श्लोकों में गोविन्द भजन का रसमय उपदेश है। प्रत्येक श्लोक का टेक पद है—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दंभज मूढमते।

इसके पद्य नितान्त सरस, सुबोध तथा गीतिमय हैं। प्रसिद्ध नाम मोह मुद्गर है। अन्य नाम 'द्वादश मञ्जरी' या 'द्वादश पञ्जरिका' है।

(६) द्वादश पञ्जरिका—इसमें बारह पद्य हैं। प्रथम पद्य का आरम्भ 'मूढ जहीहि धनागमतृष्णां' से होता है। इन पद्यों की सुन्दरता नितान्त श्लाघनीय है।

(७) षट् पदी—इसका दूसरा नाम विष्णु षट् पदी है। इसके ऊपर लगभग छः टीकायें मिलती हैं जिनमें एक टीका स्वयं शङ्कराचार्य का है दूसरी टीका रामानुज मत के अनुसार की गई है। इस स्तोत्र का यह पद्य विशेष लोकप्रिय है:—

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

(८) हरिमीडे स्तोत्र—इसके ऊपर विद्यारण्य, स्वयंप्रकाश, आनन्दगिरि तथा शंकराचार्य के द्वारा लिखित टीकायें उपलब्ध होती हैं। स्वयंप्रकाश की टीका मैसूर से प्रकाशित हुई है। विष्णु की प्रशस्त स्तुति इसमें की गई है:—

सर्वज्ञो यो यश्च हि सर्वः सकलो
यो यश्चानन्दोऽनन्तगुणो यो गुणधामा।
यश्चाव्यक्तो व्यस्तसमस्तः सदसद्यः
तं संसारध्वान्तविनाशं हरिमीडे॥

(९) मनीषा पञ्चक—इस स्तोत्र से सम्बद्ध एक विचित्र घटना हुई है। काशी में चाण्डाल वेशधारी विश्वनाथ के पूछने पर शंकर ने आत्मस्वरूप का

वर्णन इन पद्यों में किया है। अन्तिम पाँच पद्यों के अन्त में 'मनीषा' शब्द आता है। इसीलिए इसे 'मनीषा पञ्चक' कहते हैं। यद्यपि पूरे स्तोत्र में नव श्लोक मिलते हैं—

> जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते,
> या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी।
> सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञापि यस्यास्ति चेत्
> चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।

इसके ऊपर सदाशिवेन्द्र की टीका तथा गोपालबाल यति रचित 'मधुमञ्जरी' नामक व्याख्या लिखी मिलती है।

(१०) **सोपान पञ्चक**—इसी का दूसरा नाम 'उपदेश पञ्चक' है। इन पाँच पद्यों में वेदान्त के आचरण का सम्यक् उपदेश है। (वाणी विलास, शङ्कर ग्रन्थावली, भाग १६ पृ० १२०.)।

(११) **शिवभुजंग प्रयात**—इसमें चौदह पद्य हैं। माधवाचार्य का कथन है (शंकर दिग्विजय १४।३७) कि इन्हीं पद्यों के द्वारा शंकर ने अपनी माता के अन्त काल में भगवान् शंकर की स्तुति की थी जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने अपने दूतों को भेजा था—

> महादेव देवेश देवादिदेव,
> स्मरारे पुरारे यमारे हरेति।
> ब्रुवाणः स्मरिष्यामि भक्त्या भवन्तं
> ततो मे दयाशील देव प्रसीद॥

प्रकरण ग्रन्थ

शंकराचार्य ने बहुसंख्यक छोटे छोटे ग्रन्थों का निर्माण किया है जिनमें वेदान्त के विषय का वर्णन बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया गया है। वेदान्त तत्त्व, प्रतिपादक होने से ये 'प्रकरण ग्रन्थ' कहलाते हैं, जिनमें वेदान्त के साधनभूत वैराग्य, त्याग, शमदमादि सम्पद् का तथा अद्वैत के मूल सिद्धान्तों का बड़ा ही विशद विवेचन है। आचार्य का अभिप्राय सर्वसाधारण जनता तक अद्वैत का सन्देश पहुँचाना था और इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए इन्होंने यह मनोरम साहित्यिक प्रयत्न किया है। भाष्यों की भाषा तो नितान्त प्राञ्जल है, परन्तु उनको तर्कशैली कठिन है। अतः वे विद्वानों की वस्तु हैं। सर्वसाधारण को इन भाष्यों के परिनिष्ठित सिद्धान्तों तथा प्रासादिक उपदेशों से परिचित कराने के लिए इन प्रकरण-ग्रन्थों का निर्माण किया गया है। ऐसे प्रकरण ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें से कुछ ग्रन्थों की शैली आचार्य के निःसन्दिग्ध ग्रन्थों की शैली से इतनी भिन्न है कि उन्हें आचार्य की कृति मानना नितान्त अनुचित है। किन्हीं ग्रन्थों में वेदान्त के मान्य विषयों का—आत्मा, अद्वैत, निरञ्जन—आदि का विशद प्रतिपादन

है। परन्तु अनेक ग्रन्थों में अद्वैत विरोधी सिद्धान्त भी उपलब्ध होते हैं। यथा—'अनादेरपि विध्वंसः प्रागभावस्य वित्तितः'—जिसमें आचार्य की मान्यता के विरुद्ध न्यायसम्मत अभाव के भेदों का निर्देश है। कहीं व्याकरण की अशुद्धियाँ भी मिलती हैं (यथा 'गाणापत्ये' श्रीमन्मुक्तानन्दलहरी श्लोक १४ में तथा 'रमन्वः' यतिपञ्चक के चौथे पद्य में)। इन ग्रन्थों के कर्तृत्व का विचार करते समय आचार्य की लेखन शैली, सिद्धान्त तथा पदविन्यास आदि पर ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है।

शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध मुख्य मुख्य प्रकरणग्रन्थों का परिचय पहिले दिया जाता है। अनन्तर उनकी तुलनात्मक समीक्षा की जायगी। ग्रन्थों के नाम वर्णक्रम से दिये जाते हैं :—

(१) **अद्वैतपञ्चरत्न**—अद्वैत के प्रतिपादक ५ श्लोक। प्रत्येक पद्यके अन्त में 'शिवोऽहम्' आता है। इस पुस्तक का नाम 'आत्मपञ्चक' तथा 'अद्वैतपञ्चक' भी है। पञ्चक नाम होने पर भी कहीं कहीं एक श्लोक अधिक मिलता है।

(२) **अद्वैतानुभूति**—अद्वैततत्त्व का ८४ अनुष्टुभों में वर्णन।

(३) **अनात्मश्री विगर्हण प्रकरण**—आत्मतत्त्व के साक्षात् न करने वाले तथा विषयवासना में ही जीवन बिताने वाले व्यक्तियों की निन्दा प्रदर्शित की गई है। श्लोकसंख्या १८। प्रत्येक पद्य के अन्त में आता है—येन स्वात्मा नैव साक्षात् कृतोऽभूत। उदाहरणार्थ पद्य दिया जाता है—

> अब्धिः पद्भ्यां लंघितो वा ततः किं
> वायुः कुम्भे स्थापितो वा ततः किम्।
> मेरुः पाणावुद्धृतो वा ततः किं
> येन स्वात्मा नैव साक्षात् कृतोऽभूत्॥

* (४) **अपरोक्षानुभूति**—अपरोक्ष अनुभव के साधन तथा स्वरूप का वर्णन। १४४ श्लोक। सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर दृष्टान्तों के सहारे किया गया है—

> यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा।
> शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीवशब्दस्तथापरे॥

'अपरोक्षानुभव.सूत्र' नामक ग्रन्थ इससे भिन्न प्रतीत होता है। इसके ऊपर प्राचीन आचार्यों की लिखी अनेक टीकायें हैं जिनमें एक आचार्य शंकर रचित है और दूसरी विद्यारण्य[1] रचित।

* (५) **आत्मबोध**—६८ श्लोकों में आत्मा के स्वरूप का विशद विवरण है। नाना उदाहरण देकर आत्मा को शरीर, मन तथा इन्द्रियादिकों से पृथक् सिद्ध

[1] यह टीका मैसूर से १८९८ में प्रकाशित शंकरग्रन्थावली के द्वितीय भाग में है। टीका विद्यारण्य स्वामी की निःसन्दिग्ध रचना है, यह कहना कठिन है।

किया गया है। बोधेन्द्र (गीर्वाणेन्द्र के शिष्य) ने इस ग्रन्थ के ऊपर 'भाव प्रकाशिका' टीका लिखी है। गुरु गीर्वाणेन्द्र किसी अद्वैत मठ के अधिपति थे और शिष्य बोधेन्द्र त्रिपुरसुन्दरी के उपासक थे[1]। इस पर आचार्य की तथा मधुसूदन सरस्वती की टीका का भी उल्लेख मिलता है। इसका १३ वाँ श्लोक 'वेदान्त परिभाषा' में उद्धृत किया गया है।

(६) उपदेश पञ्चक—५ पद्यों में वेदान्त के आचरण का सम्यक् उपदेश।

❀ (७) उपदेशसाहस्री—इस ग्रन्थ का पूरा नाम है—सकल वेदोपनिषत्सारोपदेशसाहस्री। इस नाम की दो पुस्तकें हैं—(१) गद्यप्रबन्ध—गुरुशिष्य के संवाद रूप में वेदान्त के तत्त्व गद्य में विशदरूपेण वर्णित हैं। (२) पद्यप्रबन्ध—जिसमें वेदान्त के नाना विषयों पर १९ प्रकरण हैं। इसके अनेक पद्यों को सुरेश्वराचार्य ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में उद्धृत किया है। अतः इसके आचार्यकृत होने में सन्देह नहीं किया जा सकता। इसकी शंकर रचित वृत्ति सम्भवतः आचार्य की कृति नहीं है। आनन्दतीर्थ तथा बोधनिधि की टीकायें मिलती हैं। रामतीर्थ ने गद्य-पद्य उभय प्रबन्धों पर अपनी सरल व्याख्या लिखी है। वेदान्तदेशिक (१२५०ई०) ने 'शतदूषणी' में 'गद्य प्रबन्ध' का भी उल्लेख किया है। कतिपय विद्वान् 'गद्य प्रबन्ध' को आचार्य शङ्कर की रचना नहीं मानते।

(८) एक श्लोकी—सब ज्योतियों से विलक्षण परम ज्योति का एक श्लोक में वर्णन। इस नाम से दो श्लोक प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक के ऊपर 'गोपाल योगीन्द्र' के शिष्य 'स्वयंप्रकाश' यति का 'स्वात्मदीपन' नामक व्याख्यान है।

(९) कौपीनपञ्चक—वेदान्त तत्त्व में रमण करने वाले ज्ञानियों का वर्णन। प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' है। इसी का नाम 'यतिपञ्चक' है।

(१०) जीवन्मुक्तानन्द लहरी—शिखरिणी वृत्त के १७ पद्यों में जीवन्मुक्त पुरुष के आनन्द का ललित वर्णन। प्रत्येक पद्य का अन्तिम चरण है—'मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमाः'। उदाहरण के लिए यह पद्य पर्याप्त होगा—

कदाचित् सत्त्वस्थः क्वचिदपि रजोवृत्तियुगत—
स्तमोवृत्तः क्वापि त्रितयरहितः क्वापि च पुनः।
कदाचित् संसारी श्रुतिपथविहारी क्वचिदहो॥
मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमाः॥

(११) तत्त्वबोध—वेदान्त के तत्त्वों का प्रश्नोत्तर रूप से संक्षिप्त गद्यात्मक वर्णन।

[1]द्रष्टव्य—तंजोर की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची। परिचय संख्या ७१०४।

(१२) **तत्त्वोपदेश**—'तत्' तथा 'त्वं' पदों का अर्थ वर्णन और गुरूपदेश से आत्मतत्त्व की अनुभूति। ८७ अनुष्टुप्। 'तत् त्वमसि' वाक्य के समझने के लिए त्रिविध—जहती, अजहती तथा जहदजहती—लक्षणा का सांग प्रदर्शन है।

> सामानाधिकरण्यं हि पदयोस्तत्त्वयोर्द्वयोः।
> सम्बन्धस्तेन वेदान्तैर्ब्रह्मैक्यं प्रतिपाद्यते॥

(१३) **धन्याष्टक**—ब्रह्मज्ञान से अपने जीवन को धन्य मानने वाले पुरुषों का रमणीय वर्णन। अष्टक होने पर भी कहीं-कहीं इसके अन्त में दो श्लोक और भी मिलते हैं।

> सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
> गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहः पुण्याः समस्ताः क्रियाः॥
> वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी
> सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि॥

(१४) **निर्गुण मानस पूजा**—गुरु-शिष्य के संवाद रूप में निर्गुण तत्त्व की मानसिक पूजा का विवरण। इसमें ३३ अनुष्टुप् है। सगुण ईश्वर की उपासना के लिए पुष्पानुलेपन आदि बाह्य उपकरणों की आवश्यकता रहती है, परन्तु निर्गुण की उपासना के लिए नाना मानसिक भावनाएँ ही बाहरी साधनों का काम करती हैं। इसी विषय का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में है।

> रागादिगुणशून्यस्य शिवस्य परमात्मनः।
> सरागविषयाभ्यासत्यागस्ताम्बूलचर्वणम्॥
> अज्ञानध्वान्तविध्वंसप्रचण्डमतिभास्करम्।
> आत्मनो ब्रह्मताज्ञानं नीराजनमिहात्मनः॥

(१५) **निर्वाण मंजरी**—१२ श्लोकों में शिवतत्त्व के स्वरूप का विवेचन। अद्वैत, व्यापक, नित्य तथा शुद्ध आत्मा का कमनीय वर्णन। प्रत्येक श्लोक के अन्त में कहीं 'शिवोऽहं' और कहीं 'तदेवाहमस्मि' आता है—

> अहं नैव मन्ता न गन्ता न वक्ता
> न कर्ता न भोक्ता न मुक्ताश्रमस्थः।
> यथाहं मनोवृत्तिभेदस्वरूप—
> स्तथा सर्ववृत्तिप्रदीपः शिवोऽहम्॥

(१६) **निर्वाण षट्क**—६ श्लोकों में आत्मस्वरूप का वर्णन। प्रत्येक श्लोक के चतुर्थ चरण के रूप में 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्' आता है। नेति नेति के सिद्धान्त का दृष्टान्तों के द्वारा विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है।

> न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
> न मन्त्रो न तीर्थो न वेदा न यज्ञाः।

अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः 'शिवोऽहं शिवोऽहम्' ॥

*(१७) पंचीकरण प्रकरण—पञ्चीकरण का गद्य में वर्णन। सुरेश्वराचार्य ने इसके ऊपर वार्तिक लिखा है जिस पर शिवराम तीर्थ का विवरण मिलता है। इस 'विवरण' पर 'आभरण' नामक एक और भी टीका मिलती है। गोपालयोगीन्द्र के शिष्य स्वयंप्रकाश की 'विवरण टीका' के अतिरिक्त आनन्द गिरि ने भी इस पर 'विवरण' नामक टीका लिखी है। इस पर कृष्णतीर्थ के किसी शिष्य ने 'तत्वचन्द्रिका' नामक व्याख्या लिखी है। ये दोनों टीकाएँ प्रकाशित हो गयी हैं।

(१८) परापूजा—छः पद्यों में परम तत्व की पूजा का वर्णन है।

*(१९) प्रबोध सुधाकर—वेदान्त तत्व का नितान्त मञ्जुल विवेचन। इसमें २५७ आर्याएँ हैं, जिनमें विषय की निन्दा कर वैराग्य तथा ध्यान का मनोरम प्रतिपादन किया गया है। भाषा बड़ी सुबोध तथा प्राञ्जल है। शैली आचार्य के ग्रन्थों की रीति से मिलती जुलती है।

प्राणास्पन्दनिरोधात्सत्सङ्गाद्वासनात्यागात्।
हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः ॥
वैराग्यभाग्यभाजः प्रसन्नमनसो निराशस्य।
अप्रार्थितफलभोक्तुः पुंसो जन्मनि कृतार्थतेह स्यात् ॥

(२०) प्रश्नोत्तर रत्नमालिका—प्रश्न और उत्तर के द्वारा वेदान्त का उपदेश। ६७ आर्याओं का नितान्त लोकप्रिय ग्रन्थ है।

पातुं कर्णाञ्जलिभिः किममृतमिव युज्यते ? सदुपदेशः।
किं गुरुतायाः मूलं, यदेतदप्रार्थनं नाम ॥
किं जीवितमनवद्यं किं जाड्यं पाठतोऽप्यनभ्यास,
को जागर्ति विवेकी का निद्रा मूढता जन्तोः ॥

(२१) प्रौढानुभूति—आत्मतत्त्व का लम्बे लम्बे १७ पद्यों में प्रौढ वर्णन।

देहो नाहमचेतनोऽयमनिशं कुड्यादिवन्निश्चितो
नाहं प्राणमयोऽपि वा दृतिधृतो वायुर्यथा निश्चितः।
सोऽहं नापि मनोमयः कपिचलः कार्पण्यदुष्टो न वा
बुद्धिर्बुद्धिकुवृत्तिरेव कुहना नाज्ञानमन्धन्तमः ॥

(२२) ब्रह्मज्ञानावली माला—२१ अनुष्टुप् श्लोकों में ब्रह्म का सरल वर्णन। इसके कतिपय श्लोकों में 'इति वेदान्त डिण्डिमः' पद आता है जिसमें वेदान्त के मूल तत्त्वों का वर्णन किया गया है।

अहं साक्षीति यो विद्यात्, विविच्यैव पुनः पुनः।
स एव मुक्तो विद्वान् स, इति वेदान्तडिण्डिमः ॥

(२३) ब्रह्म नुचिन्तन—२६ पद्यों में ब्रह्मस्वरूप का वर्णन।

अहमेव परं ब्रह्म न चाहं ब्रह्मणः पृथक्।
इत्येवं समुपासीत ब्राह्मणो ब्रह्मणि स्थितः॥

(२४) मणिरत्नमाला—३२ श्लोकों में प्रश्नोत्तर के रूप से सुन्दर उपदेश।

पशोः पशुः को न करोति धर्मम्
प्राचीनशास्त्रेऽपि न चात्मबोधः।
किं तद् विषं भाति सुधोपमं स्त्री
के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्यः॥

(२५) मायापञ्चक—पाँच पद्यों में माया के स्वरूप का वर्णन।

(२६) मुमुक्षु पञ्चक—पाँच शिखरिणी छन्दों में मुक्तिकामी पुरुष के स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया गया है। छन्दों में प्रवाह आचार्य के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत ही कम है।

(२७) योगतारावली—२६ पद्यों में हठयोग तथा राजयोग का प्रामाणिक वर्णन। इस ग्रंथ से केवल नामसाम्य रखने वाली दूसरी भी 'योगतारावली' है जिसके निर्माता का नाम 'नन्दिकेश्वर' है। शंकर ने इस ग्रन्थ में चक्रों का, बन्धों का तथा कुण्डलिनी को जागृत करने का बड़ा ही भव्य विवेचन किया है—

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम्।
विशोधयन्तीं विषयप्रवाहां विद्यां भजे केवल कुम्भरूपाम्॥

*(२८) लघुवाक्यवृत्ति—१८ अनुष्टुप् पद्यों में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन। इस पर अनेक टीकाओं की रचना की गई है, जिनमें एक तो स्वयं आचार्य शङ्कर की ही है और दूसरी रामानन्द सरस्वती की है। इस पर 'पुष्पाञ्जलि' नामक टीका भी मिलती है, जिसमें 'विद्यारण्य' का नाम उल्लिखित है। अतः इसका निर्माणकाल १४ वीं शताब्दी से पीछे है।

*(२९) वाक्यवृत्ति—'तत्त्वमसि' नाम के पदार्थ और वाक्यार्थ का विशद विवेचन। इसमें ५३ श्लोक हैं, जिनके द्वारा तत्, त्वं पदों के अर्थ—वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का—निरूपण भली भाँति किया गया है—

घटद्रष्टा घटाद्भिन्नः सर्वथा न घटो यथा।
देहद्रष्टा तथा देहो नाहमित्यवधारय॥

इसके ऊपर महायोगी माधवप्राज्ञ के शिष्य विश्वेश्वर पण्डित की 'प्रकाशिका' टीका है[1]।

---

[1] इस टीका के साथ यह ग्रन्थ आनन्दाश्रम संस्कृतमाला में प्रकाशित हुआ है।

×(३०) वाक्यसुधा—४३ श्लोकों का विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है जिसमें आत्मा के स्वरूप का वर्णन मार्मिक ढंग से किया गया है जिसका आरम्भ इस पद्य से होता है—

> रूपं दृश्यं लोचनं दृक् तद् दृश्यं दृक्तु मानसम्।
> दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव न तु दृश्यते॥

यद्यपि टीकाकार मुनिदास भूपाल ने इसकी रचना शङ्कर के द्वारा ही मानी है, किंतु ब्रह्मानन्द भारती के माननीय मत में यह ग्रन्थ स्वामी विद्यारण्य और उनके गुरु भारती तीर्थ की सम्मिलित रचना है। इसके दूसरे टीकाकार विश्वेश्वर मुनि का मत है कि विद्यारण्य ही इसके एकमात्र रचयिता हैं। अतः हम निःसन्देह कह सकते हैं कि यह आचार्य की रचना नहीं है, यद्यपि इसका समावेश आचार्य की ग्रन्थावली में प्रायः अब तक किया जाता रहा है।[1]

(३१) विज्ञान नौका—१० पद्यों में अद्वैत का निरूपण—

> यदज्ञानतो भाति विश्वं समस्तं
> विनष्टं च सद्यो यदात्मप्रबोधे।
> मनोवागतीतं विशुद्धं विमुक्तं
> परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि॥

प्रत्येक पद्य का अन्तिम चरण वही है जो ऊपर के पद्य का चतुर्थ चरण है।

ꙮ(३२) विवेकचूडामणि—अद्वैत प्रतिपादक उपादेय ग्रन्थ। यह ग्रन्थ महत्त्व के साथ आकार में भी बड़ा है। इसमें ५८१ छोटे-बड़े पद्य हैं जिनमें वेदान्त के तत्त्व का प्रतिपादन नाना सुन्दर दृष्टान्तों के द्वारा किया गया है।

> अनुक्षणं यत् परिहृत्य कृत्यमनाद्यविद्याकृतबन्धमोक्षणम्।
> देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे यः सज्जते स स्वमनेन हन्ति ॥८५
> शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः।
> कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम् ॥ ८६॥

(३३) वैराग्यपंचक—५ श्लोकों में वैराग्य का नितान्त साहित्यिक रसमय वर्णन है।

ꙮ(३४) शतश्लोकी—सौ लम्बे लम्बे पद्यों में वेदान्त के सिद्धान्त का विशद विवेचन। विज्ञानात्मा, आनन्दकोश, जगन्मिथ्यात्व और कर्ममीमांसा प्रकरण—इन प्रकरणों में यह ग्रंथ विभक्त है।

---

[1]इसका सुन्दर अंग्रेज़ी अनुवाद स्वामी निखिलानन्द ने किया है तथा रामकृष्ण मिशन से प्रकाशित हुआ है। बंगला अनुवाद भी 'रत्नसिद्ध ग्रन्थावली' काशी में दो टीकाओं के साथ प्रकाशित हुआ है।

इस ग्रन्थ में वेदान्त के समर्थन में उपनिषदों के प्रमाण बड़ी सुन्दरता से उपन्यस्त हैं। शंकराचार्य के नाम से भी एक टीका उपलब्ध होती है। आनन्दगिरि की टीका मैसूर से प्रकाशित ग्रन्थावली में प्रकाशित है।

(३५) सदाचारानुसन्धान—५५ श्लोकों में चित् तत्त्व का प्रतिपादन। इसका दूसरा नाम 'सदाचार स्तोत्र' भी है।

(३६) सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह—यह विपुलकाय ग्रन्थ है; जिसमें श्लोकों की संख्या एक हजार छः (१००६) है। गुरु शिष्य के संवाद रूप में वेदान्त का बड़ा ही परिनिष्ठित विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(३७) सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह—यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है जिसमें षड्दर्शनों तथा अवैदिक दर्शनों का श्लोकबद्ध वर्णन है। इसमें वेदान्त के अतिरिक्त वेदव्यास के मत का पृथक् प्रतिपादन है। इस ग्रन्थकर्ता की सम्मति में पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा तथा देवताकाण्ड (संकर्षण काण्ड) एक ही अभिन्न शास्त्र हैं, परन्तु शङ्कराचार्य ने पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा को भिन्न भिन्न शास्त्र स्वीकार किया है (द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र १।१।१ पर शांकर भाष्य)। अतः यह ग्रन्थ शंकर की रचना सिद्ध नहीं होता।

(३८) स्वात्म निरूपण—१५६ पद्यों में आत्मतत्त्व का विशद और विस्तृत विवेचन। गुरु शिष्य-संवाद रूप से यह विवेचन किया गया है।

(३९) स्वात्म प्रकाशिका—आत्म रूप का ६८ श्लोकों में सुबोध, रुचिर निरूपण।

'स्वरूपानुसन्धानाष्टक' तथा 'साधनपञ्चक' स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं, प्रत्युत विज्ञान नौका (नं० ३१) तथा उपदेश पञ्चक (नं० ६) के ही क्रमशः नामान्तर हैं। प्राचीन टीकाकारों की मान्यता तथा शैली आदि अनेक कारणों से जिन ग्रन्थों को हम आदि शङ्कराचार्य विरचित मानते हैं उनमें * चिह्न लगा दिया है। आचार्य की जो रचना वस्तुतः नहीं है उसके साथ × चिह्न लगाया गया है। अन्य ग्रन्थों के विषय में सन्देहहीन निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। अतः वे आचार्य की सन्दिग्ध रचनायें हैं—इससे अधिक निर्णय इस समय नहीं हो सकता।

तन्त्र ग्रन्थ

सौन्दर्य लहरी—आचार्य की उपासना पद्धति ... परिचित विद्वान् इसे आचार्य की रचना होने में शंका करते हैं, परन्तु यह वास्तव में आचार्य की निःसन्दिग्ध रचनाओं में से एक है। प्रसिद्धि है कि कैलाश पर्वत पर स्वयं महादेव जी ने इस ग्रन्थ को आचार्य को दिया था। काव्य की दृष्टि से यह जितना अभिराम तथा सरस है, पाण्डित्य की दृष्टि से यह उतना ही प्रौढ़ तथा रहस्यपूर्ण है। संस्कृत के स्तोत्र साहित्य में ऐसा अनुपम ग्रन्थ मिलना कठिन है। आचार्य

ने तन्त्र के रहस्यमय सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी मार्मिकता के साथ यहाँ किया है। इसके ऊपर ३५ विद्वानों ने टीकायें लिखी हैं जिनमें लक्ष्मीधर, कैवल्याश्रम, भास्कर राय, कामेश्वर सूरि तथा अच्युतानन्द की व्याख्यायें मुख्य हैं। इस ग्रन्थ में सौ श्लोक शिखरिणी वृत्त में हैं। आचार्य ने इन श्लोकों में कविता तथा तान्त्रिकता दोनों का अपूर्व सामञ्जस्य दिखलाया है। आरम्भ के ४१ पद्यों में तान्त्रिक रहस्य का प्रतिपादन है तथा अन्त के ५९ पद्यों में भगवती त्रिपुरी सुन्दरी के अंग प्रत्यङ्ग का सरस तथा चमत्कारपूर्ण वर्णन है। षट् चक्रों में विराजमान भगवती का नाना मूर्तियों का वर्णन आचार्य ने बड़े पाण्डित्य के साथ किया है।

इस ग्रन्थ के रचयिता के विषय में टीकाकारों में भी पर्याप्त मतभेद है। लक्ष्मीधर, भास्कर राय, कैवल्याश्रम आदि टीकाकारों ने शङ्कर भगवत्-पाद को ही सौन्दर्य-लहरी का रचयिता माना है। वल्लभदेव ने—जिनका समय १५ वीं शताब्दी माना जाता है—अपनी सुभाषितावली में "जपोजल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्रा विरचना।" (सौ० ल०, श्लोक २७) को शङ्कराचार्य के नाम से उद्धृत किया है। अतः टीकाकारों के सम्प्रदायानुसार सौन्दर्य-लहरी को आचार्य को निःसन्दिग्ध रचना मानना उचित है। इस लहरी (नं० ७५) के पद्य में किसी द्रविड़ शिशु का उल्लेख किया है जिसे भगवती ने अपने स्तन का दुग्धपान स्वयं कराया था और जो इस दैवी कृपा के कारण कमनीय कवि बन गया था[१]। इस द्रविड़ शिशु के व्यक्तित्व के विषय में नानामत हैं। अधिकांश टीकाकारों के मत में यह द्रविड़ शिशु तामिल देश के प्रसिद्ध शैव सन्त श्री ज्ञान सम्बन्ध थे। तामिल देश के जिन चार शैव सन्तों ने शैव मत का विपुल प्रचार किया उनमें इनका स्थान महत्त्व पूर्ण है। ज्ञानसम्बन्ध का समय विक्रम की छठी या सातवीं शताब्दी है। इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि आचार्य शंकर का समय इसके पूर्व कभी भी नहीं हो सकता।

प्रपञ्चसार

यह ग्रन्थ तान्त्रिक परम्परा से आदि शंकर की ही रचना माना जाता है। यद्यपि आधुनिक आलोचकों की दृष्टि में यह बात सन्दिग्ध है तथापि प्राचीन परम्परा तथा ऐतिहासिक अनुशीलन से यह आचार्य की ही कृति ज्ञात होती है। इस की 'विवरण' नामक टीका भी है जिसके रचयिता पद्मपाद हैं। पद्मपाद के व्याख्याता होने का तात्पर्य है कि यह ग्रन्थ वस्तुतः आचार्य कृत ही है। टीकाकार की सम्मति में इस ग्रन्थ के रचयिता सुप्रसिद्ध शंकराचार्य ही हैं,

---

[१]तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः
पयः पारावारः परिवहति सारस्वत इव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव य—
त्कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता॥

जिन्होंने किसी 'प्रपञ्चागम' नामक प्राचीन तन्त्र का सार इस ग्रन्थ में रक्खा[1] है। इस सिद्धान्त की पुष्टि अन्य प्रमाणों से की जा सकती है[2]।

अमरप्रकाश के शिष्य उत्तमबोधाचार्य ने प्रपञ्चसार-सम्बन्ध-दीपिका टीका में लिखा है कि 'प्रपञ्चसार' प्रपञ्चागम नामक किसी प्राचीन ग्रन्थ का सारमात्र है। यह शंकर का कोई अभिनव ग्रन्थ नहीं है (मद्रास की सूची नं० ५२६६)। प्रपञ्चसार विवरण की एक व्याख्या भी मिली है जिसका नाम है 'प्रयोग क्रमदीपिका'। इस टीका का स्पष्ट कथन है कि विवरण के कर्ता प्रपञ्चसार ने अपने गुरु शंकर के प्रति आदर प्रकट करने के लिए ही भगवान् पद का प्रयोग किया है (भगवान् इति पूजा स्वगुर्वनुस्मरणं ग्रन्थारम्भे क्रियते)। प्रपञ्चसार का मंगल श्लोक शारदा की स्तुति में है। इसका भी रहस्य क्रमदीपिका में बतलाया गया है। दीपिका के रचयिता का कहना है कि शंकराचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना काश्मीर रहते समय ही की। काश्मीर की अधिष्ठात्री देवी शारदा जी हैं। अतः उन्हीं भगवती शारदा की स्तुति शंकर ने इस ग्रंथ के आरम्भ में की है। यह प्रसिद्ध बात है कि आदि शंकराचार्य ने इस देवी के मंदिर में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया था। अतः 'क्रमदीपिका' का मत 'शारदा तिलक' के टीकाकार राघवभट्ट, 'षट्चक्र-निरूपण' के टीकाकार कालीचरण आदि तंत्रनिष्णात् पण्डितों की सम्मति से बिलकुल सामञ्जस्य रखता है।

अद्वैत वेदांत के पंडितों ने भी इसे आदिशंकर की कृति माना है। अमलानंद ने वेदान्त कल्पतरु (१। ३। ३३) में इसे आचार्यकृत माना है—तथा चाहोचुराचार्याः प्रपञ्चसारे—

अथनिजजलानलमारुतविहायसां शक्तिभिश्च तद्बिम्बैः।
सारूप्यमात्मनश्च प्रविनेत्वा तत्तदाशु जयति सुधीः॥

ब्रह्मसूत्र १। ३। ३३ के भाष्य के अन्त में आचार्य ने श्रुति द्वारा योग माहात्म्य के प्रतिपादन करने के निमित्त, 'पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते' (श्वेता० २। १४) को उद्धृत किया है। इसी मंत्र के अर्थ को करने के लिए अमलानंद ने प्रपञ्चसार का श्लोक उद्धृत किया है[3]। इतना ही नहीं नरसिंहपूर्वतापिनी के भाष्य में भी

---

[1]इह खलु भगवान् शंकराचार्यः समस्तागमसारसंग्रहप्रपञ्चागमसारसंग्रहं ग्रन्थं चिकीर्षुः।

[2]काश्मीर मण्डले प्रसिद्धेयं देवता। तत्र निवसता आचार्येण अयं ग्रन्थः कृतः इति तदनुस्मरणोत्सुकः सकलागमानामधिदेवतेयमिति। पृ० ३८२। उक्त प्रपञ्चसारविवरण तथा प्रयोग क्रमदीपिका के साथ कलकत्ते से 'तान्त्रिक टेक्स्ट्स' नामक ग्रन्थमाला (नं० १८। १६) में दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

[3]प्रपञ्चसार के १६ वे पटल में यह ४७ वाँ श्लोक है। (पृ० २३२)। अन्तर इतना है कि 'तद् बिम्बैः' के स्थान पर 'तद्बीजैः' पाठ है। विवरण में इस पद की व्याख्या नहीं है। पर अमलानन्द तथा अप्पय दीक्षित ने अर्थ किया है।

शंकर ने प्रपञ्चसार से अनेक श्लोक ही नहीं उद्धृत किए हैं प्रत्युत प्रपञ्चागमशास्त्र को अपनी ही कृति बतलाया है। अतएव 'हृदयाद्यंग मंत्राणामर्थं व्याचक्षाणैरस्माभिरुक्तं प्रपञ्चागमशास्त्रे हृदयं बुद्धिगम्यत्वात्। (प्रपञ्चसार ६।७ पृ० ८०)। इस उद्धरण में ग्रंथ का नाम 'प्रपञ्चागम' दिया गया है। परंतु उपनिषद् भाष्य में (४।२) इसे 'प्रपञ्चसार' ही कहा गया है। इन प्रमाणों के आधार पर, आदि शंकर को ही प्रपञ्चसार का रचयिता मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

पञ्चदश परिच्छेद

शिष्य परिचय

आचार्य शङ्कर ने वैदिक धर्म के प्रसार के निमित्त अनेक शिष्यों को तैयार किया था। इन शिष्यों की संख्या के विषय में प्रचलित मत यही है कि इनके प्रधान शिष्य चार थे और ये चारों ही संन्यासी थे। आचार्य ने ही इन्हें संन्यास आश्रम में दीक्षित किया था। श्री विद्यार्णवतन्त्र में उल्लिखित मत इससे भिन्न पड़ता है। उसके अनुसार शङ्कराचार्य के चौदह शिष्य थे जो सब देवी के उपासक तथा निग्रहानुग्रहसम्पन्न अलौकिक व्यक्ति थे। इनमें केवल ५ शिष्य संन्यासी थे और अन्य ९ शिष्य गृहस्थ थे। इन शिष्यों का विवरण आगे दिया जायगा।

प्रधान चारों शिष्यों के नाम थे—सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, हस्तामलकाचार्य तथा त्रोटकाचार्य। इनमें सुरेश्वर तथा पद्मपाद अपने गुरु के समान ही अलौकिक पुरुष थे। उनकी रचनाओं से इनकी असाधारण विद्वत्ता तथा असामान्य प्रतिभा का पर्याप्त परिचय मिलता है। हस्तामलक तथा त्रोटकाचार्य के विषय में ज्ञातव्य बातों का पता नहीं मिलता। शङ्करदिग्विजय के अनुसार इनके पूर्व चरित का सामान्य ज्ञान हमें प्राप्त है, परन्तु इनकी रचनाओं के विषय में हमारी जानकारी बिल्कुल ही कम है। आचार्य शङ्कर ने भारत के चारों धाम में चार पीठ स्थापित कर इन्हीं शिष्यों को उनका अध्यक्ष बना दिया। इनमें पद्मपाद गोवर्धनमठ के अध्यक्ष बनाये गए, सुरेश्वर शृंगेरी मठ के, हस्तामलक शारदापीठ के तथा त्रोटकाचार्य ज्योतिर्मठ (जोशी मठ) के। इन शिष्यों के विषय में ज्ञातव्य बातें यहाँ सगृहीत की जाती हैं।

आचार्य सुरेश्वर का व्यक्तिगत परिचय हमें नहीं मिलता। इनके ग्रन्थ ही इनके अलौकिक पाण्डित्य के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। हमने दिखलाया है कि ये ही ब्रह्मसूत्र पर आचार्य के भाष्य की वृत्ति लिखने वाले सुरेश्वराचार्य थे। शङ्कर ने इन्हें इस कार्य के लिए नितान्त उपयुक्त समझा था, परन्तु शिष्यों के विरोध करने पर इन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थ तथा वार्तिक लिखने का शङ्कर ने आदेश दिया। गुरु की आज्ञा मानकर इन्होंने शारीरक भाष्य पर वृत्ति न लिखी, प्रत्युत उपनिषद् भाष्य पर वार्तिक बनाये। नैष्कर्म्य सिद्धि, तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य वार्तिक, बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक, दक्षिणामूर्ति स्तोत्र वार्तिक (अथवा मानसोल्लास), पञ्चीकरण वार्तिक, काशीमृतिमोक्षविचार आदि ग्रन्थ सुरेश्वर की विख्यात रचनायें हैं। वेदान्त शास्त्र के इतिहास में 'वार्तिककार' पद से केवल सुरेश्वराचार्य का ही बोध होता है।

ये केवल वेदान्त के ही विद्वान न थे, प्रत्युत धर्मशास्त्र में भी इनका पाण्डित्य अगाध था।

याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'बाल क्रीडा' नामक विख्यात टीका उपलब्ध होती है। इसके रचयिता का नाम विश्वरूपाचार्य है। विद्वानों का मत है कि विश्वरूप सुरेश्वर का ही नामान्तर था। माधवाचार्य ने पराशरस्मृति की अपनी सुप्रसिद्ध टीका 'पराशर-माधव' में बृहदारण्यकभाष्य-वार्तिक के वचन उद्धृत कर उसे विश्वरूपाचार्य की रचना माना है—

विश्वरूपाचार्य

वार्तिके विश्वरूपाचार्य उदाजहार—
'आम्रे फलार्थे' इत्यादि ह्यापस्तम्बस्मृतेर्वचः
फलभाक्त्वं समाचष्टे नित्यानामपि कर्मणाम्।

बालक्रीडा के अतिरिक्त धर्मशास्त्र में उनके और भी दो ग्रन्थों का परिचय मिलता है। उनमें से एक का नाम है 'श्राद्ध कलिका' जिसमें श्राद्ध का विशेष रूप से वर्णन है। दूसरा गद्यपद्यात्मक निबन्ध है जिसमें आचार्य आदि का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। रघुनन्दन भट्टाचार्य ने अपने 'उद्वाह तत्त्व' में जो 'विश्वरूप-समुच्चय' नामक एक संग्रह ग्रन्थ का उल्लेख किया है, संभव है वह ग्रन्थ यही हो।

अद्वैत वेदान्त के इतिहास में यह बात नितान्त प्रसिद्ध है कि सुरेश्वराचार्य का गृहस्थाश्रम का नाम मण्डन मिश्र[1] था। यह भी प्रसिद्ध है कि सुरेश्वर पहले कुमारिल के शिष्य थे तथा कर्मकाण्ड के प्रतिष्ठापक मीमांसक थे। शङ्कराचार्य ने जब उन्हें परास्त कर अपने मत में दीक्षित किया तब उनका नाम सुरेश्वर पड़ गया और संन्यासी की अवस्था में उन्होंने जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया उनका विषय ज्ञान-काण्ड ही है, कर्म-काण्ड नहीं। सुरेश्वर और मण्डन की एकता शङ्कर-दिग्विजय के आधार पर अवलम्बित है। माधवाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि सुरेश्वर के द्वारा ब्रह्मसूत्र पर व्याख्या लिखने का विरोध आचार्य की शिष्य-मण्डली ने इसी कारण किया कि वे गृहस्थाश्रम में एक प्रसिद्ध मीमांसक थे जिनका आग्रह कर्मकाण्ड के ऊपर बहुत ही अधिक था। आचार्य के सामने सुरेश्वर ने इस बात का प्रतिवाद किया कि उनका आग्रह ज्ञान-काण्ड के ऊपर किसी भी अन्य संन्यासी शिष्य से घट कर था, तथापि आचार्य के समझाने पर उन्होंने व्याख्या लिखने का विचार सदा के लिये छोड़ ही दिया। केवल वार्तिकों की रचना कर उन्होंने अद्वैत वेदान्त को पुष्ट तथा लोक प्रिय बनाने का उद्योग किया। दिग्विजयों के इसी आधार पर पण्डित समाज सुरेश्वर और मण्डन को एक ही अभिन्न व्यक्ति मानता आ रहा है। परन्तु आजकल के नवीन पण्डितों ने

[1] द्रष्टव्य, माधव—शं० दि०; सर्ग ३, १—३६ इनका नाम 'विश्वरूप' भी बतलाया गया है ३। ४२। धो विश्वरूपगुरवा प्रहितौ द्विजाती आदि।

विशेष रूप से आलोचना कर यह बात प्रायः सिद्ध कर दी है कि सुरेश्वर मण्डन से बिलकुल भिन्न थे। ये भिन्न ही व्यक्ति न थे बल्कि इनका समय भी एक नहीं था। मण्डन मिश्र प्राचीन है और सुरेश्वर उनसे अर्वाचीन। दोनों के सिद्धान्त अनेक अंशों में भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं। ऐसी दशा में दोनों की अभिन्नता मानने के लिये विचारशील विद्वान् प्रस्तुत नहीं हैं।

अद्वैत वेदान्त के उच्चकोटि के माननीय ग्रन्थों तथा द्वैत सम्प्रदाय की पुस्तकों के अनुशीलन से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि ये ग्रन्थकार सुरेश्वर को मण्डन मिश्र से सदा भिन्न मानते आये हैं। (१) संक्षेप शारीरक में सर्वज्ञात्म मुनि तथा उनके टीकाकार ने दोनों में भेद बतलाया है। इतना ही नहीं; वे मानते हैं कि मण्डन मिश्र भी अद्वैतवादी हैं, परन्तु उनका अद्वैत प्रस्थान शङ्कराचार्य के प्रस्थान से बिलकुल भिन्न है। (२) प्रकाशात्म यति ने अपने ग्रन्थों में विवरण तथा शब्द निर्णय—में सुरेश्वर के मत का मण्डन किया है और मण्डन के मत का खण्डन किया है। जब कभी मण्डन मिश्र को अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिये उद्धृत किया है तब उन्हें ब्रह्मसिद्धिकार कहा है, सुरेश्वर नहीं। (३) आनन्दबोध ने अपने 'न्यायमकरन्द' में ब्रह्मसिद्धि से अनेक उद्धरण दिये हैं और उसके मत को स्वीकार भी किया है। अन्य स्थानों पर उन्होंने सुरेश्वर के मत को स्वीकृत किया है। ग्रन्थ के अनुशीलन से साफ मालूम पड़ता है कि ग्रन्थकार सुरेश्वर और मण्डन को भिन्न भिन्न व्यक्ति मान रहा है।

अद्वैत ग्रन्थों का मत

(४) आनन्दानुभव वेदान्त के माननीय आचार्य हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ *'न्यायरत्नदीपावली'* में इस विषय में जो कुछ लिखा है वह इतना स्पष्ट है कि मण्डन से सुरेश्वर की भिन्नता होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। प्रसङ्ग है संन्यास का। संन्यास के विषय में दो प्रकार के मत मिलते हैं:—

(क) त्रिदण्डि-संन्यास जो भास्कर तथा उनके अनुयायियों को सम्मत है।

(ख) एकदण्डि-संन्यास जिसमें वैदिक कर्मों का सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया जाता है। यहाँ तक कि शिखा तथा सूत्र (यज्ञोपवीत) तक का परित्याग इसमें कर दिया जाता है। इस 'न्यायरत्न दीपावली' के पूर्वोक्त प्रकरण में आनन्दानुभव ने विश्वरूप, प्रभाकर गुरु, मण्डन, वाचस्पति तथा सुचरित मिश्र को वैदिक-धर्म का आचार्य तथा माननीय व्याख्याता लिखा है, जिन्होंने एकदण्डि संन्यास को ही प्रामाणिक स्वीकार किया है। यह भी लिखा है कि विश्वरूप और प्रभाकर स्वयं एकदण्डि संन्यासी बने थे, विश्वरूप ने गृहस्थाश्रम की दशा में लिखे गये अपने स्मृति ग्रन्थ में ही एकदण्डि संन्यास को माह्य तथा उपादेय बतलाया है। विश्वरूप का ही संन्यास ग्रहण करने पर सुरेश्वर नाम पड़ा[1]।

[1] किं च प्रसिद्धतमाचार्यैर्विश्वरूप—प्रभाकर मण्डन—वाचस्पति—सुचरितमिश्रैः शिष्टमहद्भिः परिगृहीतस्य कथं द्वैतमोहान्धैः विनाश्यतामयमर्थः। ननु विश्वरूप प्रभाकरौ गृहस्थपतितौ तावप्ये

(५) नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका विद्यासुरभि बड़ी प्रामाणिक व्याख्या है। इसके लेखक का नाम ज्ञानामृत है। इन्होंने इस व्याख्या में मण्डन के मत का खण्डन किया है और यह बात स्पष्ट रूप से उद्घोषित की है कि मण्डन का अद्वैत सम्प्रदाय सत् सम्प्रदाय नहीं है। परन्तु सुरेश्वर का अद्वैत शंकराचार्य के अनुकूल होने के कारण सत् सम्प्रदाय अवश्यमेव है। यह कथन नितान्त स्पष्ट तथा सन्देह विरहित है।

इन निर्देशों से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्राचीन अद्वैताचार्यों के मत में सुरेश्वर मण्डन से बिलकुल भिन्न व्यक्ति माने जाते थे। इन दोनों ग्रंथकारों के अद्वैत विषयक मत की समीक्षा करने पर यह बात और भी स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाती है।

मण्डन मिश्र भी अद्वैतवादी थे। सौभाग्यवश उनका मूल ग्रंथ—ब्रह्मसिद्धि—हाल में ही मद्रास[१] से प्रकाशित हुआ है। ब्रह्मसिद्धि की प्राचीन काल में बड़ी मान्यता थी। अद्वैत, द्वैत तथा मीमांसा शास्त्र के आचार्यों ने इस ग्रंथ का उल्लेख खण्डन के लिए या मण्डन के लिये बड़े आदर के साथ अपने ग्रंथों में किया है। इस ग्रंथ का सम्पादन पं० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने बड़े परिश्रम के साथ किया है और आरम्भ में एक बड़ी विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी है जिसमें ग्रंथ के महत्त्व, सिद्धांत तथा अनेक ऐतिहासिक वृत्तों का। बड़ा ही मार्मिक विवेचन है। इस ग्रन्थ पर स्वयं वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मतत्त्व समीक्षा नामक व्याख्या लिखी थी जिसका निर्देश उन्होंने भामती में स्थान स्थान पर किया है। परन्तु दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। मूल ग्रन्थ के साथ जो टीका छपी है वह शंखपाणि की लिखी हुई है। यह व्याख्या नितान्त विशद तथा वाचस्पति की टीक अनुसारिणी है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से पहले भी मण्डन मिश्र के मत की विशिष्टता का परिचय हमें अन्य ग्रन्थों के आधार पर अवश्य था। मण्डन भी अद्वैतवादी हैं परन्तु उनका अद्वैतवाद शंकर के अद्वैतवाद से नितान्त भिन्न है। शंकर-शिष्य सुरेश्वर ने नैष्कर्म्यसिद्धि तथा उपनिषद्भाष्यवार्तिक में जिस अद्वैतवाद का प्रतिपादन तथा प्रतिष्ठापन किया है उससे भी यह सर्वथा भिन्न है।

ब्रह्मसिद्धि

नैष्कर्म्य सिद्धि में सुरेश्वराचार्य ने तीन प्रकार के समुच्चयवाद का खण्डन किया है। इनमें से पहला मत ब्रह्मदत्त का है जो शंकर-पूर्व काल के एक

कदम्बिनी। गृहस्थावस्थायां विरचिते च विश्वरूपग्रन्थे दर्शितावाक्यपरिग्रहो दृश्यते। न चायो ग्रन्थः सन्यासिनाविरचितः। तथ हि परिव्राजकाचार्य सुरेश्वर विरचितेति प्र ये नाम लिखेत् लिखितं तु महविश्वरूप विरचितेति॥ यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। इसका उद्धरण कुप्पुस्वामी ने ब्रह्मसिद्धि की भूमिका में किया है।

[१]मद्रास गवर्मेन्ट मेनुस्क्रिप्ट सीरीज नं० ४, मद्रास १९३७

प्रौढ़ तथा प्रकाण्ड वेदान्ताचार्य थे। यह मत नैष्कर्म्य सिद्धि की विद्या-सुरभि टीका (१।६७) में कही गई है तथा आनन्दज्ञान ने सम्बन्ध वार्तिक (७।६७) में इसका समर्थन किया है। दूसरा मत मण्डन मिश्र का है जिसका खण्डन सुरेश्वर ने वार्तिक (४।४।७८६—८१०) में किया है। तीसरा मत भेदाभेदवादी भर्तृप्रपञ्च का है। ध्यान देने की बात यह है कि शंकराचार्य के समान ही ब्रह्मदत्त तथा मण्डन मिश्र अद्वैतवादी हैं परन्तु फिर भी मुक्ति का साधन ज्ञान है या कर्म या दोनों का समुच्चय, इस विषय को लेकर तीनों आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। ब्रह्मदत्त भी अद्वैतवादी हैं। मण्डन भी अद्वैत के पक्षपाती हैं। दोनों ज्ञान कर्म के समुच्चयवादी हैं परन्तु फिर भी इन दोनों का मत एक नहीं है। आचार्य तो सदा से समुच्चयवाद के विरोधी रहे हैं उनका तो परिनिष्ठित मत है कि कर्म से ही स्वतः या ज्ञान के साथ मिलकर किसी प्रकार भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष की प्राप्ति तो ज्ञान से ही होती है। सुरेश्वर भी इसी मत को मानते हैं। परन्तु मण्डन मिश्र का मत इससे भिन्न है।

नैष्कर्म्य सिद्धि का खण्डन

मण्डन के मत में क्रिया अथवा उपासना में ही उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य है। तत्त्वमसि आदि वाक्य विधि वाक्य के ही अधीन हैं। उपनिषद् वाक्यों के श्रवण से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मण्डन की दृष्टि में परोक्ष होता है और वाक्य में आये हुए शब्दों के साथ संसर्गयुक्त होता है, (संश्लिष्ट विषय) होता है। इस श्रावण ज्ञान के अनन्तर उपासना अर्थात् ध्यान की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि वेदान्त वाक्यों से जो 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक ज्ञान होता है वह संसर्गात्मक होता है अतः उससे आत्मा के स्वरूप की ठीक ठीक प्रतिपत्ति नहीं होती। साधारण वाक्यों से जो शाब्दी प्रमा उत्पन्न होती है वह उस वाक्य में आये हुए इतर पदों के साथ सम्बन्ध अवश्य रखती है। उपनिषद् वाक्यों की भी मण्डन की दृष्टि में यही दशा है। इस प्रमा के संश्लिष्ट तथा परोक्ष रूप को विशुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके अर्थ का बारबार मनन किया जाय—अभ्यास किया जाय। इसी अभ्यास का नाम उपासना या प्रसंख्यान है। इस उपासना से विशुद्ध होने पर उपनिषद् वाक्य अज्ञान को निवृत्त करते हैं तथा ब्रह्म साक्षात्कार कराने में समर्थ होते हैं। इस विषय में श्रुति का प्रमाण स्पष्ट है 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'[1]। इसका अभिप्राय यह है कि विज्ञान के अनन्तर प्रज्ञा का साधन करना चाहिए, अर्थात् संश्लिष्ट रूप ब्रह्म को जानकर असंसर्गात्मक ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार मण्डन के मत में ज्ञान और प्रसंख्यान का समुच्चय है। उनके मत में लौकिक तथा वैदिक सब प्रकार के वाक्यों से संसर्गात्मक वाक्यार्थ बोध होता है। इसीलिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से 'अहं ब्रह्म' आकारक संसर्गात्मक

मण्डन का समुच्चयवाद

[1]बृहदारण्यक ४।४।२१

ज्ञान पहले होता है। अनन्तर उपासना करने से असंसर्गात्मक ज्ञान का उदय होता है। यही ज्ञान मोक्ष का प्रधान साधन है। इसी से कैवल्य का आविर्भाव होता है।

मण्डन मिश्र का यही समुच्चयवाद है जिसे सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि'[1] तथा वार्तिक[2] में बड़े आग्रह तथा उत्साह के साथ किया है। अमलानन्द ने अपने 'कल्पतरु' में उक्त प्रसंख्यान मत को वाचस्पति का बतलाया है। वस्तुतः यह मण्डन का ही मत है। सुरेश्वर के ग्रन्थ के सिवाय 'ब्रह्मसिद्धि' में भी यह मत [3]मिलता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मण्डन प्रसंख्यान के पक्षपाती थे, परन्तु सुरेश्वर आचार्य शङ्कर की भांति ज्ञान को मोक्ष का प्रधान साधन मानते थे। इस मतवैषम्य से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मण्डन और सुरेश्वर दो व्यक्ति थे, एक ही अभिन्न व्यक्ति नहीं।

'ब्रह्मसिद्धि' के संपादक पण्डित कुप्पुस्वामि शास्त्री इस प्रश्न की विशद समीक्षा कर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि (१) 'ब्रह्मसिद्धि' के रचयिता मण्डन न तो शङ्कर के शिष्य थे न उन्होंने कभी सन्यास ग्रहण किया था। वह सुरेश्वर से भिन्न व्यक्ति थे। उनका अद्वैत 'प्रस्थान' से भिन्न था। (२) सुरेश्वर का ही गृहस्थ आश्रम का नाम विश्वरूप था, वे उस समय कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। शङ्कर के सम्पर्क में आकर वे। उनके शिष्य और संन्यासी हुए। उन्होंने अपने वार्तिक और नैष्कर्म्य सिद्धि' में मण्डन मिश्र के द्वारा 'ब्रह्मसिद्धि' में निर्दिष्ट तथा व्याख्यात अनेक अद्वैत सिद्धान्तों का खण्डन किया है। सुरेश्वर शाङ्कर प्रस्थान के पक्के अनुयायी थे जिसका तिरस्कार उन्होंने अपने ग्रन्थों में नहीं किया है।

निष्कर्ष

'ब्रह्मसिद्धि' के अब प्रकाशित हो जाने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि सुरेश्वर और मण्डन भिन्न व्यक्ति हैं। शङ्कराचार्य के साथ मण्डन मिश्र का बड़ा शास्त्रार्थ हुआ। प्रत्येक दिग्विजय यह बात आग्रहपूर्वक कहता है। हमारा अनुमान है कि शङ्कर ने भिन्न प्रकार के अद्वैतवाद के समर्थक होने के कारण ही

---

[1]नैष्कर्म्यसिद्धि पृष्ठ ३८, पृ० १५६—१६२ तृतीय परिच्छेद श्लोक ८८—९१ तथा १२३—१२६

[2]बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक—भाग १ श्लोक ८८८—९६ तथा तृतीय भाग पृ० १८६२—७८ तथा श्लोक ७५६—६६।

[3]परोक्षरूपं शाब्दं ज्ञानं, प्रत्यक्षरूपः प्रपञ्चाभावः तेन तयोर्विरोधेन प्रपञ्चाभावो नात्मसंदर्शी नाकिञ्चित्करः न च बन्ध... ...उपासनादिना साक्षात्कृतात्मतत्त्वस्य तु विरोधात् सर्वप्रपञ्चाभावो नात्मसंदर्शी ... . निरस्त च आत्मतत्त्वप्रकाशः तत्र न पुनर्विपर्ययावकाशोऽस्ति शाब्दं तु प्रमाणमपि न क्षणिकं ज्ञानं तत्र पुनरपि विपर्ययावकाशः।

—ब्रह्मसिद्धि पृ० १३४

मण्डन के खण्डन में इतना आग्रह दिखलाया है। शङ्कर मण्डन के मत को उपनिषद् की सरणि से भिन्न समझते थे। यही कारण है कि इन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वी के मत का प्रबल खण्डन किया।

पद्मपाद

इनका यथार्थ नाम सनंदन था। ये चोल देश के निवासी थे। बाल्यकाल में ही अध्ययन के लिए काशी आये। यहीं पर आचार्य से इनकी भेंट हुई। आचार्य ने इन्हें संन्यास दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया। ये आचार्य के प्रथम शिष्य हुए। अद्वैत वेदांत के प्रचार में इन्होंने आचार्य की बड़ी सहायता की। बड़े भक्त शिष्य थे। शङ्कर ने शिष्य-मण्डली के द्वेषभाव को दूर करने के लिए जो परीक्षा ली थी उसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। शङ्कर की करुण पुकार सुनकर उनके पास शीघ्र पहुँचने के लिए ये अलकनन्दा को पार करने के लिये पुल की उपेक्षा कर सीधे ही चल पड़े। नदी में प्रविष्ट होते इनके चरण न्यास से क्रमशः कमल उत्पन्न होने लगे और उन्हीं पर पाँव रखते हुए ये अनायास पार पहुँच गये। तभी से इनका नाम *पद्मपाद (वह पुरुष जिसके पैर के नीचे कमल हो)* पड़ा।

चिद्विलास[1] यति ने इनका कुछ भिन्न ही वृत्तान्त दिया है। इनके पिता का नाम माधवाचार्य था जो बड़े विद्वान् तथा धनाढ्य व्यक्ति थे। माता का नाम लक्ष्मी था। ये लोग अहोवल नामक दक्षिण के प्रसिद्ध क्षेत्र में रहते थे और नरसिंह के बड़े अच्छे उपासक थे। नरसिंह की ही कृपा से पद्मपाद का जन्म हुआ था। इनका पूर्व नाम विष्णु शर्मा[2] था। ये भी अपने पिता के समान नरसिंह के बड़े भारी उपासक थे। अपने इसी इष्ट देवता की प्रेरणा से आचार्य से मिलने के लिए ये काशी आये थे। काशी से तो ये सदा आचार्य के साथ ही साथ रहते थे। मठाम्नाय के अनुसार पद्मपाद पुरी स्थित गोवर्धनमठ[3] के प्रथम अधिष्ठाता थे। ये *काश्यप गोत्रीय ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। मठाम्नाय में भी इनके पिता का नाम माधव* बतलाया गया है। इस प्रकार मठाम्नाय चिद्विलास के कथन को पुष्ट कर रहा है।

इनके लिखित निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

---

[1]चिद्विलास 'शङ्कर विजयविलास' अध्याय १० श्लोक १२—२० तक

[2]प्रसूत: सोऽप्यदात् पुत्रं विष्णुशर्माणमेतयोः—शं० वि० वि० १०।१७

[3]गोवर्धनमठे रम्ये विमलापीठसंज्ञके।
पूर्वाम्नाये भोगवारे श्रीमत्काश्यपगोत्रजः॥
माधवस्य सुतः श्रीमान् सनन्दन इति श्रुतः।
प्रकाश ब्रह्मचारी च ऋग्वेदी सर्वशास्त्रवित्॥

१. पंचपादिका—ब्रह्मसूत्रभाष्य की प्रथम वृत्ति यही है। आचार्य के साक्षात् शिष्य की लिखी हुई वृत्ति होने से यह नितान्त महत्त्वपूर्ण है, यह कथन पुनरुक्ति मात्र है। इसके जलाये जाने तथा उद्धार किये जाने की बात हम पीछे लिख आये हैं। यह वृत्ति केवल भाष्य के चतु सूत्री अश पर ही है। इसी के ऊपर प्रकाशात्मयति ने अपना विवरण लिखा था। यही ग्रन्थ वेदान्त में प्रसिद्ध विवरण प्रस्थान का मूल है। इस विवरण के ऊपर दो प्रसिद्ध टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं—विद्यारण्य स्वामी का 'विवरणप्रमेयसंग्रह' तथा अखण्डानन्द का 'तत्त्वदीपन'।

पद्मपाद के ग्रन्थ

२. विज्ञानदीपिका—यह ग्रन्थ हाल ही में प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। इसमें कर्म का विवेचन बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग है। साथ ही साथ कर्म निवृत्ति के उपाय का विस्तृत आलोचन है।

३. विवरण टीका—आचार्य लिखित सुप्रसिद्ध तन्त्रग्रन्थ 'प्रपञ्चसार' की यह टीका है। कलकत्ता के 'तान्त्रिक टेक्स्ट सिरीज' से प्रकाशित हुई है।

४. पञ्चाक्षरी भाष्य—शिव के पञ्चाक्षर मन्त्र की यह विशद व्याख्या है। पद्मपाद ने प्रत्येक अक्षर को लेकर श्लोकबद्ध व्याख्या लिखी है। इस भाष्य की भी काशी के ख्यातनामा सन्यासी रामनिरञ्जन स्वामी ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी है जो 'पञ्चाक्षरी भाष्य तत्त्वप्रकाशिका' के नाम से विख्यात है। यह व्याख्या भी काशी से प्रकाशित हुई है।

इस प्रकार पद्मपादाचार्य का हाथ अद्वैत वेदान्त के प्रचार में बहुत ही अधिक है। अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त तन्त्रशास्त्र के भी ये प्रकाण्ड पण्डित प्रतीत होते हैं।

हस्तामलक

हस्तामलक आचार्य के तृतीय पट्टशिष्य थे। इनका दूसरा नाम पृथ्वीधराचार्य था। इनके बाल्यजीवन तथा आचार्य के शिष्य बनने की कथा शंकरदिग्विजयों में विस्तार के साथ दी गई है। इससे प्रतीत होता है कि ये जन्मना विरक्त थे—इतने अलौकिक थे कि संसार के किसी भी प्रपञ्च में बँधे न थे। ये उन्मत्त की तरह रहते थे। इनके पिता नितान्त चिंतामग्न थे। माधव ने इनके पिता का नाम 'प्रभाकर' दिया है तथा दक्षिण का निवासी बतलाया[1] है। चिद्विलास के अनुसार इनके पिता का नाम दिवाकर अम्बरी[2] था जिन्होंने अपने पुत्र की दशा सुधारने के लिए प्रयाग में आचार्य से भेंट की[2]। पुत्र के उन्मत्तभाव से व्याकुल पिता उसे शंकर

[1]माधव—शं० दि० सर्ग १२, श्लोक ४२

[2]तदन्तरं तु तस्याथ प्रयागप्रेमागतः,
दिवाकराम्बरीत्येव नाम्ना सर्वत्र विश्रुतः।
अनेडमूकस्तस्यासीद् पुत्रः स्थाणुरिवापरः॥ —शं० वि० वि० ११।१८

के पास लाया। शंकर ने देखते ही उससे पूछा :—

कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽसि गन्ता
किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि।
एतद् वद त्वं मम सुप्रसिद्धं
मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनेऽसि ॥

(हे शिशु, तुम कौन हो ? किसके हो ? कहाँ से आये हुए हो ? तेरा नाम क्या है ? कहाँ जाओगे ? तुम्हें देखकर मेरा प्रेम उमड़ रहा है; इन बातों का उत्तर तो दो।)

प्रश्न का सुनना था कि बालक के मुख से आध्यात्मिक धारा श्लोकरूप से बह चली—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो, न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो, भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥

न तो मैं मनुष्य हूँ, न देव हूँ, न यक्ष हूँ। न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी नहीं हूँ; न ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी हूँ। मैं तो केवल ज्ञानरूप हूँ।

आत्मस्वरूप का यथार्थ वर्णन बालक के मुख से सुनते ही आचार्य गद्‌गद हो गए—वे समझ गये कि यह जीवन्मुक्त महात्मा है जो शेष कर्मों को जीर्ण करने के लिए भूतल पर अवतीर्ण हुआ है। उसके पिता से कहा—भाई, यह तुम्हारे काम का नहीं है। यदि मुझे सौंप दो, तो हमारा विशेष कार्य सिद्ध हो। पिता ने बात मान ली। शङ्कर ने उसे अपना शिष्य बनाया और उसका नाम 'हस्तामलक' रखा। इस नामकरण का कारण यह[1] है कि इस बालक ने आत्मस्वरूप का अनुभव उसी प्रकार कर लिया था जिस तरह हाथ पर आँवला रखा हो। इसी समता से यह नाम रखा गया था। ये आचार्य के साथ ही दिग्विजय यात्रा में रहते थे। इन्हें द्वारिका मठ का प्रथम अध्यक्ष शङ्कर ने बनाया।

इनकी केवल एकमात्र रचना 'हस्तामलक स्तोत्र' है जिसे इन्होंने शङ्कर के प्रश्न के उत्तर में कहा था। इसमें केवल १२ पद्य हैं। आचार्य का भाष्य भी इस पर उपलब्ध हुआ है जो श्रीरङ्गम् वाली शङ्कर-ग्रंथावली में प्रकाशित भी हुआ है, परंतु विद्वानों को इस भाष्य के शङ्कर रचित होने में पर्याप्त मतभेद है। इस स्तोत्र की 'वेदान्त सिद्धान्त दीपिका' नाम्नी एक टीका भी प्रसिद्ध है जो अभी तक अप्रकाशित ही है। इसके अतिरिक्त इनकी किसी रचना का पता नहीं चलता।

---

[1]आत्मस्वरूपमेतेन हस्तामलकवन्मितम्।
दर्शितं पुत्रस्तस्मान्मुदितो देशिकेश्वरः।
हस्तामलक इत्येव हस्तनामभिधामपि ॥

—शं० दि० वि० १२।२४

हस्तामलक स्तोत्र

कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽसि गन्ता किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि ।
एतन्मयोक्तं वद चार्भक त्वं मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि ॥१॥
नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥२॥
निमित्तं मनश्चक्षुरादिप्रवृत्तौ निरस्ताखिलोपाधिराकाशकल्पः ।
रविर्लोकचेष्टानिमित्तं यथा यः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥३॥
यमग्न्युष्णवन्नित्यबोधस्वरूपं मनश्चक्षुरादीन्यबोधात्मकानि ।
प्रवर्तन्त आश्रित्य निष्कम्पमेकं स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥४॥
मुखाभासको दर्पणे दृश्यमानो मुखत्वात्पृथक्त्वेन नैवास्ति वस्तु ।
चिदाभासको धीषु जीवोऽपि तद्वत्स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥५॥
यथा दर्पणाभाव आभासहानौ मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम् ।
तथा धीवियोगे निराभासको यः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥६॥
मनश्चक्षुरादेर्वियुक्तः स्वयं यो मनश्चक्षुरादेर्मनश्चक्षुरादिः ।
मनश्चक्षुरादेरगम्यस्वरूपः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥७॥
य एको विभाति स्वतः शुद्धचेताः प्रकाशस्वरूपोऽपि नानेव धीषु ।
शरावोदकस्थो यथाभानुरेकः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥८॥
यथाऽनेक चक्षुः प्रकाशो रविर्न क्रमेण प्रकाशीकरोति प्रकाश्यम् ।
अनेका धियो यस्तथैकः प्रबोधः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥९॥
विवस्वत्प्रभातं यथारूपमक्षं प्रगृह्णाति नाभातमेवं विवस्वान् ।
यदाभात आभासयत्यक्षमेकः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥१०॥
यथा सूर्य एकोऽप्स्वनेकश्चलासु स्थिरास्वप्यनन्यद्विभाव्यस्वरूपः ।
चलासु प्रभिन्नः सुधीष्वेक एव स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥११॥
घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः ।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥१२॥
समस्तेषु वस्तुषु अनुस्यूतमेकं समस्तानि वस्तूनि यन्न स्पृशन्ति ।
वियद्वत्सदा शुद्धमच्छस्वरूपं स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥१३॥
उपाधौ यथा भेदता सन्मणीनां तथा भेदता बुद्धिभेदेषु तेऽपि ।
यथा चन्द्रिकाणां जले चञ्चलत्वं तथा चंचलत्वं तवापीह विष्णोः ॥१४॥

तोटकाचार्य

तोटकाचार्य (या त्रोटकाचार्य) आचार्य के चतुर्थ शिष्य थे जिन्हें ज्योतिर्मठ का प्रथम अध्यक्ष बनाया गया था। इनका प्रसिद्ध नाम 'आनन्दगिरि' था। मठाम्नाय में इसीलिए कहा है—'तोटक चानन्दगिरिं प्रणमामि जगद्गुरुम्'। माधव ने इनका उल्लेख संक्षिप्तनाम 'गिरि' से ही किया है। परन्तु शाङ्कर भाष्यों के

व्याख्याता आनन्दगिरि इनसे बहुत पीछे हुए हैं। इन आनन्दगिरि का नाम 'आनन्दज्ञान' था। दोनों भिन्न भिन्न समय के आचार्य हैं। गिरि की गुरुभक्ति का उज्ज्वल निदर्शन माधव के ग्रन्थ में दिया गया है[1]।

गिरिजी अपना कौपीन धोने के लिए तुङ्गभद्रा के किनारे गये हुए थे। तब इनकी प्रतीक्षा में शङ्कर ने पाठ बन्द कर रखा। गिरि स्वभावतः अल्पज्ञ थे, बुद्धि भी कुण्ठित थी। शिष्यों को यह बहुत बुरा लगा कि गुरु ऐसे वज्रमूर्ख शिष्य पर इतनी अनुकम्पा रखते हैं। आचार्य ने शिष्यों की भावना जान ली। अपनी अलौकिक शक्ति से इनमें चतुर्दश विद्यायें संक्रमित कर दीं। फिर क्या था? आते ही इन्होंने तोटक वृत्तों में अध्यात्म का विवेचन करना आरम्भ किया। आचार्य की अनुकम्पा का सद्यः फल देखकर शिष्य मण्डली आश्चर्य से चकित हो गई। उसी दिन से इनका नाम 'तोटकाचार्य' रखा गया।

इनके नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें 'तोटक श्लोक' ही मुख्य हैं। इनकी व्याख्या भी इन्होंने लिखी थी। 'काल निर्णय' नामक ग्रन्थ इनकी रचना बतलाया जाता है।

श्रुतिसार समुद्धरण—यह बड़ा ग्रन्थ है जिसमें १७६ तोटक उपलब्ध होते हैं। इसे महर्षि हरिराम शर्मा ने 'वेदान्त समुच्चय' में (पृष्ठ २०७-२२१) प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में श्रुति के अद्वैत विषयक सिद्धान्त का परिचय बड़े ही सुबोध श्लोकों में दिया गया है। इसकी शैली जानने के लिए एक-दो पद्य पर्याप्त हैं।

> वंदनं नमनं च तथा श्रवणं मन एव च येन मतं सततम्।
> अवगच्छ तदेव पदं परमं त्वमिति श्रुतिरीचितुरुक्तवती॥
> परमात्मपदद्वय इयं च मया श्रुतिरत्नकयोक्तिरिहाभिहिता।
> अणिमादिगुणं सदिति प्रकृतं तदसित्वमिति श्रुतिरभ्यवदत॥

तोटकाचार्य का लिखा हुआ एक बड़ा गद्य ग्रन्थ भी है। इसकी एक प्रति हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत कालेज के अध्यक्ष म० म० पण्डित बालकृष्ण मिश्रजी के पास थी, परन्तु दो वर्ष हुए पण्डित जी का स्वर्गवास हो गया है। अब पता नहीं यह हस्तलिखित प्रति कहाँ गई। इसके विशेष छान बीन करने से अनेक तथ्यों का पता चलेगा, ऐसी आशा है।

आनन्दगिरि[2] तथा चिद्विलास[3] यति के 'शंकर विजय' में पूर्वोक्त चार शिष्यों के अतिरिक्त इन अन्य शिष्यों के भी नाम दिये हैं—चित्सुखाचार्य, समित्पाण्याचार्य, विष्णुगुप्ताचार्य, शुद्धकीर्त्याचार्य, भानुमरीच्याचार्य, कृष्णदर्शनाचार्य, बुद्धिवृद्ध्याचार्य, विरिञ्चिपाद, शुद्धानन्द गिरि, मुनीश्वर, धीमान्, लक्ष्मण आदि। इनकी प्रामाणिकता के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते।

---

[1] माधव—शं० दि० १२।७०८—९

[2] आनन्दगिरि.—शं० वि०,४ प्रकरण, पृ० १९

[3] चिद्विलास—शं० वि० वि०

शंकर की गुरु-परम्परा

आचार्य शंकर के सम्प्रदाय का वर्णन उपलब्ध ग्रन्थों में एक समान ही नहीं मिलता, प्रत्युत इन वर्णनों में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। अद्वैतमतावलम्बी ग्रन्थकारों के प्रामाण्य पर ऊपर विवरण प्रस्तुत किया गया है, परन्तु आचार्य के विषय में तान्त्रिक ग्रन्थ एक विचित्र ढंग की कहानी सुनाते हैं, जिससे परिचय पा लेना हमारा कर्त्तव्य है। इसमें कितनी बातें इतिहास की कसौटी पर कसी जाकर खरी निकलेंगी, इसका निर्णय ऐतिहासिक विद्वान् करेंगे। परन्तु इतना तो निश्चित मालूम पड़ता है कि इन तान्त्रिक ग्रन्थों का विवरण किसी प्राचीन परम्परा के ऊपर अवलम्बित होगा।

शाक्ततन्त्र साहित्य में 'श्रीविद्यार्णव' नामक एक नितान्त विख्यात पुस्तक है। इस विशालकाय ग्रन्थ के भिन्न भिन्न अंश भारत के विभिन्न प्रान्तों के पुस्तकालयों में हस्तलिखित रूप से उपलब्ध होते थे; पूरा ग्रन्थ जम्मू के रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में था। उसी प्रति के आधार पर यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कश्मीर से इसी वर्ष दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। इसमें तन्त्रशास्त्र के सम्पूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन श्रीविद्या की उपासना के क्रम को अवलम्बन कर भली भाँति किया गया है। प्रसङ्गवश इसमें आचार्य शङ्कर की गुरु परम्परा और शिष्य परम्परा का कुछ वर्णन मिलता है। श्रीविद्या की उपासना के साथ आचार्य शङ्कर का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसका परिचय हमें केवल तान्त्रिक ग्रन्थों से ही नहीं मिलता, प्रत्युत आचार्य के द्वारा स्थापित पीठों की पूजा पद्धति के निरीक्षण से भी चलता है। आचार्य के विशिष्ट मठों में 'श्रीयन्त्र' है जिसकी पूजा मठ धीश के कार्यों में एक विशेष स्थान रखती है। शङ्कर के द्वारा विरचित ग्रन्थों से भी इसकी पर्याप्त पुष्टि होती है। सौन्दर्यलहरी तथा प्रपञ्चसार ऐसे ही तान्त्रिक ग्रन्थ हैं जिनकी रचना के साथ आचार्य का नाम संश्लिष्ट है। ये सब त्रिपुरा तन्त्र के ग्रन्थ हैं। इतना ही नहीं, आचार्य ने जिस 'ललितात्रिशती' का पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखा है वह भी इसी तन्त्र से सम्बद्ध है। ऐसी दशा में हमें आश्चर्य न करना चाहिए यदि त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थ में आचार्य शङ्कर के जीवन चरित की कतिपय घटनायें उपलब्ध होती हैं।

गुरुपरम्परा—प्रचलित ग्रन्थों के आधार पर शङ्कर सम्प्रदाय की गुरुपरम्परा भगवान् विष्णु से आरम्भ होती है :—

विष्णु	वसिष्ठ	
|	|	|
शिव	शक्ति	गौडपाद
|	|	|
ब्रह्मा	पराशर	गोविन्द
|	|	|
	शुक	शङ्कर

इस परम्परा के अनुसार शङ्कर गौडपाद के प्रशिष्य थे और ये गौडपाद

शुकदेवजी के शिष्य थे। आचार्य की गुरुपरम्परा तथा शिष्य परम्परा की सूचना इन प्रसिद्ध पद्यों में है—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च ।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥
श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं तोटकं वार्तिककारमन्यान् अस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि ॥

परन्तु 'श्री विद्यार्णव' के अनुसार शङ्कर गौडपाद के प्रशिष्य न थे, प्रत्युत दोनों के बीच में पाँच पुरुषों के नाम मिलते हैं। शङ्कर की गुरुपरम्परा इस प्रकार क्रमशः है—गौडपाद, पावक, पराचार्य, सत्यनिधि, रामचंद्र, गोविन्द और शङ्कर। इससे यह सिद्ध होता है कि शङ्कर के गोविन्द शिष्य होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, परन्तु गौडपाद से इनका निकट सम्बन्ध न था। प्रचलित मतानुसार गौडपाद का शुकदेव के साथ गुरुशिष्य सम्बन्ध था; परन्तु इन दोनों आचार्यों में दीर्घ काल का व्यवधान होने के कारण ऐतिहासिक लोग इस सम्बन्ध को मानने में सकोच करते हैं। कतिपय विद्वानों की सम्मति में इस सम्बन्ध के भीतर एक गहरा ऐतिहासिक तथ्य छिपा हुआ है। बहुत सम्भव है कि अद्वैतवाद की प्राचीन धारा किसी कारणवश शुकदेवजी के बाद एकदम उच्छिन्न हो गई और कालान्तर में किसी अलौकिक उपाय से आविर्भूत होने वाले शुकदेव जी की दिव्यमूर्ति से गौडपाद ने अद्वैतवाद के रहस्य को सीखकर उसे पुनः प्रवर्तित किया। परन्तु ऐसी अलौकिक व्याख्या पर ठोस ऐतिहासिक लोग कब आस्था रखेंगे? परन्तु अब ऐतिहासिकों को इस बात की जानकारी से सन्तोष हुए बिना न रहेगा कि 'श्रीविद्यार्णव' के अनुसार गौडपाद शुकदेव के साक्षात् शिष्य न थे, प्रत्युत दोनों के बीच में आचार्यों की एक दीर्घ परम्परा विद्यमान थी। इस ग्रन्थ का मत है कि शंकर सम्प्रदाय की प्रवृत्ति आदि विद्वान् महर्षि कपिल से हुई है। कपिल से गौडपाद तक गुरुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—कपिल, अत्रि, वशिष्ठ, सनक, (५) सनन्दन, भृगु, सनत्सुजात, वामदेव, नारद, (१०) गौतम, शौनक, शक्ति, मार्कण्डेय, कौशिक, (१५) पराशर, शुक, अङ्गिरा, कण्व, जाबालि, (२०) भरद्वाज, वेदव्यास, ईशान, रमण, कपर्दी, (२५) भूधर, सुभट, जलज, भूतेश, परम, (३०) विजय, भरण (भरत) पद्मेश, सुभग, विशुद्ध, (३५) समर, कैवल्य, गणेश्वर, सुपाद, विबुध, (४०) योग, विज्ञान, अनङ्ग, विभ्रम, दामोदर, (४५) चिदाभास, चिन्मय, कलाधर, विश्वेश्वर, मन्दार, (५०) त्रिदश, सागर, मृड, हर्ष, सिंह, (५५) [illegible], वीर, अघोर, ध्रुव, दिवाकर, (६०) चक्रधर, प्रमथेश, चतुर्भुज, आनन्दभैरव धीर, (६५) गौडपाद। आदि गुरु कपिल से लेकर शङ्कर तक ७१ गुरु हुए तथा गौडपाद और शङ्कर के बीच में छः गुरु हुए[1]।

[1] 'गौडपादिपर्यन्ता गुरवः प्रमीताः'।
[illegible] गुरव: [illegible] ॥११६
[illegible] ।
[illegible] ॥१२०

इस नामावली के क्रम में विलक्षणता दीख पड़ती है। (१२) शक्ति तथा (१५) पराशर का सम्बन्ध पिता-पुत्र का है। अतः इन दोनों में आनन्तर्य का होना स्वाभाविक था, परन्तु यहाँ दो नामों से इनमें व्यवधान हो गया है। (१६) शुक के पिता वेदव्यास का नाम अपने पुत्र से पहले न होकर उनके चार शिष्यों के अनन्तर है!! इस नामसूची के अनुसार (१७) शुक तथा गौड़पाद के बीच उन-चास आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं। इस प्रकार इन दोनों में पर्याप्त व्यवधान है।

शिष्य– परम्परा

प्रचलित मत के अनुसार आचार्य शङ्कर के चार प्रधान शिष्य थे और ये चारों ही सन्यासी थे, परन्तु इसके विपरीत श्री विद्यार्णव की सम्मति में आचार्य के १४ शिष्य थे जो सब के सब देवी के उपासक और परमसिद्ध थे[1]। परन्तु इन शिष्यों के दो प्रकार थे—५ शिष्य थे संन्यासी और ६ शिष्य थे गृहस्थ। संन्यासी शिष्यों के नाम हैं—(१) पद्मपाद, (२) बोध, (३) गीर्वाण, (४) आनन्दतीर्थ और (५) गुरु के नाम के समान ही पञ्चम शिष्य का नाम था शङ्कर। गृहस्थ शिष्यों के नाम हैं—(६) सुन्दर, (७) विष्णुशर्मा, (८) लक्ष्मण, (९) मल्लिकार्जुन, (१०) त्रिविक्रम, (११) श्रीधर, (१२) कपर्दी (१३) केशव और (१४) दामोदर। इन प्रधान शिष्यों की शिष्यपरम्परा भी पर्याप्त विस्तृत थी।

(१) पद्मपाद के छः शिष्य थे—माण्डज, परिपाचक, निर्वाण, गीर्वाण, चिदानन्द और शिवोत्तम जो सबके सब संन्यासी थे।

(२) बोधाचार्य—इनके बहुत से शिष्य थे जो केरल देश में फैले हुए थे। गुरु के समान इनके भी शिष्य दो प्रकार के थे—गृही और संन्यासी।

(३) गीर्वाण—इनके प्रधान शिष्य थे विद्वद्गीर्वाण जिनकी शिष्यपरम्परा यों है। विद्वद्गीर्वाण→ विबुधेन्द्र→ सुधीन्द्र→ मन्त्रगीर्वाण। इनके शिष्य गृही भी थे और संन्यासी भी।

(४) आनन्दतीर्थ—सब शिष्य गृहस्थ थे और पादुकापीठ की आराधना करते थे।

(५) शंकर—इनके शिष्य मठ तथा उपमठों के अधिपति थे।

(६) सुन्दराचार्य—तीन प्रकार के शिष्य थे—गृही, संन्यासी और पीठनायक।

(७) विष्णुशर्मा—इनके प्रधान शिष्य का नाम था प्रगल्भाचार्य। श्री विद्यार्णव ग्रन्थ के रचयिता विद्यारण्य यति इन्हीं प्रगल्भाचार्य के शिष्य थे। यह

---

[1] शंकराचार्यशिष्याश्च चतुर्दशदृढव्रताः।
देव्याराधनो द्युतात्मानो निग्रहानुग्रहक्षमाः ॥१।६०।

सिद्ध मन्थ सा प्रतीत होता है जिसकी समाप्ति पर जगद्धात्री ने अपने आपको भक्त के सामने प्रकट होकर वर माँगने को कहा। मन्थकार की कोई सांसारिक वासना न थी जिसके लिए वह भगवती से प्रार्थना करता। उसकी यही कामना थी कि जो कोई मनुष्य इस मन्थ की पद्धति देखकर उसे गुरु मानकर जप करे, उसे दीक्षा के बिना भी सिद्धि प्राप्त हो जाय। भगवती ने वर दिया और स्वयं अन्तर्ध्यान हो गईं।

(८) लक्ष्मणाचार्य—इनकी अलौकिक सिद्धि की बात मन्थ में दी गई है। ये बड़े भारी सिद्ध थे। एक बार प्रौढ़देव नामक किसी राजा की राजधानी में गये। राजा ने भरी सभा में इनका सत्कार किया और बेशकीमती कपड़ों को उपहार में दिया। सिद्ध जी ने घर जाकर उन कपड़ों को हवन कर दिया। खबर पाकर राजा ने अपना वस्त्र माँगा। लक्ष्मणाचार्य ने अपनी सिद्धि के बल से इन वस्त्रों को लौटा दिया, परन्तु साथ ही साथ शाप देकर वे दक्षिण की ओर चले गये। प्रौढ़देव की बड़ी विनति करने पर वे प्रसन्न तो हुए, परन्तु कहा कि मेरा वचन अन्यथा नहीं हो सकता। पुत्र तुम्हें अवश्य होगा, पर तुम उसके सुख से वञ्चित रहोगे। हुआ भी ऐसा ही। बालक के गर्भस्थ होते प्रौढ़देव मर गया। राज्य का भार श्री विद्यारण्य के ऊपर सौंपा गया। उन्होंने श्रीचक्र के अनुसार श्रविद्या नगर की स्थापना की तथा अमरदेव को राज्य समर्पित कर विरक्त लेखक ने नाना तन्त्रों का आलोडन कर इस मन्थरत्न की रचना की।

(९) मल्लिकार्जुन के शिष्य विन्ध्याचल में, (१०) त्रिविक्रम के शिष्य-जगन्नाथ क्षेत्र में, (११) श्रीधर के शिष्य गौड देश, बंगाल और मिथिला में; (१२) कपर्दी के शिष्य काशी, अयोध्या आदि स्थानों में निवास करते थे। (१३) केशव और (१४) दामोदर के शिष्यों का विवरण मन्थ में नहीं मिलता।

मन्थकार ने 'कामराज विद्या' के विषय में लिखा है—

सम्प्रदायो हि नान्योऽस्ति लोके श्रीशङ्कराद् बहिः।
कादिशक्तिमते तन्त्र तन्त्रराजं सुदुर्लभम् ॥९८॥
मातृकार्णवसङ्घं तु त्रिपुरार्णवसंज्ञकम्।
योगिनीहृदयं चैव ख्यातं मन्त्रचतुष्टयम् ॥९९॥

श्रीविद्यार्णव के वर्णन का यही सार अंश है (प्रथम श्वास, श्लोक ४२—९७)।

आचार्य के गृहस्थ शिष्य

शङ्कराचार्य के गृहस्थ शिष्यों का उल्लेख 'श्री विद्यार्णव' में ऊपर दिया गया है। कतिपय विद्वान् इस वर्णन को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। आचार्य के संन्यासी ही शिष्य थे, इस प्रसिद्ध परम्परा के आगे श्रीविद्यार्णव का पूर्वोक्त वर्णन कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है। परन्तु बात ऐसी नहीं थी। आचार्य के गृहस्थ शिष्य भी थे। इसके समर्थक अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं।

(१) महानुशासन[1] में (१० वें श्लोक में) शङ्कर ने अपने पीठाध्यक्षों के अनेक गुणों का वर्णन किया है। यदि पीठ का नायक शुचि, जितेन्द्रिय, वेद और वेदाङ्ग में विशारद, योगज्ञ तथा शास्त्रवेत्ता हो, तो वह पीठ की अध्यक्ष पदवी को अलङ्कृत करने का अधिकारी है। यदि ऐसे सद्गुणों से वह विवर्जित हो, तो वह मनीषियों के द्वारा निग्रह करने योग्य है—निग्रहार्हो मनीषिणाम् (११ श्लोक)। महानुशासन की एक प्राचीन टिप्पणी के अनुसार (जो अभी तक अप्रकाशित है) 'मनीषा' शब्द का अर्थ है—आचार्य का गृहस्थ शिष्य। प्राचीन व्यवस्था यह थी कि शङ्कर का संन्यासी शिष्य तो पीठ का अधिपति बनता था और उनका गृहस्थ शिष्य वहाँ का दीवान बनता था। विरक्त सन्यासी तो पीठ की आध्यात्मिक उन्नति में लगा रहता था। पीठ की लौकिक तथा व्यावहारिक स्थिति की देख रेख इसी गृहस्थ शिष्य के अधीन होती थी। वह दीवान का काम करता था। यह उसके अधिकार की बात थी कि यदि पीठाध्यक्ष सन्यासी में पीठकार्य के सचालन की योग्यता न हो, तो वह उन्हें उस पद से हटाकर दूसरे शिष्य को उस पद पर बैठावे। आचार्य की यह व्यवस्था बड़ी सुन्दर थी। पीठों में यही व्यवस्था प्रचलित थी—अध्यक्ष का पद सन्यासी शिष्य के हाथ में था और दीवान का कार्य गृहस्थ शिष्य चलाता था। प्राचीन काल में यही व्यवस्था सुचारु रूप से प्रचलित थी। अवनति काल आते ही यह व्यवस्था उच्छिन्न हो गई।

(२) यह तो प्रसिद्ध ही है कि आचार्य श्रीविद्या के उपासक थे। आज-कल इस विद्या के उपासकों की जो परम्परायें उपलब्ध होती हैं उनमें अनेक आचार्य के गृहस्थ शिष्यों से भी आरम्भ होती हैं। तन्त्रशास्त्र के रसिकों से भास्करराय का नाम अपरिचित नहीं है। ये शाक्त दार्शनिक थे जिनका सम्प्रदाय आज भी दक्षिण (महाराष्ट्र) तथा उत्तर (काशी) में प्रचलित मिलता है। ये १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में गुजरात में आविर्भूत हुए थे। इनके ग्रंथ तन्त्र विद्या के आध्यात्मिक रहस्यों के उद्घाटन के लिए कुञ्जी हैं। इनकी रचनाओं में १ वारिवस्यारहस्य, २ ललितासहस्रनाम का भाष्य (सौभाग्य भास्कर), ३ सेतु (नित्याषोडशिकार्णव की टीका) ४ गुप्तवती (दुर्गा सप्तशती की व्याख्या) तथा ५ कौल, ६ त्रिपुरा, ७ भावना उपनिषदों की व्याख्या नितान्त प्रसिद्ध है। तन्त्र विद्या के लिए ये अत्यन्त प्रौढ़ तथा उच्च कोटि के ग्रन्थ हैं। इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि भास्करराय ने तन्त्रविद्या का अध्ययन तो नृसिंहाध्वरी नामक

---

[1]शुचिर्जितेन्द्रियो वेदवेदाङ्गादिविशारद।
योगज्ञ सर्वशास्त्राणां स मदास्थानमाप्नुयात् ॥१०॥
[2]उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठभाग् भवेत्।
अन्यथा रूढपीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम् ॥११॥

संन्यासी गुरु के पास रहकर किया, परन्तु जब उन्हें 'पूर्णाभिषेक' करने का अवसर आया, तब उन्होंने भास्करराय को शिवदत्त शुक्ल नामक तान्त्रिक सिद्ध के पास भेज दिया जो आचार्य के गृहस्थ शिष्य सुन्दराचार्य की परम्परा में थे। ये शुक्ल जी गुजराती ब्राह्मण थे और अपने समय के महनीय आचार्यों में थे। इन्होंने भास्करराय का 'पूर्णाभिषेक' किया जिसका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। ये शिवदत्त शुक्ल सुन्दराचार्य की शिष्यपरम्परा में थे जो आचार्य के गृहस्थ शिष्यों में अन्यतम थे। इनका नाम श्रीविद्यार्णव तन्त्र में ऊपर आया है। इसका निष्कर्ष यह है कि भास्करराय की श्रीविद्या परम्परा का प्रचलन सुन्दराचार्य से हुआ और ये शङ्कराचार्य के गृहस्थ शिष्य थे। जिस प्रकार शङ्कर के संन्यासी शिष्यों की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही है, उसी प्रकार उनके गृहस्थ शिष्यों की भी परम्परा अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है। साधकों की इस परम्परा के विद्यमान रहते श्रीविद्यार्णव के वर्णन में संशय करने का अवकाश नहीं है। इस प्रकार श्रीविद्या सम्प्रदाय की वास्तविक बातों को जानकर हमें विश्वास करना पड़ता है कि आचार्य के गृहस्थ शिष्य भी थे[1]।

---

[1] इस साम्प्रदायिक तथ्य की जानकारी के लिए मैं साहित्याचार्य पण्डित नारायण शास्त्री खिस्ते जी का बड़ा आभार मानता हूँ। वे श्रीविद्या के उपासक हैं और साम्प्रदायिक तथ्यों का विशेष ज्ञान रखते हैं। इस सूचना के लिए मैं उन्हें अनेक धन्यवाद देता हूँ।

षोडश परिच्छेद

मठों का विवरण

आचार्य शङ्कर ने भारतवर्ष की धार्मिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये प्रख्यात तीर्थ स्थानों में मठों की स्थापना की। चारों धाम के पास आचार्य ने चार विख्यात मठों की स्थापना की। इनमें ज्योतिर्मठ (प्रचलित नाम जोशी मठ) बदरिकाश्रम के पास उत्तर में स्थित है। शारदामठ काठियावाड़ में द्वारिकापुरी में वर्तमान है। शृङ्गेरीमठ मैसूर रियासत में दक्षिण भारत में है। गोवर्धनमठ भारत के पूर्वी भाग में जगन्नाथ पुरी में प्रतिष्ठापित है। इन मठों का अधिकारक्षेत्र भी आचार्य ने निश्चित कर दिया था। भारत का उत्तरी तथा मध्य देश कुरु, काश्मीर, कम्बोज, पाञ्चाल, आदि देश ज्योतिर्मठ के शासन के अन्तर्भुक्त हैं। सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र (काठियावाड़) तथा महाराष्ट्र प्रभृति देश अर्थात् भारत का समग्र पश्चिमी भूभाग शारदामठ के शासन में स्थापित किया गया। भारत का दक्षिणी भाग आन्ध्र, द्रविड़, कर्णाटक तथा केरल प्रान्त शृङ्गेरी मठ के शासनाधीन किया गया। भारत का पूर्वी प्रान्त अङ्ग (भागलपूर), वङ्ग (बंगाल), कलिङ्ग (उड़ीसा का दक्षिणी भाग), उत्कल, मगध (बिहार) तथा बर्बर देश (छोटा नागपुर का पहाड़ी प्रदेश) के ऊपर पुरी में स्थित गोवर्धन मठ के अधिकार में रक्खा गया। इन पीठों के अधिपतियों का मुख्य कर्तव्य अन्तर्भुक्त प्रान्तों के निवासियों को धर्मोपदेश करना तथा वैदिक मार्ग के ऊपर सुचारु रूप से चलने की व्यवस्था करना था। प्रत्येक मठ का कार्यक्षेत्र पृथक् पृथक् रक्खा गया था, परन्तु पारस्परिक सहयोग खूब था। मठ के अध्यक्षों का आज भी यह प्रधान कार्य है। अपने क्षेत्र के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्मावलम्बियों में धर्म की प्रतिष्ठा को दृढ़ रखना तथा तदनुकूल उपदेश देना। ये अध्यक्ष आचार्य शङ्कर के प्रतिनिधि रूप हैं। इसी कारण ये भी शङ्कराचार्य कहलाते हैं।

मठों के आदि आचार्य

मठों की स्थापना के अनन्तर आचार्य ने अपने चारों पट्ट शिष्यों को इनका अध्यक्ष नियुक्त किया, यह सर्वसम्मत बात है। परन्तु किस शिष्य को किस मठ का अध्यक्ष पद दिया गया इस विषय में ऐकमत्य नहीं दीख पड़ता। किसी के मत में गोवर्धन मठ का अध्यक्षपद पद्मपाद को, शृङ्गेरी का पृथ्वीधर (हस्तामलक) और शारदामठ का विश्वरूप (सुरेश्वराचार्य) को दिया गया। परन्तु मतान्तर में गोवर्धन में हस्तामलक, शारदामठ में पद्मपाद तथा शृङ्गेरी में विश्वरूप के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये जाने का उल्लेख है। मठाम्नाय नामक

पुस्तक में इस विषय का वर्णन है। परन्तु इसमें पाठभेद होने के कारण हम किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच पाते। इस विषय के निर्णय करने का एक विशिष्ट साधन है जिधर विद्वानों का ध्यान यहाँ आकृष्ट किया जा रहा है।

वैदिक सम्प्रदाय में वेदों का सम्बन्ध भिन्न भिन्न दिशाओं के साथ माना जाता है। ऋग्वेद का संबंध पूर्व दिशा से है, यजुर्वेद का दक्षिण दिशा से, सामवेद का पश्चिम से तथा अथर्ववेद का उत्तर से है। यागानुष्ठान के अवसर पर यही पद्धति प्रचलित है। शङ्कराचार्य ने शिष्यों की नियुक्ति मनमाने ढंग से नहीं की किन्तु इस चुनाव में इन्होंने एक विशिष्ट वैदिक नियम का पालन किया है। जिस शिष्य का जो वेद था उसकी नियुक्ति उसी वेद से संबद्ध दिशा से की गयी। आचार्य पद्मपाद काश्यप गोत्रीय ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। अतः आचार्य ने उनकी प्रतिष्ठा ऋग्वेद से संबद्ध पूर्व दिशा के गोवर्धन मठ के अध्यक्षपद पर की। इस विषय में मठाम्नाय के ये श्लोक प्रमाण रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं :—

गोवर्धन मठ में पद्मपाद

> गोवर्धनमठे रम्ये, विमलापीठसञ्ज्ञके।
> पूर्वाम्नाये भोगवारे, श्रीमत्काश्यपगोत्रजः॥
> माधवस्य सुतः श्रीमान्, सनन्दन इति श्रुतः।
> प्रकाश ब्रह्मचारी च, ऋग्वेदी सर्वशास्त्रवित्॥
> श्रीपद्मपादः प्रथमाचार्यत्वेनाभ्यषिच्यत॥

दक्षिण के शृङ्गेरी मठ में सुरेश्वराचार्य की नियुक्ति प्रमाण-संमत प्रतीत होती है—इस कारण नहीं कि प्रधान पीठ पर सर्वप्रधान शिष्य को रखना न्याय-संगत था प्रत्युत उनके वेद के कारण ही। सुरेश्वर शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत काण्व शाखाध्यायी ब्राह्मण थे। आचार्य शंकर ने सुरेश्वर को दो उपनिषद् भाष्यों पर वार्तिक लिखने का आदेश दिया था—एक तैत्तीरीय उपनिषद् भाष्य पर, क्योंकि शंकराचार्य की अपनी शाखा तैत्तीरीय थी। दूसरी बृहदारण्यक भाष्य पर, क्योंकि सुरेश्वर की शाखा काण्व शाखा थी और बृहदारण्यक उपनिषद् इसी यजुर्वेद शाखा से संबद्ध है। बृहदारण्यक उपनिषद् काण्व तथा माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में उपलब्ध होती है। आचार्य का बहुप्रचलित माध्यन्दिन शाखीय पाठ को छोड़कर अल्प प्रचलित काण्व शाखीय पाठ के ग्रहण करने का कारण यही शिष्यानुराग प्रतीत होता है। इस विषय में माधवाचार्य के शङ्कर दिग्विजय के ये श्लोक प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

शृङ्गेरी में सुरेश्वराचार्य

> सत्यं यदात्थ विनयिन् मम याजुषी या,
> शाखा तदन्तगतभाष्यनिबन्ध इष्टः।
> तद्वार्तिकं मम कृते भवता विधेयं,
> सच्चेष्टितं परहितैकफलं प्रसिद्धम्॥

तद्वत् त्वदीया खलु काण्वशाखा,
ममापि तत्रास्ति तदन्तभाष्यम्।
तद्वार्तिकं चापि विधेयमिष्टं,
परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः ॥

१३।६५,६६

अनेक उपनिषद् भाष्यों के रहने पर भी सुरेश्वर के द्वारा दो ही भाष्य-वार्तिक लिखे जाने का रहस्य इसी घटना में छिपा हुआ है। यजुर्वेद से संबद्ध दिशा दक्षिण है। इसीलिये आचार्य ने काण्व शाखीय यजुर्वेदीय सुरेश्वर को शृङ्गेरी मठ का अध्यक्ष बनाया।

इस विषय में किसी को भी मतभेद नहीं है कि तोटकाचार्य उत्तर दिशा में स्थित ज्योर्तिमठ के अध्यक्ष बनाये गये थे। यह चुनाव इनके अथर्ववेदी होने के कारण किया गया था। ऐसा अनुमान करने में कोई दोष नहीं दिखाई पड़ता।

ज्योर्तिमठ में तोटकाचार्य

हस्तामलकाचार्य की नियुक्ति परिशेषात् बच रहने के कारण द्वारिकापुरी के शारदामठ के अध्यक्षपद पर की गयी। इस नियुक्ति में भी उनके वेद का सबंध ही प्रधान कारण प्रतीत होता है। आदि आचार्यों की यही परम्परा न्यायानुमोदित प्रतीत होती है। अतः इन चारों मठों के आदि आचार्यों की निम्नलिखित व्यवस्था प्रामाणिक है—

आचार्य	वेद	दिशा	मठ
१—पद्मपाद	ऋग्वेदी	पूर्वदिशा	गोवर्धनमठ
२—सुरेश्वर	यजुर्वेदी	दक्षिण	शृङ्गेरी मठ
३—हस्तामलक	सामवेदी	पश्चिम	शारदामठ
४—तोटक	अथर्ववेदी	उत्तर	ज्योतिमठ

शृङ्गेरी मठ

आचार्य शङ्कर के द्वारा स्थापित यही सबसे पहिला मठ है। इस स्थान की पवित्रता प्राचीनकाल से चली आ रही है। ऐसी किम्वदन्ती है कि महाराज दशरथ के यहाँ पुत्रेष्टि यज्ञ कराने वाले ऋष्यशृङ्ग ऋषि इसी स्थान पर रहते थे। इसी कारण यह स्थान ऋष्यशृङ्ग के नाम से संबंधित है। यह प्रान्त पहाड़ी है। अतः इसका प्राचीन नाम ऋषि और पर्वत दोनों के सबंध से ऋष्यशृङ्गगिरि पड़ा था। वर्तमान 'शृङ्गेरी' नाम इसी प्राचीन नाम का अपभ्रंश है। आज कल यह स्थान मैसूर रियासत के 'कडूर' जिले में तुङ्गा नदी के बायें किनारे अवस्थित है। आज भी यहाँ पर शङ्कराचार्य के नाम से सम्बन्धित १२० मन्दिर विद्यमान हैं। पर्वत के ऊपर मल्लिकार्जुन शिव का मन्दिर है। आचार्य शङ्कर के द्वारा उपास्य भगवती 'शारदाम्बा' की सुवर्णमयी मूर्ति यहाँ पर विराजमान है। यही शृङ्गेरी के शङ्कराचार्यों की उपास्यदेवी है।

सदर दरवाजे के दाहिनी ओर व्यास जी की अभय मुद्रा में वर्तमान एक प्रस्तर मूर्ति है। वे आचार्य शङ्कर को अद्वैत वेदान्त का उपदेश दे रहे हैं। आचार्य की भी मूर्ति दाहिनी ओर बनी हुई है। तुङ्गा के किनारे विद्यारण्यपुर में शङ्कराचार्य की एक और मूर्ति है। यह कहा जाता है कि यहीं पर शङ्कराचार्य का अन्तर्ध्यान हो गया था। इसके अतिरिक्त इस पीठ के जो अध्यक्ष हुये उनकी भी मूर्तियाँ यहाँ बनी हुई हैं।

विद्याशंकर का मन्दिर

शृङ्गेरी मठ शङ्कराचार्य के द्वारा स्थापित केवल पीठ मात्र नहीं है प्रत्युत यह वैदिक संस्कृति का केन्द्र, वर्णाश्रम धर्म का निकेतन तथा अद्वैत वेदान्त का जीता जागता विद्यापीठ है। यहाँ के अध्यक्ष लोग अपनी विद्या, वैदिक सदाचार, वेदान्त-निष्ठा के लिये सदा से सर्वत्र विख्यात हैं। यहाँ के शङ्कराचार्य का अधिकांश समय दक्षिण के भिन्न भिन्न प्रान्तों में भ्रमण कर हिन्दू जनता के बीच वैदिक धर्म के प्रचार में बीतता है। इस मठ को एक बहुत बड़ी जागीर भी मिली है जिसकी वार्षिक आय ८०,००० रुपया है। यह स्थान पहाड़ी है अतः प्राचीन काल में यह अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये हुये था। धीरे-धीरे यह आस-पास के राजाओं के अधिकार में आने लगा। इस मठ की विशेष प्रख्याति विजयनगर साम्राज्य के समय से होती है। इस साम्राज्य के संस्थापकों के साथ इस मठ का गहरा संबंध था। वेद-भाष्य के कर्ता सायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य ने हरिहरराय तथा उनके भ्राताओं को विजयनगर की स्थापना में पर्याप्त सहायता दी थी। वे ही पीछे विद्यारण्य स्वामी के नाम से इस पीठ के अध्यक्ष नियुक्त हुये। जान पड़ता है कि माधवाचार्य की प्रेरणा से हरिहर ने अपने भाइयों के साथ इस स्थान की यात्रा की और १३४६ ई० में यह विस्तृत जागीर दी जो आज भी मठके अधिकार में वर्तमान है और जिसकी आय ८०,००० रु० वार्षिक है। हरिहर ने ब्राह्मणों का एक अग्रहार (धर्मार्थ किसी गाँव का दान) भी स्थापित किया जो उन्हीं के नाम पर हरिहरपुर के नामसे विख्यात है। विजय नगर साम्राज्य के अनन्तर जान पड़ता है कि यह जागीर कुछ छिन्न भिन्न होने लगी थी। अतः १६२१ ई० में वेङ्कटप्प नामक कनाड़ी नरेश ने इसकी पुनः प्रतिष्ठा की। मैसूर नरेशों के अधीन होने पर इस पीठ की वृद्धि होती रही है। मैसूर के हिन्दू नरेशों ने ही नहीं प्रत्युत मुसलमान बादशाहों ने भी शृङ्गेरी के आचार्यों के प्रति अपना समधिक श्रद्धा सदा दिखलायी है। यह बात इतिहास प्रसिद्ध है कि हैदर अली तथा टीपू सुल्तान ने शङ्कराचार्य के लिये सोने का मुकुट तथा परिधान मात्र उपहार में दिया था। आज भी मैसूर रियासत की ओर से इस मठ के लिये एक हजार रुपया प्रति मास दक्षिणा के रूप में भेंट किया जाता है। जागीर की आय तथा दक्षिणा से मिलने वाला द्रव्य सब कुछ दीन, दुःखियों के भोजन में खर्च कर दिया जाता है। इस मठ की ओर से अनेक संस्कृत पाठशालायें चलती हैं जिनमें संस्कृत व्याकरण तथा वेदान्त की शिक्षा दी जाती है[1]।

[1] शृङ्गेरी के लिए द्रष्टव्य—मैसूर गजेटियर (भाग १ द्वितीय संस्करण) पृ० ४०१—४०२, ४०८—४०६।

शृङ्गेरीमठ

नं०	नाम	सन्यास ग्रहण समय	सिद्धि काल	समय
१.	श्री शङ्कराचार्य	२२ विक्रम शके	विक्रम शके ४५	२४ × जन्मादिवय सह३१
२.	सुरेश्वराचार्य	३० ,,	६६५	जन्मादितः ७२५
३.	बोधघनाचार्य	६८० शाली शके	८८०	२००
४.	ज्ञानघनाचार्य	७६८	८३२	६४
५.	ज्ञानोत्तमशिवाचार्य	८२७	८७५	४८
६.	ज्ञानगिर्याचार्य	८७१	६१०	८६
७.	सिंहगिर्याचार्य	६५८	१०२०	६२
८.	ईश्वर तीर्थ	१०१६	१०६८	४६
९.	नरसिंह तीर्थ	१०६७	११५०	८३
१०.	विद्यातीर्थ–विद्याशंकर	११५०	१२५५	१०५
११.	भारतीकृष्ण तीर्थ	१२५०	१३०२	५२
१२.	विद्यारण्य	१२५३	१३०८	५५
१३.	चन्द्रशेखर भारती	१२६०	१३११	२१
१४.	नरसिंह भारती	१३०६	१३३०	२१
१५.	पुरुषोत्तम भारती	१३६८	१३७०	४२
१६.	शङ्करानन्द	१३५०	१३७६	२६
१७.	चन्द्रशेखर भारती	१३७१	१३८६	१५
१८.	नरसिंह भारती	१३८६	१४०१	१५
१९.	पुरुषोत्तम भारती	१३६४	१४५६	४५

न०	नाम	संन्यास ग्रहण	सिद्धि काल	समय
२०.	रामचन्द्र भारती	१४३०	१४८२	५२
२१.	नरसिंह भारती	१४७६	१४६५	१६
२२.	नरसिंह भारती	१४८५	१४६८	१३
२३.	इम्मडि नरसिंह भारती	१४६८	१५२१	२३
२४.	अभिनवनरसिंह भारती	१५२१	१५४४	२३
२५.	सच्चिदानन्द भारती	१५४४	१५८५	४१
२६.	नरसिंह भारती	१५८६	१६२७	४२
२७.	सच्चिदानन्द भारती	१६२७	१६६३	३६
२८.	अभिनव सच्चिदानन्द	१६६३	१६८६	२५
२६.	नृसिंह भारती	१६८६	१६६२	३
३०.	सच्चिदानन्द भारती	१६६२	१७३५	४३
३१.	अभिनव सच्चिदानन्द	१७३५	१७३६	४
३२.	नरसिंह भारती	१७३६	१८०१	४२
३३.	सच्चिदानन्द शिवाभिनव विद्यानरसिंह भारती	१०८८		
३४.	चन्द्रशेखर भारती			

विद्यारण्य

शृंगेरी के मठ को प्रतिष्ठा तथा गौरव प्रदान करने वाले स्वामी विद्यारण्य ही हैं। इनके जीवन की प्रधान घटनाओं से परिचित होना नितान्त आवश्यक है। यह परिचय संक्षेप में इस प्रकार है।

सुनते हैं कि माधवाचार्य ने नब्बे साल की आयु में अपनी ऐहिक लीला संवरण की। 'देव्यपराधक्षमास्तोत्र' विद्यारण्य के द्वारा विरचित माना जाता है। इसमें स्वामी जी ने अपने को पचासी वर्षों से भी अधिक जीने का उल्लेख किया

है। वे कह रहे हैं कि विविधविधानों के प्रपञ्चों से ऊबकर मैंने देवताओं की पूजा छोड़ दी है। अब ८५ से अधिक वर्ष बीत जाने पर, हे माता! तुम्हारी कृपा मुझ पर न होगी, तो हे लम्बोदर जननि! निरालम्ब बन में किसकी शरण जाऊँगा?

परित्यक्ता देवा विविधविधसेवाकुलतया।
मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि॥
इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता।
निरालम्बो लम्बोदरजननि! क यामि शरणम्॥

अब माधव के इस सुदीर्घ जीवन काल के विषय में संशय का कोई स्थान नहीं है। हरिहर द्वितीय के समय के एक शिलालेख से पता चलता है कि वि० सं० १४४३ (१३८६ ई०) में विजय नगर में विद्यारण्य की मृत्यु हुई। इसके अनुसार वि० स० १३५३ तदनुसार १२९६ ई० में माधव का जन्म हुआ था।

मायण तथा श्रीमती के ये ज्येष्ठ पुत्र थे। इनके बाल्यकाल तथा यौवनकाल की घटनाओं के विषय में हमें अभी तक कोई भी साधन नहीं मिला है। शिलालेखों के आधार पर यही प्रतीत होता है कि अपने पचासवें वर्ष में माधव को हरिहर की संगति प्राप्त हो गई थी। हरिहर की मृत्यु के अनन्तर ये महाराज बुक्क के प्रधान मन्त्री के पद को सुशोभित करने लगे। बुक्क के ही शासनकाल में उनके प्रोत्साहन से माधव ने अपने समस्त ग्रन्थों की रचना की। 'कुलगुरुर्मन्त्री तथा माधव' से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये बुक्क के मन्त्री होने के अतिरिक्त उनके कुलगुरु भी थे। बुक्क महाराज की माधवकृत प्रशस्त प्रशंसाओं से इनका इस भूपाल के प्रति विशेष आदर तथा अनुराग प्रकट होता है। बुक्क की भी इनके ऊपर विशेष भक्ति थी। वि० स० १४१३ (१३५६ ई०) में माधव काशीपुरी में विराजमान थे। उस समय बुक्क ने इन्हें काशी से विरूपाक्ष (विजयनगर) लौट आने के लिए एक पत्र लिखा[1]। इसी पत्र के साथ राजा ने माधव के पूज्य गुरु विद्यातीर्थ के इस आशय के पत्र को भी भेजा। फलत. माधव अपने गुरु विद्यातीर्थ तथा आश्रयदाता की इच्छा के अनुसार काशी से लौट आए। कुछ काल के उपरान्त बुक्क विद्यारण्य के साथ शृंगेरी गए जहाँ पर इन्होंने अपने गुरु के नाम से दान दिया[2]। वि० सं० १४२५ (सन् १३६८) के एक शिलालेख में माधव बुक्क के मन्त्री कहे गए हैं, जिससे उस साल में इनका मन्त्री होना प्रमाणित होता है। बुक्क के शासनकाल के अन्तिम भाग में माधव ने सन्यास ग्रहण किया। वि० सं० १४३५ (सन् १३७९) का एक दान विद्यारण्य की आज्ञा से किया गया मिलता है। इसके एक वर्ष पहले के वि० स० १४३४ (सन् १३७७ ई०) के शिलालेख में भी इनके नाम

---

[1] मैसूर पुरातत्त्व रिपोर्ट १९१६ पृ ५७
[2] वही पृ० ५७,

का उल्लेख पाया जाता है। बुक्क की मृत्यु वि० सं० १४३६ ई० सं० १३७६ में हुई। अतः अपने आश्रयदाता की मृत्यु के दो चार साल पहले ही माधव ने प्रधानमन्त्री के पद से अवकाश ग्रहण कर लिया था तथा गृहस्थाश्रम को छोड़ कर विद्यारण्य के नाम से संन्यासी बन गए थे। हमारी गणना के अनुसार लगभग अस्सी वर्ष की उम्र में—अपने जीवन के सान्ध्य काल में—माधवचार्य संन्यासी हुए। अतः पचास से लेकर अस्सी वर्ष तक माधव के विजयनगराधिपतियों के मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित होने की घटना अनुमानसिद्ध है। तीस वर्षों तक—और सो भी वृद्धावस्था में—राज्यकार्य का सुचारु सम्पादन करना माधव की विशिष्ट राजनीतिज्ञता तथा अदम्य उत्साह का परिचायक है। इनके मायण नामक पुत्र का उल्लेख शिलालेख में मिलता है। इनका गार्हस्थ्य जीवन नितान्त सुखकर प्रतीत होता है।

शृंगेरी के अध्यक्ष माधव—माधव ने स्वामी भारती (कृष्ण) तीर्थ से संन्यासदीक्षा ली थी। ये शृंगेरी मठ के पूज्य अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित थे। शृंगेरी मठ के आचार्यों के विवरण के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि भारतीतीर्थ की ब्रह्मप्राप्ति १४३७ वि० सं० ई० सन् १३८० में हुई[1]। इसी वर्ष के महाराज हरिहर द्वितीय के—शृंगेरी ताम्रपत्रों में विद्यारण्य की विपुल प्रशंसा की गयी है। जान पड़ता है कि इसी वर्ष विद्यारण्य को शृंगेरी की गद्दी मिली थी। इस प्रकार अपने जीवन के अन्तिम छः वर्षों को विद्यारण्य ने इस पूजनीय पीठ के माननीय आचार्य पद पर रह कर बिताया। वि० सं० १४३७ के पहले ये कतिपय वर्षों तक भारती तीर्थ के सङ्ग में शृंगेरी में निवास करते थे। जान पड़ता है कि 'पञ्चदशी', 'वैयासिक न्यायमाला' आदि प्रसिद्ध वेदान्त ग्रन्थों की (जिनके लेखक के रूप में गुरु और शिष्य दोनों के नाम सम्मिलित ही मिलते हैं) रचना इसी काल में की गई होगी। भारतीतीर्थ की अध्यक्षता में विरचित विद्यारण्य के ग्रन्थों में गुरु का नाम मिलना नितान्त उपयुक्त ही प्रतीत होता है। इस समय भी विद्यारण्य के ऊपर महाराज हरिहर द्वितीय की श्रद्धा तथा भक्ति कम नहीं थी। हरिहर ने अपने श्रद्धा भाव का प्रदर्शन अनेक शिलालेखों में किया है। वि० स० १४४१ (सन् १३८४ ई०) के ताम्रपत्रों में लिखा है कि हरिहर ने विद्यारण्य मुनि के अनुग्रह से अन्य नरेशों से अप्राप्य ज्ञान साम्राज्य को पाया इसके दूसरे वर्ष वि० सं० १४४२ (१३८५ में) हरिहर द्वितीय के पुत्र कुमार चिक्कराय ने, जो रियासत का शासक था, विद्यारण्य स्वामी को भूदान दिया। इसके अगले वर्ष १४४३ वि० सं० में नब्बे साल की उम्र में विद्यारण्य की मृत्यु हुई और अपने श्रद्धाभाजन गुरु की ब्रह्मप्राप्ति के उपलक्ष्य में इसी साल हरिहर ने शृंगेरी मठ को भूमिदान दिया। हरिहर के इसी वर्ष के अन्य एक शिलालेख में नारायणभूत विद्यारण्य की विशेष प्रशंसा की गई है जिसमें विद्यारण्य को वे त्रिदेवों—ब्रह्मा विष्णु, महेश—से बढ़कर साक्षात् ज्योतिः

[1] हेरास : विजय नगर हिस्ट्री पृ० ३५, टिप्पणी २

स्वरूप बतलाया गया है[1]। इन सब प्रामाणिक उल्लेखों से गार्हस्थ्य जीवन की भाँति माधव का संन्यासी जीवन भी महान् तथा विशिष्ट प्रतीत होता है। इनके जीवन-चरित का अध्ययन यही प्रमाणित करता है कि ये अपने समय के एक दिव्य विभूति थे जिसमें आधिभौतिक शक्तियों के समान ही आध्यात्मिक शक्तियों का भी विशद विकास हुआ था। इस शक्तिद्वय के सहारे इन्होंने तत्कालीन दक्षिण भारत को भौतिक उन्नति तथा धार्मिक जागृति की ओर पर्याप्त मात्रा में फेरा तथा इस महान् कार्य में इन्हें विशेष सफलता भी प्राप्त हुई।

विद्यारण्य के विषय में विद्वानों ने बड़ा विचार किया है। इनके व्यक्तित्व के विषय में अनुसन्धानकर्त्ताओं में पर्याप्त मतभेद हैं। ऊपर विद्यारण्य तथा माधव एक ही अभिन्न व्यक्ति माने गये हैं। जिन आधारों पर यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है उनका संक्षिप्त निर्देश यहाँ किया जा रहा है।

१—नृसिंह सूर्य ने अपनी 'तिथि प्रदीपिका' में लिखा है कि विद्यारण्य यतीन्द्र आदि अनेक विद्वानों ने काल का निर्णय किया है।

अनन्ताचार्यवर्येण मन्त्रिणा मल्लिगल्लुना।
विद्यारण्ययतीन्द्राद्यैर्निर्णीतः कालनिर्णयः॥
अनिः शेपीकृतस्तैश्च मम विष्णुा कियान् कियान्।
तमहं सुस्फुटं वक्ष्ये प्यारता गुरुपदाम्बुजम्॥

यह कालनिर्णय ग्रन्थ माधवाचार्य की कृति है। अतः इन ग्रन्थकार को माधव तथा विद्यारण्य की अभिन्नता स्वीकृत है।

२—नरसिंह नामक किसी ग्रन्थकार ने (जो १३६० से लेकर १४३५ तक विद्यमान थे) अपने प्रयोग पारिजात में विद्यारण्य को 'काल निर्णय' (प्रसिद्ध नाम कालमाधव) का कर्ता लिखा है। श्री मद्विद्यारण्यमुनीन्द्रैः कालनिर्णये प्रतिपादिते प्रकारः प्रदर्श्यते (प्रयोग पारिजात, निर्णय सागर पृ० ४११)

३—मित्र मिश्र ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'वीर मित्रोदय' (१६ वीं शताब्दी) में विद्यारण्य को 'पराशर स्मृति व्याख्या' का लेखक लिखा है। यह ग्रन्थ वस्तुतः माधवाचार्य की रचना है। इसलिए इसका प्रसिद्ध नाम 'पराशर माधव' है।

४—रङ्गनाथ ने अपने 'व्याससूत्रवृत्ति' को विद्यारण्यकृत श्लोकों के आधार पर लिखा गया माना है।

विद्यारण्यकृतैः श्लोकैर्नृसिंहाश्रयसूक्तिभिः
संदृब्धा व्याससूत्राणां वृत्तिर्भाष्यानुसारिणी॥

इस श्लोक में माधवरचित वैयासिक 'न्यायमाला विस्तर' का स्पष्ट संकेत है।

५—प्रसिद्ध विद्वान् अहोपल पण्डित माधव के भागिनेय थे। उन्होंने तेलगू

---

[1] विशेष के लिए द्रष्टव्य विद्यारण्य विषयक प्रस्तुतकार का लेख। हरिऔध अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० १४१-१५७।

भाषा का एक बड़ा व्याकरण संस्कृत में लिखा है। इसी ग्रन्थ में उन्होंने 'माधवीया धातुवृत्ति' को विद्यारण्य की रचना बतलाया है[1]। अहोबल पण्डित का यह कथन बड़े महत्त्व का है। इसमें जो घटनाएँ विद्यारण्य के सम्बन्ध में कही गई हैं वे सब माधव से सम्बद्ध हैं। विद्यानगरी (विजयनगर) में हरिहर राय को सार्वभौम पद (चक्रवर्ती) देने का गौरव विद्यारण्य को दिया गया है। यह घटना माधवाचार्य के साथ इतनी सुश्लिष्ट है कि इसके निर्देशमात्र से विद्यारण्य माधव से अभिन्न ही सिद्ध हो रहे हैं। एक बात और भी है। माधव अहोबल पण्डित के मामा थे, अतः भानजे का अपने मामा के विषय में उल्लेख प्रामाणिक तथा आदरणीय अवश्य माना जायगा।

६—पञ्चदशी की रचना विद्यारण्य तथा भारतीतीर्थ ने मिलकर की यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसीलिए रामकृष्ण भट्ट ने पञ्चदशी टीका के आरम्भ में तथा अन्त में इन दोनों का नाम सम्मिलित रूप से उल्लिखित किया है[2]। ये रामकृष्ण विद्यारण्य के साक्षात् शिष्य थे। माधव के गुरुओं में भारतीतीर्थ अन्यतम थे इसका परिचय हमें माधव के ग्रन्थों से भली भाँति मिलता है। जैमिनिन्यायमाला विस्तर में तथा कालमाधव में इनका स्मरण किया गया है। इस सम्मिलित उल्लेख से यह स्पष्ट है कि रामकृष्ण की सम्मति में विद्यारण्य ही माधवाचार्य थे।

७—विजयनगर के राजा द्वितीय बुक्क के समय में चौण्डपाचार्य नामक विद्वान् ने 'प्रयोगरत्नमाला' (आपस्तम्ब अध्वरतन्त्र व्याख्या) नामक कर्मकाण्ड की पुस्तक बनाई है। चौण्डपाचार्य ने स्वामी विद्यारण्य के मुँह से इस अध्वरतन्त्र की व्याख्या सुनी थी, और उसी व्याख्यान के अनुसार उन्होंने इस ग्रन्थ की टीका लिखी। ग्रन्थारम्भ में विद्यारण्य के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया[3]

---

[1] वेदानां भाष्यकर्ता विवृतमुनिवचा धातुवृत्तेर्विधाता।
प्रोद्यद्विद्यानगर्यां हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी॥
वाणी नीलाहिवेणी सरसिजनिलया किङ्करीतिप्रसिद्धा।
विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभवदखिलगुरुः शङ्करो वीतशङ्कः॥

[2] नत्वा श्री भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ।
मयाऽद्वैतविवेकस्य क्रियते पदयोजना॥
इति श्री परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्यकिङ्करेण श्री रामकृष्ण विदुषा विरचित पददीपिका ......

[3] पदवाक्यप्रमाणानां पारदृश्वा महामतिः।
षाड्गुण्यवेत्ता रहस्यज्ञो ब्रह्मविद्यापरायणः॥
वेदार्थविशदीकर्ता वेदवेदाङ्गपारवित्।
विद्यारण्ययतिश्रेष्ठः श्रौतस्मार्तक्रियापरे॥
देखिए Sources of Vijayanagar History में उद्धृत प्रयोगरत्नमाला के वचन।

है उनका स्वारस्य माधव विद्यारण्य की एकता के कारण ही जमता है। 'वेदार्थ विशदीकर्ता' स्पष्ट बतला रहा है कि वेदों में भाष्यनिर्माण में कारणभूत माधवाचार्य ही विद्यारण्य थे। इस समसामयिक ग्रन्थकार की सम्मति में दोनों व्यक्ति अभिन्न थे, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

८—१३८६ ई० के एक ताम्रपत्र से जाना जाता है कि वैदिक मार्ग प्रतिष्ठापक तथा धर्म ब्रह्माध्वन्य (धर्म तथा ब्रह्म के मार्ग पर चलने वाले) विजयनगराधीश श्रीहरिहर द्वितीय ने चारों वेदों के भाष्यों के प्रवर्तक तीन पण्डितों को (जिनके नाम हैं—नारायण, वाजपेययाजी, नरहरिसोमयाजी तथा पण्ढरि दीक्षित) विद्यारण्य श्रीपाद के समक्ष में अग्रहार दान दिया। इस शासन-पत्र में विद्यारण्य स्वामी का उल्लेख बड़े महत्व का है। यह तो हम जानते हैं कि वेद भाष्य की रचना से माधवाचार्य का बहुत ही सम्बन्ध है। क्योंकि उनका ही आदेश पाकर सायण ने वेदभाष्यों का निर्माण किया था। बहुत सम्भव है कि हरिहर ने इन्हीं के कहने पर इन तीनों पण्डितों को पुरस्कृत किया होगा। जिन वेदभाष्यों की रचना में माधव का इतना अधिक हाथ था, उनके प्रवर्तकों को उनके समक्ष में पुरस्कार देना स्वाभाविक तथा उचित प्रतीत होता है। इस उल्लेख से माधव ही विद्यारण्य प्रतीत होते हैं। यदि विद्यारण्य माधव से भिन्न व्यक्ति होते तो उनके सामने इस पुरस्कार के दान को क्या आवश्यकता थी। इन्हीं प्रबल प्रमाणों के आधार पर विद्यारण्य को सायण के ज्येष्ठ भ्राता माधव से अभिन्न मानना इतिहास सम्मत तथा सम्प्रदायानुकूल है।

माधव मंत्री

माधव के समकालीन माधवमन्त्री भी एक अन्य प्रसिद्ध व्यक्ति थे। कभी कभी इन दोनों को एकता मानने से बड़ी गड़बड़ी होती है। नाम की समता होने पर भी आचार्य माधव अमात्य माधव से भिन्न व्यक्ति हैं। ये माधव मन्त्री विजयनगर के महाराजा हरिहर प्रथम के अनुज मारप्प व मन्त्री थे। ये मारप्प पश्चिमी समुद्र के तीरस्थ प्रदेशों के शासक थे। महाराज बुक्कराय प्रथम तथा उनके पुत्र हरिहर द्वितीय के समय में भी माधव मन्त्री का काम करते रहे। ये केवल विज्ञ शासक ही नहीं थे परन्तु बड़े भारी योद्धा तथा शत्रुमानमर्दनकारी वीर पुरुष थे। शिलालेखों में ये 'भुवनैकवीर' कहे गये हैं और ठीक ही कहे गये हैं क्योंकि अपरान्त (कोङ्कण बम्बई प्रान्त) को जीतकर मन्दिरों तथा मूर्तियों को छिन्न भिन्न करने वाले तुरुष्कों को (मुसलमान) माधव मन्त्री ने परास्त कर जिस शौर्य का परिचय दिया वह विजयनगर के इतिहास में एक श्लाघनीय व्यापार था[1]। इसी के उपलक्ष्य में

[1] आसान्तर्विश्रान्तयशा स मन्त्री द्विषो जितं पुर्मदता बलेन ।
गोवाभिधां कोङ्कणराजधानीमन्येनऽन्यतरवर्णितेन ॥
प्रतिष्ठितांस्तत्र तुरुष्कवृन्दान् उत्पाट्य दोष्णा भुवनैकवीर ।
उन्मूलितानामकरोत् प्रतिष्ठां श्रीसप्तनाथादिसुधाभुजां यः ॥

बुक्कराय ने इनको बनवासी प्रान्त का शासक नियुक्त किया था। ये विद्वान् भी थे। 'सूतसंहिता' को (जो स्कन्द पुराण के अन्तर्गत दार्शनिक सिद्धान्तों से ओतप्रोत प्रसिद्ध भाग है) 'तात्पर्य दीपिका' नामक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी[1] जिससे इनके विस्तृत अध्ययन का भलीभाँति परिचय मिलता है। इन्हीं माधव मन्त्री के धीरतामय कार्य कभी कभी स्वामी विद्यारण्य के ऊपर आरोपित किए जाते हैं। परन्तु यह आरोप नितान्त भ्रान्त है। इसका परिचय निम्नलिखित तालिका से भलीभाँति चलता है—

नाम	माधवाचार्य	माधवमन्त्री
गोत्र	भारद्वाज	आङ्गिरस
पिता	मायण	चौण्डय
माता	श्रीमती	माचाम्बिका
भ्राता	सायण भोगनाथ	×
गुरु	विद्यातीर्थ भारतीतीर्थ श्रीकण्ठ	काशीविलास क्रियाशक्ति
ग्रन्थ	पराशर माधव आदि	तात्पर्य दीपिका (सूत संहिता की टीका)
मृत्यु वर्ष	१३८७ ई०	१३९१ ई०

विद्यारण्य के ग्रन्थ—शृंगेरी के पीठ पर आरूढ़ होने से पहले उन्होंने धर्मशास्त्र और मीमांसा के ग्रन्थों की रचना की। सन्यास लेने पर अद्वैत वेदान्त पर ही इन्होंने ग्रन्थ लिखे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

१. **जैमिनिन्यायमालाविस्तर**—यह ग्रन्थ मीमांसा-दर्शन के अधिकरणों के विषय में है। कारिकाओं के द्वारा अधिकरणों का स्वरूप भलीभाँति समझाया गया है।

२. **पराशरमाधव**—यह पराशर संहिता के ऊपर एक बृहत्काय भाष्य है। धर्मशास्त्र के समस्त ज्ञातव्य विषयों का इस निबन्ध में विस्तृत प्रतिपादन है।

---

[1] श्रीमत्काशीविलासाख्यक्रियाशक्तीशसेविना ।
श्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवानिष्णातचेतसा ॥
वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमन्माधवमन्त्रिणा ।
तात्पर्यदीपिका सूतसंहिताया विधीयते ॥

(आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना)

३. कालमाधव—'काल निर्णय' इसी का दूसरा नाम है। तिथियों के निरूपण के लिए यह ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक तथा उपादेय समझा जाता है।

वेदान्त ग्रन्थ—(१) अनुभूति प्रकाश—उपनिषदों की व्याख्या सरल सुबोध श्लोकों में सुन्दर ढंग से की गई है। (२) जीवन्मुक्ति विवेक—संन्यासियों के समस्त धर्मों का निरूपण इसमें किया गया है। इस विषय की अत्यन्त उपादेय पुस्तक है। (३) विवरणप्रमेयसंग्रह—पञ्चपादिका विवरण के ऊपर यह प्रमेय प्रधान ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त में उच्च कोटि का माना जाता है। (४) बृहदारण्यकवार्त्तिकसार—आचार्य शङ्कर के बृहदारण्यक भाष्य पर सुरेश्वराचार्य ने जो विशालकाय वार्त्तिक लिखा है उसी का संक्षेप श्लोकों में यहाँ दिया गया है। इन उच्चकोटि के ग्रन्थों के अतिरिक्त विद्यारण्य की सर्वाधिक जनप्रिय रचना 'पञ्चदशी' है जिसमें अद्वैत वेदान्त के तथ्यों का प्रतिपादन सुबोध श्लोकों में रोचक दृष्टान्तों के सहारे बड़े ही अच्छे ढंग से किया गया है।

शारदापीठ

इस पीठ के आदि आचार्य हस्तामलक थे। तब से लेकर आज तक यह पीठ कभी विच्छिन्न नहीं हुआ, सदा कोई न कोई आचार्यपीठ पर विराजमान था। इसलिए यहाँ मठाम्नाय विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यहाँ के आचार्यों की नामावली यहाँ दी जा रही है। बहुत उद्योग करने पर भी उनके जीवनवृत्त का परिचय नहीं मिला। द्वारिकापुरी में ही इस मठ का प्रधान स्थान था। समय समय पर इधर उधर स्थान बदलता भी रहा। बड़ौदा राज्य के हस्तक्षेप करने के कारण यहाँ की स्थिति सुधरने की अपेक्षा बिगड़ती ही गयी है। मूल अधिपति कोई दूसरा है और बड़ौदा सरकार किसी दूसरे को ही शङ्कराचार्य उद्घोषित करती है। धार्मिक जगत् में राजाओं का इस प्रकार हस्तक्षेप करना नितान्त अनुचित है। इस मठ के अध्यक्ष राजराजेश्वराश्रम का अभी कुछ दिन हुए देहान्त हुआ है। ये वृद्ध थे तथा मठ के इतिहास से परिचित थे।

शारदा पीठ

	आचार्य नाम				
१.	सुरेश्वराचार्य	४२	चैत्र कृष्ण ८	२६६१ यु० सं०	
२.	चित्सुखाचार्य	२४	पौष शुक्ल ३	२७१५	,,
३.	सर्वज्ञानाचार्य	५६	श्रावण शुक्ल ११	२७७४	,,
४.	ब्रह्मानन्द तीर्थ	४६	श्रावण शुक्ल १	२८२३	,,
५.	स्वरूपाभिज्ञानाचार्य	६७	ज्येष्ठ कृष्ण १	२८६०	,,

६	मङ्गलमूर्त्याचार्य	५२	पौष शुक्ल	१४	२६४२	युः सं०
७.	भास्कराचार्य	२१	पौष शुक्ल	१२	२६६५	"
८.	प्रज्ञानाचार्य	४१	आषाढ़ शुक्ल	७	३००८	"
९.	ब्रह्मज्योत्स्नाचार्य	३२	चैत्र कृष्ण	४	३०४०	"
१०.	आनन्दाविर्भावाचार्य	×	फाल्गुन शुक्ल	६	६	विक्रम संवत
११.	कलानिधि तीर्थ	७३	पौष शुक्ल	६	८२	"
१२.	चिद्विलासाचार्य	३७	मार्गशीर्ष शुक्ल	१३	११६	"
१३.	विभुत्यानन्दाचार्य	३५	श्रावण कृष्ण	११	१५४	"
१४.	स्फुर्तिनिलयपाद	४६	आषाढ़ शुक्ल	६	२०३	"
१५.	वरतन्तुपाद	५६	आषाढ़ कृष्ण	३	२५६	"
१६.	योगारूढाचार्य	१०१	मार्गशीर्ष कृष्ण	११	३६०	"
१७.	विजयडिण्डिमाचार्य	३४	पौष कृष्ण	८	३६४	"
१८.	विद्यातीर्थ	४१	चैत्र शुक्ल	१	४३७	"
१९.	चिच्छक्तिदेशिक	१	आषाढ़ शुक्ल	१२	४३८	"
२०.	विज्ञानेश्वरी तीर्थ	७३	आश्विन शुक्ल	१५	५११	"
२१.	ऋतंभराचार्य	६१	माघ शुक्ल	१०	५७२	"
२२.	अमरेश्वर गुरु	३६	भाद्रपद	६	६०८	"
२३.	सर्वतोमुख तीर्थ	६१	पौष शुक्ल	४	६६९	"
२४.	आनन्ददेशिक	५२	वैशाख कृष्ण	५	७२१	"
२५.	समाधिरसिक	७८	फाल्गुन शुक्ल	१२	७९९	"
२६.	नारायणाश्रम	३७	चैत्र शुक्ल	१४	८३६	"
२७.	वैकुण्ठाश्रम	४९	आषाढ़ कृष्ण	६	८८५	"

२८. विक्रमाश्रम	×	आषाढ़ शुक्ल ३	६११	वि॰ सं०
२६. नृसिंहाश्रम	×	ज्येष्ठ कृष्ण १४	६६०	"
३०. अम्बाश्रम	५	वैशाख " १५	६६५	"
३१. विष्णवाश्रम	३६	ज्येष्ठ शुक्ल १	१००१	"
३२. केशवाश्रम	५६	माघ कृष्ण ५	१००६	"
३३. चिदम्बराश्रम	२३	मार्गशीर्ष कृष्ण ६	१०८३	"
३४. पद्मनाभाश्रम	१८	ज्येष्ठ शुक्ल १५	११०६	"
३५. महादेवाश्रम	७५	श्रावण कृष्ण ६	११८४	"
३६. सच्चिदानन्दाश्रम	२३	आश्विन कृष्ण ५	१२०७	"
३७. विद्याशंकराश्रम	५८	" " ४	१२६५	"
३८. अभिनवसच्चिदानन्दाश्रम	२८	वैशाख शुक्ल ६	१२६३	"
३६. शशिशेखराश्रम	३३	" " १	१३२६	"
४०. वासुदेवाश्रम	३६	फाल्गुन कृष्ण १०	१३६२	"
४१. पुरुषोत्तमाश्रम	३२	माघ कृष्ण ५	१३६४	"
४२. जनार्दनाश्रम	१४	भाद्रपद शुक्ल १५	१४०८	"
४३. हरिहराश्रम	३	श्रावण शुद्ध ११	१४११	"
४४. भवाश्रम	१०	वैशाख कृष्ण ५	१४११	"
४५. ब्रह्माश्रम	१५	आषाढ़ शुक्ल ६	१४३६	"
४६. वामनाश्रम	१७	चैत्र कृष्ण १२	१४५१	"
४७. सर्वज्ञाश्रम	३६	" " ८	१४८६	"
४८. प्रद्युम्नाश्रम	६	" शुक्ल ६	१४६५	"
४६. गोविन्दाश्रम	२८	ज्येष्ठ कृष्ण ४	१५१३	"

५०. चिदाश्रम	५३	फाल्गुन शुक्ल २	१५७६	,,
५१ विश्वेश्वराश्रम	३३	माघ ,, १	१६०८	,,
५२. दामोदराश्रम	७	चैत्र कृष्ण ५	१६१५	,,
५३. महादेवाश्रम	२	,, शुक्ल १	१६१६	,,
५४. अनिरुद्धाश्रम	६	माघ कृष्ण ४	१६२५ वि० सं०	
५५. अच्युताश्रम	४	श्रावण कृष्ण ६	१६२६	,,
५६. माधवाश्रम	३६	माघ कृष्ण ४	१६६५	,,
५७. अनंताश्रम	५१	चैत्र शुक्ल ११	१७१६	,,
५८. विश्वरूपाश्रम	५	श्रावण कृष्ण २	१७२१	,,
५९. चिद्घनाश्रम	५	माघ शुक्ल ६	१७२६	,,
६०. नृसिंहाश्रम	६	वैशाख ,, ४	१७३५	,,
६१. मनोहराश्रम	३६	भाद्रपद ,, ६	१७६१	,,
६२. प्रकाशानन्द सरस्वती	३४	आश्विन कृष्ण ६	१७९५	,,
६३. विशुद्धाश्रम	४	वैशाख ,, १५	१७९९	,,
६४. वामनेन्द्राश्रम	३२	श्रावण शुक्ल ६	*१८३१	,,
६५. केशवाश्रम	७	कार्तिक कृष्ण ६	१८३८	,,
६६. मधुसूदनाश्रम	१०	माघ शुक्ल ५	१८४८	,,
६७. हयग्रीवाश्रम	१४		१८६२	,,
६८. प्रकाशाश्रम	१		१८६३	,,
६९. हयग्रीवानन्द सरस्वती	११		१८७४	,,
७०. श्रीधराश्रम	४०		१९१४	,,
७१. दामोदराश्रम	१४		१९२८	,,

७२. केशवाश्रम	७	अश्विन कृ० ७ भृगुवार	१६३५	,,
७३. राजराजेश्वर शंकराश्रम	२२	आषाढ़ शुक्ल ५	१६५७	,,
७४. माधवतीर्थ	१५	भाद्रपद अमावस्या	१६७२	,,
७५. शान्त्यानन्द सरस्वती				

गोवर्धनमठ

इस मठ का मूल स्थान जगन्नाथ पुरी है। आचार्य ने पद्मपादाचार्य को इसका प्रथम अधिपति बनाया था। उन्हीं से यहाँ की आचार्यपरम्परा आरम्भ होती है। आचार्यों के नाम श्लोकबद्ध रूप में मिले हैं जो नीचे दिये जा रहे हैं। इनका जीवनचरित उपलब्ध नहीं हो सका। आजकल यहाँ के अध्यक्ष भारतीकृष्ण तीर्थ जी हैं। ये संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के अच्छे विद्वान हैं। ये बड़े अच्छे वक्ता भी हैं। इस मठ की पर्याप्त प्रतिष्ठा है। बीच में यहाँ की आचार्य—परम्परा कुछ उच्छिन्न सी रही है। आचार्यों के नाम श्लोकबद्ध रूप में इस प्रकार हैं।

माधवस्य सुतः श्रीमान् सनन्दन इति श्रुतः।
प्रकाशब्रह्मचारी च ऋग्वेदः सर्वशास्त्रवित्। १७।
श्रीपद्मपादः प्रथमाचार्य्यत्वेनाभ्यषिच्यत।
श्रीमत्परमहंसादिभिरुदैरखिलैः सह। १८।
अङ्गवङ्गकलिङ्गाश्च मगधोत्कलबर्व्वराः।
गोवर्द्धनमठाधीनाः कृताः प्राच्यव्यवस्थिताः। १९।
तस्मिन् गोवर्द्धनमठे शङ्कराचार्य्यपीठगान्।
जगद्गुरुन् क्रमाद् वक्ष्ये जन्ममृत्युनिवृत्तये। २०।
पद्मपादः शूलपाणिस्ततो नारायणाभिधः।
विद्यारण्यो वामदेवः पद्मनाभाभिधस्ततः। २१।
जगन्नाथः सप्तमः स्यादष्टमो मधुरेश्वरः।
गोविन्दः श्रीधरस्वामी माधवानन्द एव च। २२।
कृष्णब्रह्मानन्दनामा रामानन्दाभिधस्ततः।
वागीश्वरः श्रीपरमेश्वरो गोपालनामकः। २३।
जनार्दनस्तथा ज्ञानानन्दश्चाष्टादशः स्मृतः।
मध्यकाले स्थितानेतानाचार्याख्यान्नमाम्यहम्। २४।
अथ तीर्थाभिधान् श्रीमद्गोवर्द्धनमठे स्थितान्।
अस्मदाचार्य्यपर्य्यन्तान् गुरुन्नाम्ना स्मराम्यहम्। २५।
एकोनत्रिंश आचार्यो बृहदारण्यतीर्थकः।
महादेवोऽथ परमब्रह्मानन्दस्ततः स्मृतः। २६।
रामानन्दस्ततो ज्ञेयस्त्रयोविंशः सदाशिवः।

ईश्वरानन्दतीर्थो बोधानन्दस्ततः परम् । २७ ।
श्रीरामकृष्णतीर्थोऽथ चिद्बोधात्माभिधस्ततः ।
तत्त्वाचारमुनिः पश्चाद्दुनातिशस्तु शङ्करः ॥ २८ ॥
श्रीवासुदेवतीर्थश्च हयग्रीव श्रुतीश्वरः ।
विद्यानन्दस्त्रयोत्रिंशो मुकुन्दानन्द एव च ॥ २९ ॥
हिरण्यगर्भतीर्थश्च नित्यानन्दस्ततः परम्
सप्तत्रिंशः शिवानन्दो योगीश्वरसुदर्शनौ ॥ ३० ॥
अथ श्रीव्योमकेशाख्यो ज्ञेयो दामोदरस्ततः
योगानन्दाभिधस्तीर्थो गोलकेशस्ततः परम् ॥ ३१ ॥
श्रीकृष्णानन्दतीर्थश्च देवानन्दाभिधस्तथा
चन्द्रचूडाभिधः षट्चत्वारिंशोऽथ हलायुधः ॥ ३२ ॥
सिद्धसेव्यस्तारकात्मा ततो बोधाञ्जनाभिधः
श्रीधरो नारायणश्च ज्ञेयश्चान्यः सदाशिवः । ३३ ।
जयकृष्णो विरूपाक्षो विद्यारण्यस्तथापरः
विश्वेश्वराभिधस्तीर्थो विबुधेश्वर एव च ॥ ३४ ॥
महेश्वरस्तु नवषष्टितमोऽथ मधुसूदनः
रघूत्तमो रामचन्द्रो योगीन्द्रश्च महेश्वरः ॥ ३५ ॥
ओङ्काराख्यः पञ्चषष्टितमो नारायणोऽपरः
जगन्नाथः श्रीधरश्च रामचंद्रस्तथापरः ॥ ३६ ॥
अथ वामकतीर्थः स्यात् तत उमेश्वर स्मृतः
उद्दण्डतीर्थश्च ततः सङ्कर्षणजनार्दनौ ॥ ३७ ॥
अखण्डात्माभिधस्तीर्थः पञ्चसप्ततिसंख्यकः
दामोदरः शिवानन्दस्ततः श्रीमद्गदाधरः ॥ ३८ ॥
विद्याधरो वामनश्च ततः श्रीशङ्करोऽपरः
नीलकण्ठो रामकृष्णस्तथा श्रीमद्रघूत्तमः ॥ ३९ ॥
दामोदरोऽन्यो गोपालः षडशीतितमो गुरुः
मृत्युञ्जयोऽथ गोविन्दो वासुदेवस्तथाऽपरः ॥ ४० ॥
गङ्गाधराभिधस्तीर्थ स्ततः श्रीमत् सदाशिवः
वामदेवश्चोपमन्युर्हयग्रीवो हरिस्तथा ॥ ४१ ॥
रघूत्तमाभिधस्त्वन्यः पुण्डरीकाक्ष एव च
परशंकरतीर्थश्च शतादूनः प्रकथ्यते ॥ ४२ ॥
वेदगर्भाभिधस्तीर्थस्ततो वेदान्तभास्करः
रामकृष्णाभिधस्त्वन्यत् चतुःशततमो मतः
वृषध्वजः शुद्धबोधस्ततः सोमेश्वराभिधः ॥ ४४ ॥
अष्टोत्तरशततमो बोपदेवः प्रकीर्तितः
शम्भुतीर्थो भृगुश्चाथ केशवानन्दतीर्थकः ॥ ४५ ॥

विद्यानन्दाभिधस्तं श्री वेदानन्दाभिधस्ततः
श्रीलोधानन्दतीर्थश्च सुतपानन्द एव च । ४६ ।
ततः श्रीधरतीर्थोऽन्यस्तथा चान्यो जनार्दनः
कामनाशानन्दतीर्थः शतमष्टादशाधिकम् ॥ ४७ ॥
ततो हरिहरानन्दो गोपालाख्योऽपरस्ततः
कृष्णानन्दाभिधस्त्वन्यो माधवानंद एव च ॥ ४८ ॥
मधुसूदनतीर्थोऽन्यो गोविन्दोऽथ रघूत्तमः
वामदेवो हृषीकेशस्ततो दामोदरोऽपरः । ४६ ।
गोपालानन्दतीर्थश्च गोविन्दाख्योऽपरस्ततः
तथा रघूत्तमश्चान्यो रामचन्द्रस्तथापरः । ५० ।
गोविन्दो रघुनाथश्च रामकृष्णस्ततोऽपरः
मधुसूदनतीर्थश्च तथा दामोदरोऽपरः । ५१ ।
रघूत्तमः शिवो लोकनाथो दामोदरस्ततः
मधुसूदनतीर्थाख्यस्ततः आचार्य्य उच्यते । ५२ ।
आजन्मब्रह्मचारी यो भाति गोवर्द्धने मठे
द्विचत्वारिंशदधिकशतसंख्यः धनन्दनात् ॥५३॥
श्रीमत्परमहंसादिनानाविरुदशोभितान्
तीर्थाभिधानिमान् सर्व्वान् गुरुन्नित्यं नमाम्यहम् । ५४ ।

ज्योतिर्मठ

यह आचार्य शङ्कर के द्वारा स्थापित मठों में चौथा मठ है। उत्तरी भारत के धार्मिक सुधार तथा व्यवस्था के लिए आचार्य ने बदरीनारायण के पास ही इस मठ की स्थापना की। बद्रीनाथ से यह स्थान २० मील दक्खिन है। साधारण लोग इसे जोशी मठ के नाम से पुकारते हैं। बद्रीनाथ के पुजारी रावल जी का यही स्थान है। अक्तूबर से लेकर अप्रैल तक अधिक शीत के कारण बद्रीनाथ का मन्दिर बन्द कर दिया जाता है तब वहाँ की चल प्रतिमा तथा अन्य वस्तुएँ इसी स्थान पर चली आती हैं। हमने दिखलाया है कि बद्रीनाथ की पूजा-अर्चा में आचार्य शङ्कर का बहुत हाथ था। वर्तमान मूर्ति आचार्य के द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी, यही सच्चा ऐतिहासिक मत है। इस स्थान की पवित्रता अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इन्होंने इस मठ की स्थापना की।

इसके प्रथम अध्यक्ष हुए तोटकाचार्य जो शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्यों में अन्यतम थे। उनके अनन्तर होने वाले आचार्यों का नाम निम्नलिखित श्लोकों में मिलता है जिसे पर्वत के पण्डित लोग प्रातः स्मरणीय मानकर सदा याद रखते हैं :—

तोटको विजयः कृष्णः कुमारो गरुडध्वजः ।
विन्ध्यो विशालो वकुलो वामनः सुन्दरोऽरुणः ॥

श्रीनिवासः सुखानन्दो विद्यानन्दः शिवो गिरिः।
विद्याधरो गुणानन्दो नारायण उमापतिः॥
एते ज्योतिर्मठाधीशा आचार्याश्चिरजीविनः।
य एतान् संस्मरेन्नित्यं योगसिद्धिं स विन्दति॥

ये बीस आचार्य ज्योतिर्मठ के अध्यक्ष पद पर क्रमशः आरूढ़ होते आए। यदि एक आचार्य के लिए २० वर्ष का समय मान लिया जाय तो इन समग्र आचार्यों का समय ४०० वर्ष के आसपास निश्चित होता है, अर्थात् स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि इन आचार्यों का समय ७०० विक्रमी से लेकर ११०० विक्रमी तक था। इसके अनन्तर यह आचार्य परम्परा उच्छिन्न सी प्रतीत होती है। ४०० वर्ष तक किसी आचार्य का पता नहीं चलता। आरम्भ से ही बद्रीनाथ के पूजन-अर्चन का भार यहीं के संन्यासी महन्त के सुपुर्द था। जब से ज्योतिर्मठ का सम्बन्ध बदरीनाथ के मन्दिर के साथ है तब से मठ का अधिकारी संन्यासी मन्दिर का अधिकारी तथा पूजक भी रहता आ रहा है। १५०० सम्वत् के अनन्तर बदरीनाथ के महन्तों की नामावली मिलती है। इससे प्रतीत होता है कि ये ज्योतिर्मठ के भी अध्यक्ष थे। इससे पूर्व चार सौ वर्ष के अध्यक्षों का पूरा परिचय नहीं मिलता। इन अध्यक्षों की नामावली इस प्रकार है।—

नाम	सम्वत् पूजा में अधिकारी होने का	मृ० सं०	पूजा काल
१. बालकृष्णस्वामी	१५००	१५५७	५७
२. हरिब्रह्मस्वामी	१५५७	१५५८	१
३. हरिस्मरणस्वामी	१५५८	१५६६	८
४. वृन्दावनस्वामी	१५६६	१५६८	२
५. अनन्तनारायणस्वामी	१५६८	१५६९	१
६. भवानन्दस्वामी	१५६९	१५८३	१४
७. कृष्णानन्दस्वामी	१५८३	१५९३	१०
८. हरिनारायणस्वामी	१५९३	१६०१	८
९. ब्रह्मानन्दस्वामी	१६०१	१६२१	२०
१०. देवानन्द ” ”	१६२१	१६३६	१५
११. रघुनाथ ” ”	१६३६	१६६१	२५
१२. पूर्णदेव	१६६१	१६८७	२६
१३. कृष्णदेव	१६८७	१६९६	९
१४. शिवानन्द	१६९६	१७०३	७
१५. बालकृष्ण	१७०३	१७१७	१४
१६. नारायण उपेन्द्र ” ”	१७१७	१७५०	३३
१७. हरिश्चन्द्र ” ”	१७५०	१७६३	१३

१८. सदानन्द ,, ,,	१७६१	१७७३	१०
१६. केशवस्वामी	१७७३	१७८१	८
२०. नारायणतीर्थ स्वामी	१७८१	१८२३	४२
२१. रामकृष्णस्वामी	१८२३	१८३३	१०

यहाँ तक ज्योतिर्मठ और उसके साथ बदरीनाथ का मन्दिर दंडी स्वामियों के अधिकार में था। किन्तु इसके पश्चात् संन्यासियों के हाथ से निकलकर ब्रह्मचारी रावलों के हाथ में आ गया। घटना इस प्रकार हुई। १८३३ विक्रमी में रामकृष्ण स्वामी की मृत्यु के अनन्तर उनका कोई उत्तराधिकारी न था। उसी समय गढ़वालनरेश महाराज प्रदीपशाह यात्रा के लिए वहाँ पधारे। पुजारी के अभाव को देखकर महाराजा ने गोपाल नामक ब्रह्मचारी को (जो नम्बुद्री जाति का ब्राह्मण था तथा भगवान् के लिए भोग पकाता था) रावल की पदवी से विभूषित किया और छत्र-चँवर आदि आवश्यक उपकरणों के साथ उन्हें रामकृष्ण स्वामी के स्थान पर नियत किया। तब से मन्दिर का पूजन इन्हीं रावलों के हाथ है। आचार्य स्वयं केरल के नम्बुद्री ब्राह्मण थे। अतः उन्होंने अपने समय में अपनी ही जाति के ब्राह्मण को बदरीनाथ के पूजन-अर्चन के लिए नियुक्त किया। तब से रावल उसी जाति का होता आया है। इन रावलों का नाम देना आवश्यक है।

नाम	पूजाधिकार सम्वत्	मृत्यु सम्वत्	पूजाकाल
१. गोपालरावल	१८३३	१८४२	९
२. रामचन्द्र रामब्रह्म रघुनाथ रावल	१८४२	१८४३	१
३. नीलकन्त रावल	१८४३	१८४८	५
४. सीताराम ,, ,,	१८४८	१८५९	११
५. नारायण (प्रथम)	१८५९	१८७३	१४
६. नारायण (द्वितीय)	१८७३	१८९८	२५
७. कृष्ण ,, ,,	१८९८	१९०२	४
८. नारायण (तृतीय)	१९०२	१९१६	१४
९. पुरुषोत्तम ,, ,,	१९१६	१९५७	४१
१०. वासुदेव ,, ,,	१९५७	१९५८	१

(वासुदेव रावल को किसी कारण वश त्याग पत्र देना पड़ा था तब उनके अनन्तर नम्बुद्री रावल बनाये गये थे।

उनकी मृत्यु के अनन्तर यह पद वासुदेव रावल को ही फिर से प्राप्त हुआ इसी कारण उनका नाम दोबारा आया है)

११. रामा रावल	१९५८	१९६२	४
१२. वासुदेव ,, ,,	१९६२	१९....	...

...लों का सम्बन्ध बदरीनाथ के मन्दिर से ही प्रधानतया है। मठ से ...श्चात् कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मठ की गद्दी बहुत दिन तक खाली ही ...थी। हाल में ही काशी के एक विद्वान् स्वामी इस अध्यक्षपद पर प्रतिष्ठित किये गये हैं। इनका शुभनाम है स्वामी ब्रह्मानन्द जी। इनका अभिषेक यहीं काशी में सम्वत् १९९८ चैत्र शुक्ल चतुर्थी में निष्पन्न हुआ था। जब से ये पीठस्थ हुए हैं तब से इन्होंने धर्मोद्धार के कार्य में विशेष लगन दिखलायी है और वर्त्तमान धर्म संघ के विशिष्ट अधिवेशनों के प्रायः आप ही सभापति हो रहे हैं।

ज्योतिर्मठ बदरीनाथ के मन्दिर से २० मील दक्षिण अवस्थित है। इसकी ऊँचाई समुद्रतट से ६१०७ फीट है। धौली और विष्णुगंगा के संगम से १५०० फीट की ऊँचाई पर संगम से डेढ़ मील की दूरी पर अलकनन्दा के बाँएँ कूल पर है। विष्णुप्रयाग से यहाँ सीढ़ियों के मार्ग से जाया जाता है। रावल और दूसरे कर्मचारी नवम्बर से मई तक यहाँ रहते हैं। नृसिंह जी का मन्दिर यहाँ तब से प्रतिष्ठित है। इसके अतिरिक्त यहाँ कितने ही प्राचीन मन्दिर भी हैं। नृसिंह जी की मूर्त्ति का एक हाथ बहुत कृश है। इसके विषय में प्राचीन किम्वदन्ती है कि जब नृसिंह जी का हाथ टूटकर गिर जायगा तब नर नारायण पर्वत आपस में मिल जायँगे और तब बदरीनाथ का मार्ग अगम्य हो जायगा[१]। कुमारसंहिता में भी लिखा है कि जब तक विष्णुज्योति ज्योतिर्मठ में विद्यमान है तब तक बदरीनाथ का मार्ग बन्द नहीं होगा। परन्तु जब विष्णुज्योति यहाँ से अन्तर्हित हो जायगी तब मनुष्यों के लिए बदरीनाथ का मार्ग अगम्य हो जायगा। इस नृसिंह की मूर्त्ति को प्रतिदिन डेढ़ द्रोण (१ मन, आठ सेर) चावलों का भोग लगता है।

नृसिंह की मूर्त्ति के विषय में एक विचित्र दन्तकथा सुनी जाती है—

"इस प्रदेश के एक प्राचीन राजा का नाम वासुदेव था। उनके वंश में उत्पन्न होने वाले एक राजा यहाँ का शासन करता था। एक दिन की यह विचित्र घटना है कि जब वे शिकार खेलने के लिए जङ्गल में चले गये तब नृसिंह भगवान् मनुष्य का रूप धारण कर भोजन माँगने के लिए उनके महल में पधारे। रानी ने पर्याप्त भोजन दे कर उनका स्वागत किया। सन्तुष्ट होकर वे राजा की सेज पर लेट गये। शिकार से लौट आने पर राजा ने अपरिचित को अपनी सेज पर लेटा हुआ पाया। क्रुद्ध होकर उसने अपनी तलवार से हाथ पर वार किया परन्तु उस घाव से लोहू निकलने की जगह दूध बहने

---

[१]उपर्युक्त विशेष विवरण के लिए लेखक पण्डित हरिकृष्ण रतूड़ी का विशेष ऋणी है। द्रष्टव्य उनका 'गढ़वाल का इतिहास', गढ़वाली प्रेस देहरादून में मुद्रित, सम्वत् १९८५। पृष्ठ ५४—६०

यावद् विष्णोः कला तिष्ठेज्ज्योतिः संज्ञे निजालये।
गम्यं स्याद् बदरी क्षेत्रमगम्यं च ततः परम्॥

लगा। राजा चकित और विस्मित हुआ। इस पर नृसिंह ने अपने स्वरूप को प्रकट कर कहा 'मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। इसी लिए मैं दरबार में आया था। तुम्हारे अपराध का दण्ड यही है कि तुम इस ज्योतिर्धाम को छोड़ दो और 'कटियर' में जाकर अपना स्थान बनाओ। तुम्हारे मन्दिर की हमारी मूर्ति पर भी इस चोट का चिन्ह बना रहेगा और जब वह मूर्ति नष्ट हो जायगी और वह हाथ भी न रहेगा तो तुम्हारा कुटुम्ब भी उच्छिन्न हो जायगा, तथा बदरीनाथ के जाने का रास्ता भी बन्द हो जायगा। कालान्तर में धौली घाटी में तपोवन नामक स्थान में भविष्य बदरी की उपासना होगी।"[1] सुनते हैं कि नरसिंह का वह हाथ धीरे-धीरे कृश होता जाता है। इसके अतिरिक्त विष्णु, सूर्य तथा गणेश के मन्दिर भी यहाँ पर हैं। भूकम्प से इन मन्दिरों को बहुत क्षति पहुँचती है। आचार्य शङ्कर से सम्बद्ध कुछ चीजें यहाँ मिलती हैं। एक शिव मन्दिर है जो शङ्कराचार्य के द्वारा स्थापित बताया जाता है। आचार्य की गुफा भी है जहाँ वह समाधि किया करते थे। इसके अतिरिक्त एक बड़ा पुराना कीमू (शहतूत) का पेड़ है। सुनते हैं इसके नीचे बैठकर आचार्य पूजा अर्चा किया करते थे।

सुमेर मठ—काशी में भी आचार्य ने अपना मठ स्थापित किया था। इसका नाम सुमेरमठ है। मठाम्नाय में इसका भी नाम आता है। आजकल गणेश मुहल्ला में इस मठ की स्थिति वर्तमान है। यहाँ से एक पुस्तक भी प्रकाशित की गई है जिससे मुसलमानों के समय में इस मठ की प्रसिद्धि की पर्याप्त सूचना है। इस मठ की स्थिति कुछ डाँवाडोल सी रही है। किसी विशिष्ट व्यक्ति के अध्यक्ष होने पर यह जाग उठता है, अन्यथा इसकी स्थिति साधारण सी ही बनी रहती है। काशी के कोई प्राचीन नरेश इस मठ के शिष्य थे, उसी सम्बन्ध से मठ के प्रबन्ध का खर्चा रामनगर के महाराज देते आते हैं। आजकल भी यही प्रबन्ध है, यद्यपि द्रव्य में कुछ कमी हो गई है। बहुत से विद्वान् इसे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उनका कहना है कि यह अधिकारसम्पन्न मठ कभी नहीं था। अधिकार सम्पन्न से अभिप्राय उस मठ से है जहाँ के अध्यक्ष के शासन में उस प्रान्त का धार्मिक अधिकार हो। इस विषय में चार प्रसिद्ध मठों को ही आचार्यकृत मानना उचित है। काशी में तो पण्डितों का ही शासन चलता रहा है। ऐसी दशा में सघर्ष उत्पन्न करने के लिए आचार्य अपना मठ स्थापित करेंगे, ऐसी कल्पना ठीक नहीं जमती। जो कुछ हो, मठ की स्थिति आज भी विद्यमान है।

कामकोटि पीठ

ऊपर वर्णित पाँचों पीठों के अतिरिक्त काञ्ची का कामकोटि पीठ भी आचार्य के द्वारा स्थापित पीठों में अन्यतम माना जाता है। यहाँ के अध्यक्ष

[1] द्रष्टव्य—गढ़वाल का गजेटियर (अंग्रेजी) वाल्टन साहब के द्वारा संकलित। १९१० पृष्ठ १६९—७०।

शंकराचार्य की यह दृढ़ धारणा है कि आचार्य का सर्वप्रधान पीठ यही कामकोटि पीठ है। उनका कहना है कि शंकर ने चारों मठों पर अपने शिष्यों को नियुक्त किया और जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने काञ्ची से इसी पीठ को अपने लिये पसन्द किया। यहीं योगलिङ्ग तथा भगवती कामाक्षी की पूजा-अर्चा में आचार्य ने अपना अन्तिम समय बिताकर यहीं अपने भौतिक शरीर को छोड़ा। काञ्ची स्थित आम्नाय का नाम है—मौलाम्नाय, पीठ—काम कोटि, मठ—शारदा, आचार्य—शंकर भगवत्पाद, क्षेत्र—सत्यव्रत काञ्ची, तीर्थ—कम्पासर, देव—एकाम्रनाथ, शक्ति—कामकोटि, वेद—ऋक्, सम्प्रदाय—मिथ्याचार, संन्यासी—इन्द्र, सरस्वती, ब्रह्मचर्य—सत्यब्रह्मचारी तथा महावाक्य—ओम् तत्सत्।

कामकोटि का इतिहास

मठ के द्वारा प्रकाशित शिलालेखों से पता लगता है कि इस मठ का आदिम स्थान विष्णुकाञ्ची में हस्तिशैलनाथ (वरदराज स्वामी) के मन्दिर के पश्चिम तरफ था।[1] इस स्थान पर आज भी एक उजड़ा हुआ मठ विराजमान है। कुछ काल के अनन्तर शिव काञ्ची में मठ की स्थापना की गयी। सन् १६८६ ई० तक यह कामकोटि पीठ काञ्ची में ही वर्तमान था। परन्तु मुसलमानों के आक्रमण के कारण यहाँ के स्वामी लोगों के नित्य प्रति के धर्मानुष्ठान में महान् विघ्न उपस्थित हुआ। तब तन्जौर के राजा ने—जिनका नाम प्रतापसिंह बतलाया जाता है—यहाँ के शंकराचार्य को कुछ दिनों के लिये अपना पीठ तन्जौर में लाने के लिये आग्रह किया। तत्कालीन शंकराचार्य ने उस निमन्त्रण को स्वीकार किया और कामाक्षी की सुवर्ण मूर्ति के साथ तन्जौर को अपनी पीठ का केन्द्र बनाया, जहाँ महाराजा ने भगवती कामाक्षी के लिये मन्दिर बनवाया और शंकराचार्य के लिये निवासस्थान निर्मित कर दिया। कावेरी के किनारे पर अवस्थित कुम्भकोणम् को अपनी एकान्त साधना के लिये अधिक उपयुक्त समझ कर शंकराचार्य ने इसी को पसन्द किया। तदनुसार यह तन्जौर से हटा कर कुम्भकोणम् में स्थापित किया गया, जहाँ पर यह आज भी अवस्थित है। इसी कारण से यह कामकोटि मठ के नाम से प्रसिद्ध है। मठ में एक शिलालेख है जिससे जान पड़ता है कि तन्जौर के राजा छत्रपति सर्फोजी महराज ने १७४३ शक् संवत् में चन्द्रमौलीश्वर (मठ के उपास्यदेव) का मन्दिर का निर्माण किया। इस मठ के साथ बहुत-सी सम्पत्ति है जिसका उपयोग अद्वैत वेदान्त के शिक्षण तथा प्रचार तथा दीन दुःखियों के

---

[1] श्री हस्तिशैलनाथस्य निलयात् पश्चिमे मठे।

Copperplate Inscriptions of the Kamkoti Peetha, p. 11.

[2] श्रीचन्द्र मौलीश्वर स्वामिन निवासार्थं राजश्री छत्रपति सेरफोजी महाराज कृत आलय प्रतिष्ठा शालिवाहन शक १७४३ इस नाम संवत्सर माघ शुक्ल पंचमी मानुसार। वही पृ० २

भोजन छाजन में किया जाता है। इस पीठ के वर्तमान शंकराचार्य का नाम श्री चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती है जिन्होंने इस मठ की बड़ी उन्नति की है। इन्होंने एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना की है तथा 'आर्य धर्म' नामक एक तामिल भाषा में पत्रिका भी निकालते हैं। इस प्रकार यह मठ दक्षिण भारत में अद्वैत वेदान्त के प्रचार का केन्द्र है।

कामकोटि और शंकराचार्य

इस मठ की यह प्रधान मान्यता है कि काञ्ची पीठ का आदि शंकराचार्य के साथ बड़ा ही घनिष्ट संबंध था। आचार्य ने अपने आरंभिक जीवन में पूरे भारतवर्ष का भ्रमण कर चार मठों की स्थापना की। अपने प्रचारकार्य को सर्वांशतः पूर्ण तथा सफल समझकर अपना शेष जीवन काञ्ची में बिताना आरम्भ किया। इन्होंने काञ्ची में स्थित कामाक्षी की उग्रकला को अपनी शक्ति से आकृष्ट कर उसे मृदु तथा मधुर बना दिया। इस घटना का उल्लेख सदाशिव महेन्द्र सरस्वती ने अपनी 'गुरुरत्न मालिका' में स्पष्टतः किया है[1]। आचार्य ने यहीं पर कामकोटि पीठ की स्थापना की और कामाक्षी के मन्दिर में श्रीचक्र की प्रतिष्ठा की। सुनते हैं कि काञ्ची में ही आचार्य ने सर्वज्ञ पीठ की प्रतिष्ठा की थी। इसके पहिले इन्होंने काश्मीर पीठ पर विपक्षियों को परास्त कर अधिरोहण किया था। अब इधर के प्रतिवादियों को हराकर यहाँ भी सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण किया। काञ्ची नगरी के निर्माण में भी शंकराचार्य का विशेष हाथ बतलाया जाता है। काञ्ची के तत्कालीन राजा का नाम था राजसेन जिन्होंने आचार्य के द्वारा स्वीकृत रचनापद्धति के आधार पर पूरे नगर का निर्माण किया, नये नये नगर बनवाये। शंकराचार्य ने कामाक्षी के मन्दिर को मध्य (बिन्दुस्थान) में स्थित मानकर श्री चक्र की रचना के आदर्श पर इस नगरी की रचना करवायी। अब आचार्य ने कामकोटि पीठ को अपनी लीलाओं का मुख्य स्थान बनाया तथा कैलाश से लाये गये पाँच लिङ्गों में सबसे श्रेष्ठ योगलिङ्ग नाम लिङ्ग की भी स्थापना यहीं पर की। इस घटना का वर्णन मार्कण्डेय[2] पुराण, आनन्द गिरि कृत 'शंकर विजय'[3], तथा व्यासाचल कृत

---

[1] प्रकृतिष्ठ गुहाश्रयां महोग्रां, स्वकृते चक्रवरे प्रवेश्य योऽमे।
अकृता स्थितसौम्यमूर्तिमार्यां सुकृतं नरसचिनोतु शङ्करार्यं ॥

[2] शिवलिङ्गं प्रतिष्ठाप्य चिदम्बरसभातले।
मोक्षदं सर्वजन्तूनां, भुवनत्रयसुन्दरम् ॥
वैदिकान्, दीक्षितान् शुद्धान्, शास्त्रसिद्धान्तपारगान्।
पूजार्थं युयुजे शिष्यान्, पुण्यारण्यविहारिणः ॥
काञ्च्यां श्रीकामकोटौ तु, योगलिङ्गमनुत्तमम्।
प्रतिष्ठाप्य सुरेशार्यं, पूजार्थं युयुजे गुरुः ॥

[3] तत्रैव निजावासयोग्यं मठमपि च परिकल्प्य तत्र निजसिद्धान्तपद्धतिं प्रकटयितुं अन्तेवासिनं सुरेश्वरमाहूय योगनामकं लिङ्गं पूजयेति दत्वा त्वमत्र कामकोटिपीठ मधिवस इति सस्थाप्य।

शंकरविजय[1] में स्पष्ट रूप से किया गया है। नैषध चरित्र के कर्ता महाकवि श्रीहर्ष ने भी काञ्ची में स्थित इस योगेश्वर लिङ्ग का उल्लेख किया है[2]। कहा जाता है कि पीठ की स्थापना के अनन्तर आचार्य शङ्कर ने अपने मुख्य शिष्य सुरेश्वर को यहाँ का अध्यक्ष बनाया परन्तु योगलिङ्ग की पूजा का अधिकार उन्हें नहीं दिया। क्योंकि सुरेश्वर पूर्वाश्रम में गृहस्थ थे और आचार्य की यह अभिलाषा थी कि इस शिवलिङ्ग और देवी की पूजा वही व्यक्ति करे जो उन्हीं के समान ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास लेने वाला हो। इसके लिए उन्होंने सर्वज्ञात्म श्रीचरण को यह पूजा का अधिकार दिया क्योंकि वे ब्रह्मचारी से सीधे संन्यासी हुये थे। इस प्रथा का अनुसरण आज भी होता है। आज भी कामकोटि के अधिपति गृहस्थ संन्यासी न होकर ब्रह्मचारी सन्यासी हुआ करते हैं।

इस पीठ के आचार्यों का यह भी कहना है कि भगवान् शङ्कराचार्य ने इसी काञ्ची पुरी में अपनी ऐहिक लीला संवरण की थी। अपने जीवन के अन्तिम दिनों को बिताते हुये उन्होंने यहीं पर मुक्ति प्राप्त की। परन्तु प्रबल प्रमाणों के अभाव में इस कथन को सत्य मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता। शृङ्गेरी मठ की परम्परा के अनुसार शंकराचार्य का तिरोभाव कैलाश धाम में हुआ था। अतः ऐसी स्थिति में कौन सा मत ठीक है यह कहना अत्यन्त कठिन है। इसमें सन्देह नहीं कि काञ्ची शंकराचार्य के समय में अत्यन्त पवित्र तीर्थ स्थान था। यह भी निश्चित है कि दिग्विजय करते समय उन्होंने स्वयं आकर इस नगरी को सुशोभित किया था परन्तु उन्होंने अपने जीवन की अन्तिम वेला को इसी नगरी में बिताया था तथा अपनी जीवन-लीला को यहीं समाप्त किया था, इस मत के प्रतिपादन में कोई अकाट्य प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यद्यपि काञ्ची पीठ वाले अपने मत के समर्थन में अनेक प्रमाण देते हैं परन्तु इन प्रमाणों के विषय में इतना ही कहना पड़ता है कि वे सब एकाङ्गी हैं तथा उनका समर्थन किसी अन्य प्रमाण से नहीं होता।

---

[1]एवं निरस्तस्वदाय विधाय देवीं। सर्वज्ञपीठमधिरुह्य मठे स्वस्मे॥
मात्रा गिरामपि तपोपगतैश्च मिश्रैः। सम्भावितः कमपि कालमुवास काञ्च्याम्॥
आगच्छमाद्विदितवेद्यमुमुक्षुबाल्यं। सर्वंज्ञमर्घंज्ञमथ हंसितमात्मनैव॥
श्रीकामकोटिबिरुदेन्यदधात्स्वपीठे। गुप्तं स्वशिष्यतिलके न सुरेश्वरेय॥
इत्थः शङ्करगुरु कृतकृत्यभावात्। भावान्प्रकाश्य निगमान्तगिरां निगूढाम्॥
काञ्च्यां विमुच्य वपुराद्यमिच्छयेव। स्वस्यैव धाम्नि परमे स्वतमेव विश्वे॥

[2]सिन्धोर्जैत्रमयं पवित्रमसृजत् तत्कीर्तिपूर्ताद्भुतं;
यत्र स्नान्ति जगन्ति, सन्ति कवयः के वा न वाचंयमाः।
यद् बिन्दुश्रियमिन्दुरञ्चति जलं चाविश्य दृश्येतरो
यस्यासौ जलदेवता स्फटिकभूर्जागर्ति योगेश्वरः॥ नैषध चरित १२।१८

कामकोटि पीठ के आचार्य

क्रम संख्या	आचार्य-नाम	गद्दी पर बैठने का समय	मृत्यु की तिथि	ईस्वी जन्म { ५०८ ईसा पूर्व „ { ४७६ „ „
१.	श्रीशङ्कर	३२	वैशाख शुक्ल ११	
२.	सुरेश्वराचार्य	७०	ज्येष्ठ शुक्ल १२	४०६ „
३.	सर्वज्ञात्मन्	४२	वैशाख कृष्ण १४	३६४ „
४.	सत्यबोध	६६	मार्गशीर्ष कृष्ण ८	२६८ „
५.	ज्ञानानन्द	६३	„ कृष्ण ७	२०५ „
६.	शुद्धानन्द	८१	ज्येष्ठ शुक्ल ६	१२४ „
७.	आनन्द ज्ञान	६९	वैशाख कृष्ण ९	५५ „
८.	कैवल्यानन्द	८१	मकर कृष्ण १	२८ ईसा पश्चात्
९.	कृपाशङ्कर (द्वितीय)	४१	कार्तिक कृष्ण ३	६९ „
१०.	सुरेश्वर	५८	आषाढ़ „ ०	१२७ „
११.	चिदघन	४५	ज्येष्ठ कृष्ण १०	१६२ „
१२.	चन्द्रशेखर १	६१	आषाढ़ शुक्ल ९	२३५ „
१३.	सच्चिदघन	३०	मार्गशीर्ष शुक्ल १	२७२ „
१४.	विद्याघन १	४५	„ ०	३१७ „
१५.	गङ्गाधर १	१२	चैत्र शुक्ल १	३२९ „
१६.	उज्ज्वलशङ्कर ३	३८	वृषभ शुक्ल ८	३६७ „
१७.	सदाशिव	८	ज्येष्ठ शुक्ल १०	३७५ „
१८.	सुरेन्द्र	१०	मार्गशीर्ष शुक्ल १	३८५ „
१९.	विद्याघन	१३	भाद्रपद कृष्ण ९	३९८ „

२०. मूक शङ्कर ४	२६	श्रावण	१०	४३७	„
२१. चन्द्रचूड़ १	१०	श्रावण कृष्ण	८	४४७	„
२२. परिपूर्ण बोध	३४	कार्तिक शुक्ल	९	४८१	„
२३. सच्चित्सुख	३१	वैशाख शुक्ल	७	५१२	„
२४. चित्सुख	१५	श्रावण कृष्ण	६	५२७	„
२५. सच्चिदानन्द घन	२१	आषाढ़ शुक्ल	१	५४८	„
२६. प्रज्ञान घन	१६	वैशाख शुक्ल	८	५६४	„
२७. चिद्विलास	१३	वर्ष प्रतिपद्		५७७	„
२८. महादेव (प्रथम)	२४	कार्तिककृष्ण	१०	६०१	„
२९. पूर्णबोध	१७	श्रावण शुक्ल	१०	६१८	„
३०. बोध (प्रथम)	३७	वैशाख कृष्ण	४	६५५	„
३१. ब्रह्मानन्द घन (प्र०)	१३	ज्येष्ठ शुक्ल	१२	६६८	„
३२. चिदानन्द घन	४	मार्गशीर्ष शुक्ल	६	६७२	„
३३. सच्चिदानन्द (द्वि०)	२०	भाद्रपद कृष्ण	६	६९२	„
३४. चन्द्रशेखर (द्वि०)	१८	मार्गशीर्ष	०	७१०	„
३५. चित्सुख (द्वि०)	२७	आषाढ़ शुक्ल	६	७३७	„
३६. चित्सुखानन्द	२१	आश्विन	०	७५८	„
३७. विद्याघन (तृ०)	३०	पुष्य शुक्ल		७८८	„
३८. अभिनव शङ्कर (द्वि०)	५२	आषाढ़	०	८४०	„
३९. सच्चिद्विलास	३१	वैशाख	०	८७१	„
४०. महादेव (द्वि०)	४२	वैशाख शुक्ल	६	९१३	„
४१. गङ्गाधर (द्वि०)	३५	श्रावण शुक्ल	१	९५०	„

४२. ब्रह्मानन्द घन (ii)	२८	कार्तिक शुक्ल	८	६७८
४३. आनन्दघन	३६	चैत्र शुक्ल	६	१०१४
४४. पूर्णबोध (ii)	२६	भाद्रपद कृष्ण	१२	१०४०
४५. परमशिव (i)	२१	आश्विन शुक्ल	७	१०६१
४६. बोध (ii)	३७	आषाढ़	०	१०६८
४७. चन्द्रशेखर (iii)	६८	चैत्र	०	११६६
४८. अद्वैतानन्द बोध	३४	ज्येष्ठ शुक्ल	१०	१२००
४९. महादेव (iii)	४७	कार्तिक कृष्ण	८	१२४७
५०. चन्द्रचूड़ (ii)	५०	ज्येष्ठ शुक्ल	६	१२६७
५१. विद्यातीर्थ	८८	माघ कृष्ण	१	१३८५
५२. शङ्करानन्द	३२	वैशाख शुक्ल	१	१४१७
५३. पूर्णानन्द सदाशिव	८१	ज्येष्ठ शुक्ल	१०	१४६८
५४. महादेव (iv)	६	आषाढ़ कृष्ण	१	१५०७
५५. चन्द्रचूड़ (iii)	१७	मीन शुक्ल	११	१५२४
५६. सर्वज्ञ सदाशिव बोध	१५	चैत्र शुक्ल	८	१५३९
५७. परमशिव (ii)	४७	श्रावण शुक्ल	१०	१५८६
५८. आत्मबोध	५२	तुला कृष्ण	८	१६३८
५९. बोध (iii)	५४	भाद्रपद	०	१६९२
६०. अद्वैतात्मप्रकाश	१२	चैत्र कृष्ण	२	१७०४
६१. महादेव (v)	४२	ज्येष्ठ शुक्ल	६	१७४६
६२. चन्द्रशेखर ४	३७	पुष्य कृष्ण	२	१७८३
६३. महादेव ६	३१	आषाढ़ शुक्ल	१२	१८१४

६४. चन्द्रशेखर	५	३७	कार्तिक कृष्ण २	१८५१
६५. महादेव	७	४०	फाल्गुन ०	१८६१
६६. चन्द्रशेखर	६	१७	माघ कृष्ण ८	१६०८
६७. महादेव	८	(७) सप्तदिवस फाल्गुन शुक्ल १		१६०८
६८. चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती		वर्तमान आचार्य		

काञ्चीपीठ के शङ्कराचार्यों का संक्षिप्त इतिहास

१. सर्वज्ञात्मा—जिस समय श्री शङ्कराचार्य काञ्ची में सर्वज्ञ की दृष्टि से पीठस्थ होने जा रहे थे उस समय ताम्रपर्णी के आसपास रहने वाले कतिपय विद्वानों ने उनका विरोध किया। परन्तु जगद्गुरु ने उनको परास्त कर दिया। उक्त विद्वन्मण्डली में वर्द्धन नामक एक पण्डित भी थे जिनके सात वर्ष की आयु वाले पुत्र ने तीन दिन तक शास्त्रार्थ किया। पश्चात् चौथे दिन उक्त बालक ने हार मान ली और उसके फलस्वरूप सन्यास ग्रहण कर लिया। श्री शङ्कराचार्य ने इसी बालक को शारदामठ का अधीश्वर बनाया और श्री सुरेश्वराचार्य को संरक्षक नियुक्त किया। उक्त बाल-संन्यासी ही सर्वज्ञात्मा नाम से विख्यात हुए और ११२ वर्ष तक काञ्ची पीठ के अधीश्वर रहे। इनकी जन्मभूमि पाण्ड्य-प्रदेश में थी। ये द्राविड़ ब्राह्मण थे और इनका पहला नाम महादेव था। 'संक्षेप शारीरिक' एवं 'सर्वज्ञविलास' इनकी दो कृतियाँ हैं। कुछ काल तक द्वारका में रह कर इन्होंने पद्मपाद के उत्तराधिकारी श्री ब्रह्मस्वरूप को पढ़ाया। नलीय २७२० कलि के वैशाख कृष्ण चतुर्दशी को इन्होंने काञ्ची में शरीर-त्याग किया।

२. सत्यबोध—ये चेर प्रदेशवासी वायडव शर्मा नामक द्राविड़ ब्राह्मण के पुत्र थे और इनका पूर्व का नाम कलिनीश था। अपने पूर्ववर्ती पीठाधीश्वर की भाँति इन्होंने भी सांख्यवादियों, बौद्धों तथा जैनों से होड़ ली थी। कहा जाता है कि इन्होंने भाष्य-त्रय पर वार्तिक एवं पदकरात नामक अन्य पुस्तक लिखी। ये ९६ वर्ष तक कामकोटि पीठ के अधीश्वर रहे और वैशाख कृष्ण अष्टमी को इन्होंने काञ्ची में शरीर-त्याग किया।

३. ज्ञानानन्द—ये चोल प्रदेशान्तर्गत मङ्गल नाम स्थान के रहने वाले द्राविड़ ब्राह्मण थे। इनका पहले का नाम ज्ञानोत्तम तथा इनके पिता का नाम नागेश था। ये पहले बहुत बड़े तार्किक थे और इन्होंने सुरेश्वराचार्य की नैष्कर्म्य सिद्धि पर चन्द्रिका नाम की टीका लिखी है। ये ६३ वर्ष तक पीठाधिस्थित रहे और काञ्ची में ही मन्मथ में मार्गशीर्ष की शुक्ल सप्तमी को इन्होंने शरीर छोड़ा।

४. शुद्धानन्द—ये तामिल प्रदेशान्तर्गत वेङ्कटेश्वर-वासी भारद्वाज-पण्डित नामी एक वैद्य के पुत्र थे। इनका पूर्व का नाम विश्वनाथ था। नास्तिकों का इन्होंने भी घोर विरोध किया तथा ८१ वर्ष तक पीठाधीश्वर रहने के पश्चात् नन्दीय सम्वत् में ज्येष्ठ की शुक्लाष्टमी को काञ्ची में ही इनका शरीरान्त हुआ।

५. आनन्दज्ञान—ये चेर-प्रदेशवासी सूर्य नारायण मखी के पुत्र थे। इनका पहला नाम चिन्नाय था। गौरी के प्रसाद से इन्हें विद्या प्राप्त हुई थी। श्री शङ्कराचार्य के भाष्यों तथा सुरेश्वराचार्य के वार्त्तिकों पर टीकाएँ लिखी हैं। ये ६६ वर्ष तक पीठस्थ रहे और एक यात्रा से लौटते समय श्री शैल में क्रोधन सम्वत् में वैशाख कृष्ण नवमी को इनका देहावसान हुआ।

६. कैवल्यानन्द—इनका दूसरा नाम कैवल्ययोगी था। ये ८३ वर्ष तक पीठस्थ रहे और पुण्यक्षेत्र में सर्वधारी सम्वत् में मकर के प्रथम दिन इन्होंने शरीर-त्याग किया।

७. कृपाशङ्कर—ये गर्गगोत्रीय आन्ध्र ब्राह्मण श्री आत्मनाथसोमयाजी के पुत्र थे। इनका पहले का नाम गङ्गेशोपाध्याय था। ये परवर्ती के प्रवर्तक थे। इन्होंने तान्त्रिक उपासनाओं को वैदिक स्वरूप प्रदान किया तथा जैनादियों को परास्त कर अद्वैतवाद की स्थापना की। श्री कैवल्ययोगी की आज्ञानुसार इन्होंने सुभद्र विश्वरूप को शृंगेरी पीठ का अधीश्वर बनाया। ४१ वर्ष तक कार्यभार सँभालने के पश्चात् विन्ध्याद्रि के आसपास विभव सम्वत् में कार्त्तिक कृष्ण तृतीया को इन्होंने शरीर छोड़ा।

८. सुरेश्वर—इनका पहला नाम महेश्वर था। ये कोङ्कण प्रदेशान्तर्गत महाबलेश्वर वासी महाराष्ट्र ब्राह्मण ईश्वर पण्डित के पुत्र थे। ५८ वर्ष तक पीठ का कार्यभार संभालने के उपरान्त आपने काञ्ची में अक्षय सम्वत् में आषाढ़ी पूर्णिमा को शरीर त्याग किया।

९. चिद्घन—(शिवानन्द) ये कर्णाटक ब्राह्मण उज्ज्वल भट्ट के पुत्र थे। इनका पहला नाम ईश्वरयज्ञ था। ये शैवाद्वैत के पक्षपाती थे। ४५ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् विरोधिकृत सम्वत् में ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को वृद्धाचल के आसपास इन्होंने शरीर त्याग किया।

१०. चन्द्रशेखर (प्रथम) ये पालार प्रदेशीय वत्सभट्ट नामक वात्स्यायन गोत्रीय द्राविड़ ब्राह्मण के पुत्र थे; इनका पहला नाम हरि था। मठ का दायित्व अपने एक शिष्य को सौंपकर कुछ काल इन्होंने सार्वभौम की साधना में बिताया। ६१ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् आनन्द सम्वत् में आषाढ़ शुक्ल दशमी को ये शेषाचल की एक कन्दरा में सशरीर लुप्त हो गए।

११. सच्चिद्घन—ये गरुड़-नदी के आसपास रहने वाले द्राविड़ ब्राह्मण सोमदत्त पण्डित के पुत्र थे। इनका पहला नाम शेषार्य था। १० वर्ष तक

पीठस्थ रहने के पश्चात् इन्होंने मठ का दायित्व एक शिष्य को समर्पित कर ३३ वर्ष भ्रमणशील नग्न मौनी के रूप में विताए और अन्त में खर सम्वत् में मार्गशीर्ष की शुक्ल प्रतिपदा को एक मन्दिर में अन्तर्हित हो गए। कहा जाता है कि उस मन्दिर में उनका शरीर लिङ्ग के रूप में परिवर्तित हो गया।

१२, विद्याघन (प्रथम) ये आन्ध्र ब्राह्मण यापन्नसोमयाजी के पुत्र थे और इनका पहिला नाम नारन था। एक बार इन्होंने मलयपर्वत के निकटवर्ती कतिपय ग्रामों पर कुपित उग्र भैरव को शान्त किया था। ये ४५ वर्ष तक पीठस्थ रहे और शकसम्वत् २३६ में मार्गशीर्ष की शुक्ला प्रतिपदा को अगस्त्य पर्वत के समीप इन्होंने शरीर त्याग किया।

१३, गङ्गाधर (प्रथम) ये आन्ध्र ब्राह्मण 'काञ्ची' भद्रगिरि के पुत्र थे और इनका पहिला नाम सुभद्र था। अपनी विद्वता के कारण ये 'गीष्पति' भी कहलाते थे। कहा जाता है कि इन्हें मलयपर्वत के समीप कहीं अगस्त्य जी ब्राह्मण के रूप में मिले थे और उन्होंने इन्हें षडक्षरतारक मन्त्र की दीक्षा दी थी। इन्होंने १२ वर्ष की अवस्था में ही मठाधीश्वर का आसन सनाथ किया था और २४ वर्ष की आयु में ही सर्वधारी संम्वत के चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को इनका देहपात हुआ।

१४, उज्ज्वलशङ्कर—ये महाराष्ट्र ब्राह्मण केशव शङ्कर के पुत्र थे। इनका पहला नाम अच्युत केशव था। इन्होंने प्रतिवादियों को परास्त करने के लिए बड़ी-बड़ी यात्राएँ भी की थीं। इनके आशीर्वाद से रत्नाकूटा के राजा कुलशेखर का केवल शक्ति प्राप्त हुई थी। जल्दहिट नाम एक जैन आचार्य के अनुयायियों को इन्होंने सिन्धु के पार भगा दिया। ये ३८ वर्ष तक मठाधीश रहे। कश्मीर की एक दिग्विजय यात्रा में कलि ३४६८ अक्षय सम्वत् में वैशाख शुक्ल पञ्चमी को कलापुरी में इनका शरीर पात हुआ। उक्त पुरी तथा से महायतिपुरी भी कहलाती है।

१५, गौडसदाशिव (बालगुरु)—ये कश्मीर के देवमिश्र नामक ब्राह्मण मन्त्री के पुत्र थे। इनके पिता जैन मतावलम्बी थे अतएव उन्होंने क्रुद्ध होकर वेदान्त की ओर बाल्यकाल में ही झुकते हुए देख कर सिन्धु नदी में फेंकवा दिया था। पाटलिपुत्र वासी भूरिवसु ने इनकी रक्षा की। इनका दूसरा नाम करण 'सिन्धु दत्त' भी किया। श्री भूरिवसु ने ही इनका पालन पोषण किया और १० वर्ष की आयु में श्री उज्ज्वल शङ्कर से दीक्षा प्राप्त कर ये पीठस्थ हुए। उन्होंने सुवर्ण की पना पालकी में बैठकर बहुत सी धर्मयात्राएँ कीं और वाह्लीक बौद्धों को परास्त किया। जहाँ ये जाते थे वहाँ १००० ब्राह्मणों को नित्य भोजन कराते थे। ये केवल ८ ही वर्ष तक पीठस्थ रहे और २८ वर्ष की अवस्था में भव सम्वत् को ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को नासिक के समीप त्र्यम्बक में इनका शरीरपात हुआ।

१६, सुरेन्द्र—इनका उपनाम योगितिलक था। इनका पहला नाम माधव था और ये महाराष्ट्र ब्राह्मण मधुरानाथ के पुत्र थे। कर्णाटनरेश नरेन्द्रादित्य

के भ्रातृज सुरेन्द्र के दरबार में दुर्दीदिवो नामक चार्वाक आचार्य को इन्होंने शास्त्रार्थ में पराजय किया था। कहा जाता है कि उक्त नास्तिक की सहायता साक्षात् बृहस्पति ने की थी। ये १० वर्ष तक पीठस्थ रहे तदुपरान्त सम्वत् कलि ३४८६ में मार्गशीर्ष शुक्ल १ को उज्जैन के समीप इन्होंने शरीर छोड़ा।

१७, विद्याघन (द्वितीय)—मार्तण्ड एवं सूर्यदास इनके दो उपनाम थे। इनका पहला नाम श्रीकण्ठ था और वे उमेश शंकर के पुत्र थे। ये प्रतिदिन १००८ बार सूर्य नमस्कार करते थे जिसके फलस्वरूप इनका श्वेत कुष्ठ दूर हो गया। ये १२ वर्ष तक (१८ से लेकर ३१की आयु तक) पीठस्थ रहे और हेविलम्बी सम्वत् में भाद्र कृष्ण ६ मी को गोदावरी के निकट इनका शरीर पात हुआ।

१८, शङ्कर चतुर्थ—ये विद्यावती नामक एक गणक के पुत्र थे और इनका पहला नाम मूक था। ये जन्मतः गूंगे तथा बहरे थे पर विद्याघन की कृपा से वाणी-वैभव प्राप्त हुआ था। इन्होंने अपने पिता से वेद पढ़े थे और काश्मीराधीश्वर मातृगुप्त एवं 'सेतुबन्ध' काव्य के रचयिता प्रवरसेन ने भी इनकी सेवा की थी। कहा जाता है कि मातृगुप्त के विद्याजनित दर्प का दलन करने के लिए उक्त यतीन्द्र ने एक घुड़साल के निरीक्षक तथा हस्तिरक्षक को विद्या का प्रसाद प्रदान किया और दोनों ने क्रम से 'मणिप्रभा' एवं 'हयग्रीववध' नामक दो नाटक लिखे। इन दोनों का नाम रामिल तथा मेण्ठ था। प्रवरसेन तथा मातृगुप्त से कह कर श्री शङ्कर ने हिमालय में कहीं सुषमा नाम का पथ निकलवाया जो चन्द्रभागा (झेलम) से लेकर विन्ध्य तक था। हरिमिश्रीय में लिखा है—

आचन्द्रभवमासिन्धु हिमालयमहीभृतः।
श्री शङ्करेन्द्रेण कृता पद्या साद्यापि दृश्यते॥

इन्होंने काञ्ची की अधिष्ठात्री देवी कामाक्षा की स्तुति में 'मूकपञ्चशती' तथा 'शङ्कर विजय' नामक दूसरी रचना प्रस्तुत की थी। शक सम्वत् ३५६ की श्रावणी पूर्णिमा को गोदावरी के निकट इन्होंने शरीर त्याग किया।

१६, चन्द्रशेखर (प्रथम)—ये विक्रमादित्य के इतिहास प्रसिद्ध कृपापात्र मातृगुप्त ही थे जिन्होंने कुछ काल तक काश्मीर के सिंहासन को सुशोभित किया था। इसीलिए इनका दूसरा नाम सार्वभौम भी था। ये कोङ्कण निवासी अच्युत नामक एक ब्राह्मण के पुत्र थे। ये दस वर्ष तक काशी में रहे और व्यय सम्वत् की श्रावण कृष्णाष्टमी को इनका शरीरपात हुआ।

२०, परिपूर्णबोध—ये रत्नगिरि वासी के पुत्र थे और बहुत बड़े वैद्य थे यहाँ तक कि इन्हें धन्वन्तरि का अवतार तक माना जाता था। 'अक्षमालिकार्णव' मन्त्र के जप से इन्हें योग की सिद्धियाँ भी प्राप्त हुई थीं। ये १४ वर्ष तक पीठस्थ रहे और रौद्र सम्वत् में कार्तिक शुक्ल नवमी को जगन्नाथ के समीप इन्होंने शरीर छोड़ा।

२१. सच्चित्सुख—ये चिकाकोल वासी आन्ध्र ब्राह्मण सोमनाथ के पुत्र थे और इनका पहला नाम गिरीश था। सुब्रह्मण्य के पूजक थे। कहा जाता है कि नास्तिक आर्य भट्ट (प्रसिद्ध ज्योतिर्विद) को इन्होंने वैदिक मतानुयायी बनाया। ३४ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् खर सम्वत् में वैशाख की शुक्ला सप्तमी को इन्होंने जगन्नाथ के समीप शरीर त्याग किया।

२२. चित्सुख (प्रथम)—ये कोङ्कण के रहने वाले थे और इनका पहला नाम शिवशर्मा था। १५ वर्ष तक पीठस्थ रहे और बराबर कोङ्कण में ही रहते थे। प्रभव सम्वत् में श्रावण शुक्ल नवमी को इन्होंने शरीर छोड़ा।

२३. सच्चिदानन्दघन—(उपनाम सिद्धगुरु) ये श्रीमुष्णम् वासी द्राविड़ ब्राह्मण कृष्ण के आत्मज थे। इनका पहला नाम शिवसाम्ब था। इन्होंने कई बार भारत का पर्यटन किया था। ये बहुत उच्चकोटि के योगी थे तथा चतुष्पदों एवं साधारण कृमियों की भी भाषा का इन्हें ज्ञान था। अपने योगविद्या के द्वारा इन्होंने अपने शरीर को अन्त में लिंग के रूप में परिवर्तित कर दिया। 'सिद्धविजय महाकाव्य' में सेष्ट भट्ट ने इनकी जीवनी लिखी है। ४७० शक सम्वत् में कोङ्कण के समीप आषाढ़ शुक्ल प्रतिपद् को इन्होंने शरीर त्याग किया।

२४. प्रज्ञघन—ये पिनाकिनी तटवासी प्रभाकर के पुत्र थे। इनका पहला नाम सोमगिरि था। ये १८ वर्ष तक पीठस्थ रहे और सुभानु सम्वत् में वैशाख शुक्ल अष्टमी को काञ्ची में इनका शरीरपात हुआ।

२५. चिद्विलास—ये हरिगिरि निवासी मधुसूदन के पुत्र थे और इनका पहला नाम हरिकेशव था। १६ वर्ष तक पीठस्थ रहकर दुर्मुख सम्वत् के प्रथम दिन इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

२६. महादेव (प्रथम)—ये भद्राचलवासी भानु मिश्र के पुत्र थे। इनका पहला नाम शेष मिश्र था। ये मैथिल ब्राह्मण थे और आन्ध्रप्रदेश में आकर बस गये थे। ये २४ वर्ष तक पीठस्थ रहे और रौद्र सम्वत् में आश्विन के कृष्ण दशमी को काञ्ची में इनका शरीरपात हुआ।

२७. पूर्णबोध (प्रथम)— ये श्रीपति के पुत्र थे और इनका पहला नाम कृष्ण था। १७ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् ईश्वर सम्वत् में श्रावण शुक्ल एकादशी को काञ्ची में इनका शरीरपात हुआ।

२८. बोध (प्रथम)—इनके पिता का नाम कालहस्ति था और इनका पहला नाम वासुदेव था। ३७ वर्ष तक पीठस्थ रहे। आनन्द सम्वत् में वैशाख शुक्ल चतुर्थी को इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

२९. ब्रह्मानन्दघन (प्रथम)—उपनाम ज्ञाननिधि। ये गरुड़ नदी के समीप रहने वाले अनन्त नामक द्राविड़ ब्राह्मण के पुत्र थे। इनका पहला नाम श्रीकण्ठ था

था। ये छहों दर्शनों के पण्डित थे और काश्मीरनरेश ललितादित्य एवं भवभूति ने भी इनकी सेवा की थी।

३०. चिदानन्दघन—ये वरुण शङ्कर के पुत्र थे और इनका पहला नाम पद्मनाभ था। लम्बिका नाम की योगक्रिया की साधना के पश्चात् ये सूखी पत्तियों पर रहने लगे थे। ये केवल ४ वर्ष तक पीठस्थ रहे और प्रजोत्पत्ति सम्वत् में मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी को इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

३१. सच्चिदानन्द (द्वितीय) उपनाम 'भाषा परमेष्ठी'—ये गौड़ रामशक्र के पुत्र थे और इनका पहला नाम त्रिविक्रम था। इनकी जन्मभूमि कहीं चन्द्रभागा के आसपास थी। ये कई भाषाओं के विद्वान् थे और इन्होंने मठों के जीर्णोद्धार का कार्य बड़ी लगन से किया। १० वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् इन्होंने खर सम्वत् में प्रोष्ठपद शुक्ल षष्ठी को काञ्ची में शरीर छोड़ा।

३२. चन्द्रशेखर (द्वितीय)—इनके पिता का नाम महादेव था तथा इनकी जन्मभूमि वेगवती नदी के आसपास कहीं थी। इनका पहला नाम शम्भू था इन्होंने एक बार एक लड़के को दावाग्नि से बचाया तथा काश्मीर के नरेश ललितादित्य के बौद्ध मन्त्री चङ्कुण को शास्त्रार्थ में परास्त किया। ये १८ वर्ष तक पीठस्थ रहे और सौम्य सम्वत में मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपद् को इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

३३. चित्सुख (द्वितीय)—उपनाम 'बहुरूप'— ये वेदाचल निवासी विमलाक्ष के पुत्र थे और इनका पहला नाम 'सुशील मकरन्द' था। सह्याद्रि की कावेर गुफा में इन्होंने बहुत दिनों तक तपस्या की। १७ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् धातु सम्वत में आषाढ़ शुक्ल षष्ठी को इन्होंने शेषाचल पर्वत के समीप शरीर छोड़ा।

३४. चित्सुखानन्द उपनाम चिदानन्द—ये सोमगिरि के पुत्र थे और इनकी जन्मभूमि पालार नदी के आसपास थी। इनका पहला नाम सुरेश था। ११ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् इन्होंने ईश्वर सम्वत् में आश्विन की पूर्णिमा को काञ्ची में शरीर त्याग किया।

३५. विद्याघन (तृतीय)—ये बालचन्द्र के पुत्र थे और इनका पहला नाम सूर्यनारायण था। इनके समय में मुसलमानों ने आक्रमण किया था और इन्होंने बड़ी कठिनाई झेल कर धर्म की रक्षा की "प्रविश्ते परितस्तुरुष्कचक्रे...…"। ३० वर्ष तक पीठस्थ रहे और एक यात्रा के सिलसिले में चिदम्बरम् में इन्होंने प्रभवसम्वत् में पौष शुक्ल द्वितीया को शरीरत्याग किया।

३६. शङ्कर (पञ्चम)—ये चिदम्बरम् निवासी विश्वजित् के पुत्र थे और धीर तथा अभिनव इनके दो उपनाम थे। वाक्पतिभट्ट ने अपने 'शङ्करेन्द्रविलास' में इनका चरित्र- वर्णन किया है। इनके विषय में अनेक कुतूहलपूर्ण वृत्तान्त प्रचलित हैं। इन्होंने काश्मीर में वाक्पति भट्ट जैसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् को हराया था और

चीनी, तुर्क तथा पारसी तक इनकी विद्वत्ता तथा निष्ठा से प्रभावित हुए थे। ५२ वर्ष तक पीठस्थ रहकर ये ३९४१ कलि सिद्धार्थि सम्वत् की आषाढ़ शुक्ल प्रतिपद् को आत्रेय पर्वत की दत्तात्रेय गुफा में गुप्त हो गये।

३७, सच्चिद्विलास—ये कान्यकुब्ज निवासी कमलेश्वर के पुत्र थे और संन्यास लेने के पूर्व इनका नाम श्रीपति था। इन्होंने पद्मपुर में अधिक समय तक निवास किया। आनन्द वर्धन, मुक्तापण, शिवस्वामी और राजानक रत्नाकर इनके प्रसिद्ध सेवकों में से थे। ये २३ वर्ष तक पीठस्थ रहे और नन्दन सम्वत् में वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को इन्होंने शरीर छोड़ा।

३८, महादेव (तृतीय)—ये कर्नाटक वासी बज्रराय के पुत्र थे और इनका पहले का नाम शिवराम भट्ट था। अधिक सुन्दर होने के कारण ये 'उज्ज्वल' और शोभन भी कहलाते थे। ४२ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् भव सम्वत् में वैशाख शुक्ल षष्ठी को इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

३९, गङ्गाधर (द्वितीय)—इनका जन्म भीमा नदी किनारे किसी स्थान में हुआ था। इनका पहले का नाम अप्पन था और ये उमेश्वर भट्ट के पुत्र थे। कहा जाता है कि इनकी कृपा से कविवर राजेश्वर ने—जो संयोगवश नेत्रहीन हो गये थे—पुनः दृष्टि प्राप्त की। १५ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् सौम्य सम्वत् में श्रवण शुक्ल प्रतिपद् को इन्हं ने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

४०, आनन्दघन—इनकी जन्मभूमि तुङ्गभद्रा के किनारे थी। इनके पिता का नाम सुदेव भट्ट था और इनका पहले का नाम शङ्कर पण्डित था। ३६ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् प्रमादी सम्वत् में चैत्र शुक्ल नवमी को इन्होंने काञ्ची में शरीर छोड़ा।

४२, पूर्णबोध (द्वितीय)— इनका पहले का नाम हरि था और इनके पिता का नाम शिव था। ये कर्नाटक के निवासी थे। ये २६ वर्ष तक पीठस्थ रहे और प्रमाथी सम्वत् में भाद्रपाद मास में कृष्ण त्रयोदशी को इन्होंने शरीर-त्याग किया।

४३, परमशिव (प्रथम)—इनके पिता का नाम शिवसाम्ब पण्डित था और इनका पहले का नाम श्रीकण्ठ था। इन्होंने सोमदेव नामक अपने एक भक्त के साथ सह्याद्रि की एक गुफा में बहुत दिनों तक वास किया। २१ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् सर्वरी सम्वत् में आश्विन शुक्ल सप्तमी को इन्होंने शरीर छोड़ा।

४४, बोध (द्वितीय)—ये ही सुगानन्द भी कहते थे। इनके पिता का नाम सूर्य था। लोक का कथन है कि ये ही कथा सरित्सागर के रचयिता सोमदेव थे। धारा नरेश भोजराज द्वारा समर्पित मोतियों से जड़ी एक पालकी में बैठकर इनके दक्षिणभारत-यात्रा करने का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि काश्मीरनरेश

कलस की सहायता से इन्होंने काञ्ची के आसपास रहने वाले मुसलमानों को भगा दिया था। १७ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् ईश्वर सम्वत् में माघ शुक्ल प्रतिपद् को इन्होंने अरुणाचल में शरीर छोड़ा।

४५. चन्द्रशेखर (तृतीय)—इनका एक नाम चन्द्रचूड भी था। इनकी जन्म-भूमि कुण्डी नदी के आसपास कहीं थी। इनके पिता का नाम शुकदेव था। प्रसिद्ध कवि मंख, कृष्ण मिश्र, जयदेव तथा सुहल इनके कृपापात्र थे। विद्यालोल कुमारपाल के दरबार में इन्होंने हेमाचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। कश्मीर नरेश जयसिंह भी इनके सेवकों में से थे। ये ६८ वर्ष तक पीठस्थ रहे और कलिवर्ष ४२६७ पार्थिव सम्वत् चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को इन्होंने अरुणाचल के समीप शरीर छोड़ा।

४६. अद्वैतानन्द बोध—इनका एक नाम चिद्विलास भी था। इनके पिता प्रेमेश पिनाकिनी नदी के किनारे के एक ग्राम के निवासी थे। इनका गृहस्थाश्रम का नाम सीतापति था। १७ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने सन्यास ग्रहण किया था। कहा जाता है कि इन्होंने नैषधचरित के रचयिता श्रीहर्ष तथा मन्त्रशाली अभिनव गुप्त को पराजित किया था। इन्होंने तीन पुस्तकें लिखी हैं—(१) ब्रह्मविद्याभरण (२) शान्तिविवरण (३) गुरुप्रदीप। ये ३६ वर्ष तक पीठस्थ रहे और सिद्धार्थ सम्वत् की ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को इन्होंने चिदम्बरम् में शरीर छोड़ा।

४७. महादेव तृतीय—ये छायावनम् के निवासी अच्युत नामक एक ब्राह्मण के पुत्र थे। इनका गृहस्थाश्रम का नाम गुरुमूर्ति था। ये शक्ति के उपासक थे पर तान्त्रिक नहीं थे। ४७ वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् प्रभव सम्वत् में श्रावण कृष्ण अष्टमी को इन्होंने गडिलम नदी के किनारे के थे इसी स्थान में शरीर छोड़ा।

४८. चंद्रचूड द्वितीय—इनके पिता का नाम अरुणगिरि था और इनका गृहस्थाश्रम का नाम गणेश था। ये शाक्त थे तथा अपने गुरु के साथ शक्ति की आराधना के निमित्त इन्होंने अग्नि में एक करोड़ आहुतियाँ दी थीं। ५० वर्ष तक पीठस्थ रहने के पश्चात् दुर्मुख सम्वत् में ज्येष्ठ शुक्लपक्षी को गुडिलम नदी के समीप इन्होंने शरीर छोड़ा।

४९. विद्यातीर्थ—ये विल्वारण्य निवासी शङ्गपाणि के पुत्र थे। इनका गृहस्थाश्रम का नाम सर्वज्ञ विष्णु था। ये प्रसिद्ध वेदभाष्यकर्ता सायणाचार्य तथा माधवाचार्य (जिन्हें विद्यारण्य भी कहते हैं) के गुरु[1] थे। प्रसिद्ध वैष्णव दार्शनिक

[1]प्रणम्य परमात्मनं श्री विद्यातीर्थरूपिणम्।
जैमिनीयन्यायमाला श्लोकैः संगृह्यते स्फुटम्॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम्॥ सायणकृत, ऋ० भा० भू०

४	ज्योतिर्मठ	बदरिकाश्रम	उत्तर	आनन्दवार	गिरि पर्वत सागर	नारायण	पूर्णागिरि	तोटकाचार्य	अलकनन्दा	आनन्द	अथर्व	अयमात्मा ब्रह्म	भृगु	कुरु, काश्मीर पान्चाल कम्बोज
५	सुमेरु	कैलास	ऊर्ध्वाम्नाय	काशी	सत्यज्ञान	निरंजन	माया	महेश्वर	मानस महा तत्त्वावगाहितम्	....	सामवेद			
६	परमात्म मठ	नभस्सरोवर	आत्माम्नाय	सन्तोष	योग	परमहंस	मानसीमाया	चेतन	त्रिपुट	सन्यासी				
७	सहस्रार्कद्युतिमठ	अनुभव	निष्कलाम्नाय	सच्छिष्य.	गुरुपादुका	विश्वरूप	चिच्छक्ति	सद्गुरु	सत्शास्त्र श्रवणम्	सन्यास				

उपपीठ

इन प्रधानमठों से सम्बद्ध अनेक उपपीठ भी विद्यमान हैं जिनकी संख्या कुछ कम नहीं है। ऐसे प्रधान उपपीठों के नाम हैं—कूडली मठ, संकेश्वर मठ, पुष्पगिरि मठ, विरूपाक्ष मठ, हवंक मठ, शिवगङ्गा मठ, कोप्पल मठ, श्रीशैल मठ, रामेश्वर मठ आदि। ये मठ, प्रधान मठ के ही अन्तर्गत माने जाते हैं जैसे कूडली मठ तथा सङ्केश्वर मठ शृंगेरी मठ से पृथक होने पर भी उसकी अध्यक्षता तथा प्रभुता स्वीकार करते हैं। सङ्केश्वरमठ के पृथक् होने की घटना यों बतायी जाती है—मठ के अध्यक्ष शङ्कराचार्य तीर्थाटन करने के लिए बदरीनाथ गये और अपने स्थान पर किसी दूसरे व्यक्ति को मठ की देखरेख करने के लिए रख गये। अपने लौटने की अवधि तीन वर्ष बता दी। बीचमें आकर किसी ने आचार्य के देहपात की बात उड़ा दी। बस स्थानापन्न व्यक्ति स्वयं मठाध्यक्ष बन गये। जब आचार्य लौटे और कोल्हापुर तक पहुँचे तब उन्हें इस घटनाचक्र का पता लगा। वे वहीं रह गये तथा उन्होंने सङ्केश्वरमठ की स्थापना की। यही इसका इतिहास बताया जाता है। इसी प्रकार गुजरात में धागड़ मठ द्वारिका के शारदामठ से पृथक हुआ है। परन्तु वह उसी के अन्तर्गत माना जाता है। इन उपपीठों के इतिहास की खोज करने की आवश्यकता है। सामग्री न मिलने के कारण उनका विशेष परिचय नहीं दिया जा सका।

इन मठों के अपनी विशिष्ट मुद्रा (मुहर) है जिनसे वहाँ के शासनपत्र अङ्कित किये जाते हैं। आचार्यों की विशिष्ट विरुदावली है जिसे श्रीमुख कहते हैं। ये अलङ्कार संकुल गद्य में हैं। अनावश्यक समझ कर उन्हें नहीं दिया जाता। जिज्ञासु पाठक उन्हें वङ्कटेश्वर प्रेस से छपे 'रत्नप्रभा' के साथ शाङ्करभाष्य की भूमिका में देख सकते हैं।

मठाध्यक्षों को उपदेश

आचार्य ने केवल मठों की स्थापना करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर दी बल्कि इन मठाध्यक्षों के लिये ऐसी व्यावहारिक सुव्यवस्था भी बाँध दी जिसके अनुसार चलने से उनके महान् धार्मिक उपदेश की सर्वांशतः पूर्ति होती है। आचार्य के ये उपदेश महानुशासन के नाम से प्रसिद्ध हैं। आचार्य का यह कठोर नियम था कि मठ के अधिपति लोग अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिये, तथा धर्म के प्रचार करने के लिये अपने निर्दिष्ट प्रान्तों में सदा भ्रमण किया करें। उन्हें अपने मठ में नियमित रूप से निवास नहीं करना चाहिये। उन्हें अपने-अपने देशों में आचार्य प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म तथा सदाचार की रक्षा विधिपूर्वक करनी चाहिये। आलस्य करने से धर्म नष्ट हो जाने का डर सदा बना रहता है। इसलिये उत्साहित होकर धर्म की रक्षा में लगना प्रत्येक मठ के आचार्य का पवित्र कर्तव्य है। एक मठ के अध्यक्ष को दूसरे मठ के अध्यक्ष के

विभाग में प्रवेश न करना चाहिये। सब आचार्यों को मिलकर भारतवर्ष में एक महती धार्मिक सुव्यवस्था बनाये रखनी चाहिये जिससे वैदिक धर्म अक्षुण्ण रूप से प्रगति-शील बना रहे। मठके अधीश्वरों के लिये आचार्य का यही उपदेश है।

जो कोई भी व्यक्ति आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। इस पद के लिये अनेक सद्गुणों की नितान्त आवश्यकता है। पवित्र, जितेन्द्रिय, वेद, वेदाङ्ग में विशारद, योग का ज्ञाता सकल शास्त्रों में निष्णात पण्डित ही इन मठों की गद्दी पर बैठने का अधिकारी है। यदि मठाध्यक्ष इन सद्गुणों से युक्त न हो, तो विद्वानों को चाहिये कि उसका निग्रह करें, चाहे वह अपने पद पर भले ही आरूढ़ हो गया हो अर्थात् गुणहीन व्यक्ति के मठाधीश बन जाने पर भी उसे मठ की गद्दी से उतार देना ही शंकराचार्य की आज्ञा है :—

उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेत् मत्पीठभाग्भवेत्।
अन्यथा रूढपीठोपि, निग्रहार्हो मनीषिणाम्॥

इस नियम के बनाने में आचार्य का कितना व्यवहार-ज्ञान छिपा हुआ है, पण्डितों के सामने इसे प्रकट करने आवश्यकता नहीं। विद्वान् लोग ही धर्म के नियन्ता होते हैं अतः आचार्य ने मठाध्यक्षों के चरित्र की देख रेख इस देश के प्रौढ़ विद्वानों के ऊपर ही रख छोड़ी है। इस विषय में विद्वानों का बड़ा कर्तव्य है। गुणहीन संन्यासी धर्म की कथमपि सुव्यवस्था नहीं कर सकता। इसी कारण शंकराचार्य ने उसे पद से च्युत करने का अधिकार विद्वानों को दे दिया है। आचार्य ने इन अध्यक्षों को धर्म के उद्देश्य से राजसी ठाट-बाट से रहने का उपदेश दिया है परन्तु इसमें स्वार्थ की बुद्धि प्रबल न होकर उपकार बुद्धि ही मुख्य होनी चाहिये। पीठों के अध्यक्षों को तो स्वयं पद्मपत्र की तरह जगत् के व्यापारों से निर्लिप्त रहना चाहिये। उनका जीवन ही वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा के लिये है। उन्हें तन-मन-धन लगा कर इस कार्य के सम्पादन के लिये प्रयत्नशील बनना चाहिये। यदि वे ऐसा करने में समर्थ नहीं हैं तो उस महत्त्वपूर्ण पद के अधिकारी वे कभी भी नहीं हो सकते जिसकी स्थापना स्वयं आचार्यचरणों ने वैदिक धर्म के अभ्युदय के लिये अपने हाथ से की थी।

आचार्य के ये उपदेश कितने उदात्त, कितने उदार तथा कितने उपादेय हैं? इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य का व्यवहारज्ञान शास्त्रज्ञान की अपेक्षा कथमपि घटकर नहीं था। यह महानुशासन आर्य धर्म के लिये सचमुच महान् अनुशासन है। यदि आजकल मठाधीश्वर लोग इसके अनुसार चलने का प्रयत्न करते तो हमें पूरा विश्वास है कि विदेशी सभ्यता के सम्पर्क में आकर भारतीयों के हृदय में अपने धर्म के प्रति, अपने धर्मग्रन्थों के प्रति, अपने देवी-देवताओं के प्रति और अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति जो अनादर का भाव धीरे-धीरे घर करता जा रहा है वह न जाने कब का नष्ट हो गया होता और भारतीय

जनता निश्रेयस तथा अभ्युदय की सिद्धि करने वाले वैदिक धर्म की साधना में कब से जी जान से लग गयी होती।

शंकराचार्य के द्वारा उपदिष्ट 'महानुशासन' इस प्रकार उनकी धर्म प्रतिष्ठा की भावना को समझने में नितान्त उपादेय है। परन्तु मुझे दुःख है कि इस अनुशासन का मूल संस्कृत रूप साधारणतया अधूरा ही उपलब्ध होता है। अनेक हस्तलिखित प्रतियों को मिलाकर यहाँ उसके असली मजमून को पूर्णतः खोज निकाला गया है। अतः पाठकों की सुविधा के लिये यह महानुशासन यहाँ दिया जाता है —

महानुशासनम्

आम्नायाः कथिता ह्येते यतीनां च पृथक् पृथक्।
ते सर्वे चतुराचार्या नियोगेन यथाक्रमम्॥१॥
प्रयोक्तव्याः स्वधर्मेषु शासनीयास्ततोऽन्यथा।
कुर्वन्तु एव सततमटनं धरणीतले॥२॥
विरुद्धाचरणप्राप्तावाचार्याणां समाज्ञया।
लोकान् संशीलयन्त्वेव स्वधर्माप्रतिरोधतः॥३॥
स्वस्वराष्ट्रप्रतिष्ठित्यै संचारः सुविधीयताम्।
मठे तु नियतो वास आचार्यस्य न युज्यते॥४॥
वर्णाश्रमसदाचारा अस्माभिर्ये प्रसाधिताः।
रक्षणीयास्तु एवैते स्वे स्वे भागे यथाविधि॥५॥
यतो विनष्टिर्महती धर्मस्यात्र प्रजायते।
मान्द्यं सन्त्याज्यमेवात्र दाक्ष्यमेव समाश्रयेत्॥६॥
परस्परविभागे तु प्रवेशो न कदाचन।
परस्परेण कर्तव्या आचार्येण व्यवस्थितिः॥७॥
मर्यादाया विनाशेन लुप्येरन्नियमाः शुभाः।
कलहाङ्गारसम्भूतिरतस्तां परिवर्जयेत्॥८॥
परिव्राडार्यमर्यादो मामकीनां यथाविधि।
चतुःपीठाधिगां सत्तां प्रयुञ्ज्याच्च पृथक् पृथक्॥९॥
शुचिर्जितेन्द्रियो वेदवेदाङ्गादिविशारदः।
योगज्ञः सर्वतन्त्राणां स मदास्थानमाप्नुयात्॥१०॥
उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठभाग्भवेत्।
अन्यथा रूढपीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम्॥११॥
न जातु मठमुच्छिन्द्यादधिकारिण्युपस्थिते।
विघ्नानामपि बाहुल्यादेष धर्मः सनातनः॥१२॥
अस्मत्पीठसमारूढः परिव्राडुक्तलक्षणः।
अहमेवेति विज्ञेयो यस्य देव इति श्रुतेः॥१३॥

एक एवाभिषेच्यः स्यादन्ते लक्षणसम्मतः ।
तत्तत्पीठे क्रमेणैव न बहु युज्यते क्वचित् ॥१४॥
सुधन्वनः समौत्सुक्य निवृत्यै धर्महेतवे ।
देवराजोपचारांश्च, यथावदनुपालयेत् ॥१५॥
केवलं धर्ममुद्दिश्य विभवो ब्राह्मचेतसाम् ।
विहितश्चोपकाराय पद्मपत्रनयं व्रजेत् ॥१६॥
सुधन्वा हि महाराजस्तदन्ये च नरेश्वराः ।
धर्मपारम्परीमेतां पालयन्तु निरन्तरम् ॥१७॥
चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं वाङ्मनः कायकर्मभिः ।
गुरोः पीठं समर्चेत विभागानुक्रमेण वै ॥१८॥
धरामालम्ब्य राजानः प्रजाभ्यः करभागिनः ।
कृताधिकारा आचार्या धर्मतस्तद्वदेव हि ॥१९॥
धर्मो मूलं मनुष्याणां, स चाचार्यावलम्बनः ।
तस्मादाचार्यसुमणेः, शासनं सर्वतोऽधिकम् ॥२०॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शासनं सर्वसम्मतम् ।
आचार्यस्य विशेषेण ह्यौदार्यभरभागिनः ॥२१॥
आचार्याक्षिप्तदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मला स्वर्गमायान्ति, सन्तः सुकृतिनो यथा ॥२२॥
इत्येवं मनुरप्याह गौतमोऽपि विशेषतः ।
विशिष्टशिष्टाचारोऽपि, मूलादेव प्रसिद्ध्यति ॥२३॥
तानाचार्योपदेशांश्च राजदण्डांश्च पालयेत् ।
तस्मादाचार्यराज्ञानावनवद्यौ न निन्दयेत् ॥२४॥
धर्मस्य पद्धतिर्ह्येषा जगतः स्थितिहेतवे ।
सर्वं वर्णाश्रमाणां हि यथाशास्त्रं विधीयते ॥२५॥
कृते विश्वगुरुर्ब्रह्मा त्रेतायामृषिसत्तमः ।
द्वापरे व्यास एव स्यात् कलावत्र भवाम्यहम् ॥२६॥
॥ इति महानुशासनम् ॥

दशनामी सम्प्रदाय

दशनामी सन्यासी सम्प्रदाय भी आचार्य शङ्कर के साथ सम्बद्ध है। आदि सम्प्रदाय का प्रभुत्व भारतवर्ष के हर एक प्रान्त में व्यापक रूप से दीख पड़ता है। इस सम्प्रदाय के महन्तों के हाथ में अतुल सम्पत्ति है जिसका उपयोग लोकोपकार के कार्यों में भी होता है। जिस उद्देश्य से इस सम्प्रदाय की स्थापना की गई वह महान् उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब उसके मठ के धन का उपयोग लोककल्याण के कार्यों में विशेष रूप से किया जाय।

दशनामी शब्द का अर्थ है दश नाम को धारण करने वाले। ये दशनाम निम्नलिखित हैं :—(१) तीर्थ (२) आश्रम (३) वन (४) अरण्य (५) गिरि (६) पर्वत (७) सागर (८) सरस्वती (९) भारती (१०) पुरी। इन उपाधियों के रहस्य का परिचय आचार्य के मठाम्नाय से भलीभाँति चलता है। इन पदवियों की कल्पना भौतिक न होकर आध्यात्मिक है।

(१) तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का प्रतीक त्रिवेणी संगम है। उस संगम रूपी तीर्थ में जो व्यक्ति तत्त्वार्थ जानने की इच्छा से स्नान करता है वह 'तीर्थ'[1] के नाम से अभिहित होता है।

(२) जिस पुरुष के हृदय से आशा, ममता, मोह आदि बन्धनों का सर्वथा नाश हो गया है, आश्रम के नियम धारण करने में जो दृढ़ है तथा आवागमन से सर्वथा विरहित है उसकी संज्ञा 'आश्रम'[2] है।

(३) जो मनुष्य सुन्दर, शान्त, निर्जन वन में निवास करता है तथा जगत् के बन्धनों से सर्वदा निर्मुक्त रहता है उसका नाम है 'वन'[3]।

(४) जो इस विश्व को छोड़कर जंगल में निवास करता हुआ नन्दन वन में रहने के आनन्द को सदा भोगा करता है उसे 'आरण्य'[4] नाम से पुकारते हैं।

(५) जो गीता के अभ्यास करने में तत्पर हो, ऊँचे पहाड़ों के शिखरों पर निवास करता हो, गम्भीर निश्चित बुद्धि वाला हो उसे 'गिरि'[5] कहते हैं।

(६) समाधि में लगा हुआ जो व्यक्ति पहाड़ों के मूल में निवास करे, जगत के सार और असार से भली भाँति परिचित हो वह 'पर्वत'[6] कहलाता है।

(७) गम्भीर समुद्र के पास रहने वाला जो व्यक्ति अध्यात्म शास्त्र के उपदेश रूपी रत्नों को ग्रहण करे तथा अपने आश्रम की मर्यादा का कदापि उल्लंघन न करे उसे समुद्र के समान होने से 'सागर'[7] कहते हैं।

---

[1] त्रिवेणीसंगमे तीर्थे तत्त्वमस्यादिलक्षणे।
स्नायात् तत्त्वार्थभावेन तीर्थनामा स उच्यते॥

[2] आश्रमग्रहणे प्रौढः आशापाशविवर्जितः।
यातायातविनिर्मुक्त एतदाश्रमलक्षणम्॥

[3] सुरम्यनिर्जने देशे वासं नित्यं करोति यः।
आशापाशविनिर्मुक्तो वननामा स उच्यते॥

[4] अरण्ये संस्थितो नित्यमानन्दं नन्दने वने।
त्यक्त्वा सर्वमिदं विश्वमारण्यं लक्षणं किल॥

[5] वासो गिरिवरे नित्यं गीताभ्यासे हि तत्परः।
गम्भीराचलबुद्धिश्च गिरिनामा स उच्यते॥

[6] वसेत्पर्वतमूलेषु प्रौढो यो ध्यानतत्परः।
सारासारं विजानाति पर्वतः परिकीर्तितः॥

[7] वसेत्सागरगम्भीरे घनरत्नपरिग्रहः।
मर्यादाश्चानलङ्घ्येन सागरः परिकीर्तितः॥

(८) स्वर (श्वास) का ज्ञान रखने वाला जो पण्डित वेद के स्वरों से भली-भाँति परिचित हो तथा संसाररूपी सागर के रत्नों का पारखी हो उसकी पदवी 'सरस्वती'[1] होती है।

(९) भार धारण करने के कारण 'भारती' संज्ञा मिलती है। जो व्यक्ति विद्या के भार से सम्पूर्ण है और जगत् के सब भारों को छोड़ दे तथा दुःख के भार को न जानता हो वह 'भारती'[2] उपाधि से मण्डित होता है।

(१०) पुरी वही है जो पूर्ण है—तत्त्वज्ञान से पूर्ण हो, पूर्णपद में स्थित हो, परब्रह्म में विरत हो—इतनी जिसकी योग्यता हो वह 'पुरी' की पदवी का अधिकारी है[3]।

इन नामों की यह व्याख्या स्वयं आचार्यकृत है। इससे स्पष्ट है कि यह उन्हीं लोगों के लिये प्रयोग किया जाता था जिनमें इन पदवियों के धारण करने की योग्यता प्रचुर मात्रा में थी। यही तो इसका वास्तविक रूप आरम्भिक काल में था। परन्तु जब इन नामों से सम्प्रदाय चल निकले, अब जो कोई व्यक्ति तत्तत् सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रवेश करता है वही उस नाम से पुकारा जाता है। गुणदोष का विचार कौन करे।

दशनामी सम्प्रदाय की उत्पत्ति कब हुई यह एक बड़ी विषम समस्या है। विशेष अन्वेषण करने पर भी यह समस्या अभी तक हल नहीं हुई है। सम्प्रदाय में बहुत सी दन्तकथाएँ सुनी जाती हैं जिनका तारतम्य ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचनीय है। एक बात और भी है। दशनामी लोग तो अपना सम्बन्ध साक्षात् रूप से आचार्य के साथ ही स्थापित करते हैं परन्तु दण्डी संन्यासी सम्प्रदाय इस बात को पूर्ण रूप से मानने के लिये तैयार नहीं हैं। दण्डियों की दृष्टि में दशनामियों का स्थान कुछ घट कर है। इनकी उत्पत्ति के विषय में यह कथानक प्रचलित है। सुनते हैं कि शङ्कराचार्य अपने चार पट्टशिष्य तथा अन्य शिष्यों के साथ किसी यात्रा में चले जा रहे थे। रास्ते में एक सुन्दर बगीचा मिला जहाँ पेड़ों से ताड़ी चुआकर रक्खी हुई थी। शिष्यों को प्यासा जानकर उन्होंने उसे पीने की आज्ञा दी। शिष्यों ने भरपेट पिया। आगे बढ़ने पर एक स्थान पर ताँबा गलाया जा रहा था। उन्होंने शिष्यों को आज्ञा दी कि ताँबा को पी डालो। प्रभावशाली चार शिष्यों ने तो गले हुए जलते ताँबे को पी डाला। अन्य शिष्य भाग खड़े हुए। उसी समय आचार्य ने आज्ञा उल्लङ्घन करने के कारण

उत्पत्ति

---

[1] स्वरज्ञानवशो नित्यं स्वरवादी कवीश्वरः।
संसारसागरे सारामिज्ञो यः स सरस्वती॥

[2] विद्याभारेण सम्पूर्णः सर्वभारं परित्यजेत्।
दुःखभारं न जानाति भारती परिकीर्तितः॥

[3] ज्ञानतत्त्वेन सम्पूर्णः पूर्णतत्त्वपदे स्थितः।
परब्रह्मरतो नित्यं पुरीनामा स उच्यते॥

— मठाम्नाय

इन शिष्यों को दण्डिशिष्यों की अपेक्षा हीन कोटि में परिगणित किया। दशनामी संन्यासियों की उत्पत्ति इन्हीं इतरशिष्यों से है। पता नहीं इस किंवदन्ती में सत्य की कितनी मात्रा है। परन्तु यह सर्वत्र व्यापक तथा बहुलीभूत[1] है।

इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति जब हुई हो और जैसे हुई हो, पर इतना तो निश्चित है कि इसके स्थापित होने का उद्देश्य नितान्त महान् और उच्च है। इस भव्य भारत भूमि में वैदिक धर्म को बनाए रखना, विरोधी आततायी यवनों से सनातनधर्मावलम्बी जनता की रक्षा करना, वैदिक धर्म का प्रचार तथा प्रसार—इस संस्था के उदय के भीतर प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। दशनामी सम्प्रदाय के संन्यासियों ने इस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिये अश्रान्त परिश्रम किया है और आज भी कर रहे हैं। मध्यकाल में विदेशियों से अपने धर्म की रक्षा करने के लिए इन्होंने हथियार भी धारण किया। राजपूताना तथा मध्यप्रदेश के अनेक संन्यासी संस्थाओं का परिचय हमें मिलता है जिसके अध्यक्ष गोसाईं कहलाते थे, प्रभूत भूमि के अधिपति थे तथा उन्होंने अपनी एक खास हथियारबन्द सेना भी तैयार कर रक्खी थी। ऐसे राजाओं का परिचय हमें गुप्तकाल के इतिहास में भी मिलता है जहाँ ये लोग 'परिव्राजक राजा' के नाम से विख्यात हैं। इनके अनेक शिलालेख भी मिलते हैं जिनमें परिव्राजक महाराज के शिलालेख विशेष महत्त्व के हैं। मध्ययुग में इनकी प्रभुता विशेष बढ़ गई थी हिम्मतबहादुर 'गिरि' ऐसे ही एक लड़ाकू सरदार थे जिनके युद्धों का वर्णन महाकवि पद्माकर ने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में बड़े ओज भरे छन्दों में किया है। ऐसी संस्थाएँ राजाओं को भी अवसर आने पर शत्रुओं से रक्षा करने के लिये अस्त्र-शस्त्र की सहायता देती थीं; स्वयं उनकी ओर से शत्रुओं को लड़कर परास्त करती थीं[2]। मारवाड़, विशेषतः जयपुर में इनका प्रभुत्व रहा है और किसी मात्रा में अब भी है। शस्त्रधारी नागा लोग इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं।

गोसाइयों का इतिहास

दशनामी सम्प्रदाय के अखाड़ों में ५२ मढ़ी बतलाई जाती हैं[3]। और मुख्यतः पाँच या छः अखाड़े हैं। प्रसिद्ध अखाड़ों के नाम इस प्रकार हैं—(१) पञ्चायती अखाड़ा महानिर्वाणी, मुख्य स्थान प्रयाग। (कपिलदेव की मुख्य उपासना), (२) पञ्चायती अखाड़ा निरञ्जनी, सदर मुकाम प्रयाग (स्वामी कार्तिकेय

---

[1] लेखक से यह किंवदन्ती द्वारकापीठ के शंकराचार्य श्री राजराजेश्वराश्रम ने स्वयं अपने मुँह से कही थी।

[2] द्रष्टव्य गोस्वामी पृथ्वीगीर हरिगीर लिखित (गोसावी व त्यांचा सम्प्रदाय) भाग १ पृष्ठ २०६—२१४

[3] इन अखाड़ों की विशेष जानकारी के लिये देखिए 'गोसावी व त्यांचा सम्प्रदाय' भाग १ पृष्ठ २०४—२१७।

की उपासना (३) अखाड़ा अटल (श्रीगणेश की उपासना) (४) भैरव (भैरव जी की उपासना) इस अखाड़े का प्रसिद्ध नाम 'जूना' है। (५) अखाड़ा आनन्द (दत्तात्रेय की उपासना) (६) अखाड़ा अग्नि (अग्निदेव की उपासना) (७) अखाड़ा अमान—इस अखाड़े में बड़े शूरवीर हो गए हैं जिन्होंने लखनऊ के नवाब से सम्मान पाया था, जिनमें अनूपगिरि, उमराव गिरि, हिम्मतबहादुर गिरि आदि मुख्य हैं। इन बड़े बड़े सात अखाड़ों में अटल अखाड़ा (नं० ३) सबसे प्राचीन है। बादशाही जमाने में इनके साथ तीन लाख 'मूर्त्ति' रहते थे। बाण विद्या के जानने में ये बड़े योग्य थे। यह अखाड़ा बड़ा ही शूरवीर था और अधिकतर जोधपुर की तरफ रहता था। जिस समय मुसलमान जोधपुर पर चढ़ाई कर राजा से कर वसूल करने आये थे उस समय अखाड़ा यहाँ पहुँचा और मुसलमानी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया। इस समय केवल 'निर्वाणी' और 'निरञ्जनी' सबसे प्रसिद्ध हैं। इन अखाड़ों के विशेष नियम हैं। ये अखाड़े व्यवस्थित संस्थाएँ हैं जिनकी शाखाएँ अन्य प्रान्तों में भी फैली हैं और जिनमें प्रवेश करने वाले साधुओं को विशिष्ट नियमों का पालन करना पड़ता है।

अखाड़े

इन अखाड़ों के पास बड़ी भारी सम्पत्ति है। क्या ही अच्छा होता कि इसका सदुपयोग देश तथा धर्म के कल्याणकारी कार्यों में किया जाता। इन अखाड़ों के महन्तों में योग्यता की कमी नहीं है। प्रयाग तथा हरिद्वार के कुम्भ स्नान के अवसर पर इनका अच्छा जमाव होता है। किसी भी विवेकी पुरुष को यह जानते देर न लगेगी कि इन सन्यासियों के भीतर राष्ट्र तथा धर्म के मंगल की बड़ी भारी शक्ति छिपी हुई है। उचित मार्ग पर लगाने से इनसे हमारा बड़ा उपकार होगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। दशनामियों के सदस्यगण लोग बड़े विद्वान्, सदाचारी, नैष्ठिक तथा आत्मवेत्ता होते आए हैं और किसी मात्रा में आज भी हैं। संन्यासियों की ये व्यापक संस्थाएँ आचार्य की दूरदर्शिता को भली भाँति सूचित करती हैं।

सप्तदश परिच्छेद

अद्वैत वेदान्त का इतिहास

आचार्य शङ्कर अद्वैत वेदान्त के सबसे प्रौढ़ तथा प्रामाणिक व्याख्याता थे। यह वेदान्त भारतीय अध्यात्म शास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। भारतीय हिन्दू जनता का यही सर्वमान्य सिद्धान्त है। वेदान्त का मूल स्रोत उपनिषद् है। वेदान्त का मूल जानने के लिए उपनिषदों का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। वेदान्त 'वेद' और 'अन्त' इन दो शब्दों के योग से बना हुआ है। अतः इसका व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है 'वेद का अन्त'। अन्त शब्द का अर्थ है रहस्य या सिद्धान्त अतः वेदान्त का अर्थ हुआ वेद का मन्तव्य, वेद का प्रतिपाद्य सिद्धान्त। इस अर्थ में वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही सबसे पहले उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर[1], मुण्डक[2] तथा महानारायण[3] उपनिषद् में इस शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। कालान्तर में उपनिषदों के सिद्धान्तों का समझना दुरूह होने लगा क्योंकि उनमें आपाततः अनेक विरोध दिखलाई पड़ने लगे। इन्हीं विरोधों के परिहार के लिए तथा एकवाक्यता लाने के लिए महर्षि बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। यह ग्रन्थ तो केवल पाँच सौ पचपन सूत्रों का नितान्त स्वल्प कलेवर ग्रन्थ है परन्तु इसे वेदान्त का आकर-ग्रन्थ समझना चाहिए। आचार्य शङ्कर ने सबसे पहले इन्हीं सूत्रों पर महान भाष्य लिखा और इसमें इन्होंने अपने सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा कर दी। आचार्य शङ्कर का यह कार्य इतना उपादेय प्रमाणित हुआ कि अवान्तर काल के अनेक आचार्यों ने अपने मतानुसार भाष्य-ग्रन्थों की रचना की। ये सूत्र-ग्रन्थ समय की दृष्टि से नितान्त प्राचीन हैं। ये सूत्र भिक्षुओं अर्थात् संन्यासियों के लिए उपादेय हैं इसलिए इन्हें भिक्षु-सूत्र भी कहते हैं। पाणिनि ने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' में पाराशर्य भिक्षु-सूत्रों का उल्लेख किया है। पाराशर्य का अर्थ है पराशर का पुत्र। ब्रह्मसूत्र भी पराशर के पुत्र बादरायण व्यास के द्वारा विरचित हैं, अतः अष्टाध्यायी में उल्लिखित भिक्षुसूत्र तथा प्रकृत ब्रह्मसूत्र की अभिन्नता मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। भगवद्गीता में भी १३।४ में ब्रह्मसूत्र का उल्लेख है[4]। इस शब्द के समुचित अर्थ के विषय में टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद

---

[1] 'वेदान्ते परमं गुह्यं' —श्वेता० ६।२२।

[2] वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः —मुण्डक ३।२।६

[3] वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः —महाना० १०।८

[4] ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः। (गीता १३।४)

है। श्रीधर स्वामी की सम्मति में गीता ब्रह्मसूत्रों का ही उल्लेख करती है। यदि यह बात सच हो तो ब्रह्मसूत्रों का समय विक्रम पूर्व पंचम शतक से उधर कर नहीं है। तर्कपाद में सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद के खण्डन अवश्य उपलब्ध होते हैं। परन्तु इससे पूर्वोक्त सिद्धान्त को तनिक भी हानि नहीं पहुँचती। क्योंकि भारतीय अध्यात्म शास्त्र के इतिहास में ये मत गौतमबुद्ध से भी प्राचीन हैं। परवर्ती काल में वसुबन्धु तथा असङ्ग के साथ इन मतों का घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है इन आचार्यों ने इन मतों की प्रथम उद्भावना की। ये तो केवल तर्कबहुल ग्रन्थ की रचना कर इन मतों के व्यवस्थापक मात्र थे।

ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ बहुत ही स्वल्पकाय है परन्तु विषय प्रतिपादन के विचार से यह नितान्त महत्त्वपूर्ण है। अवान्तर काल के आचार्यों ने इसके ऊपर प्रामाणिक भाष्य लिखकर अपने मत की पुष्टि के लिए आधार खोज निकाला है। इन भाष्यकारों में निम्नलिखित विशिष्ट मत के स्थापक होने से नितान्त प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार

संख्या	नाम	भाष्यनाम	मत
१.	शङ्कर (७८८-८२०)	शारीरकभाष्य	निर्विशेषाद्वैत
२.	भास्कर (१०००)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३.	रामानुज (११५०)	श्री भाष्य	विशिष्टाद्वैत
४.	मध्व (१२३८	पूर्णप्रज्ञ	द्वैत
५.	निम्बार्क (१२५०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
६.	श्री कण्ठ (१२७०)	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
७.	श्रीपति (१४००)	श्रीकर भाष्य	शक्ति विशिष्टाद्वैत
८.	वल्लभ (१५००)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९.	विज्ञानभिक्षु (१६००)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१०.	बलदेव (१७२५)	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

इन भाष्यों में केवल सिद्धान्तों का ही अन्तर नहीं है प्रत्येक सूत्रों की संख्या तथा उनका रूप, अधिकरणों की संख्या में भी महान् अन्तर है। कोई सूत्र किसी भाष्यकार के मत से पूर्व पक्ष है तो दूसरे की सम्मति में वह उत्तरपक्ष (अर्थात् सिद्धान्त) है। सूत्रों की तथा अधिकरणों की संख्या शङ्कर के अनुसार क्रमशः ५५५, और १९१ है। रामानुज मत में ५४८ और १६० है; माध्व मत में ५६४ और २२३ है। निम्बार्कमत में ५४६ और १५१ है, श्रीकण्ठ के अनुसार ५४४ और १८२ तथा वल्लभ मत में ५५४ और १७१ है।

ब्रह्मसूत्र अल्पाक्षर होने के कारण बहुत ही दुरूह है। बिना किसी वृत्ति या भाष्य की सहायता से उनका अर्थ समझना असम्भव नहीं तो दुःसम्भव अवश्य है। ब्रह्मसूत्र के आध्यात्मिक सिद्धान्त कौन कौन से हैं? इसका यथोचित उत्तर देना बहुत ही कठिन है। साम्प्रदायिक भाष्यकारों की व्याख्याएँ हमें इतनी उलझन में लगा देती हैं कि सूत्रकार का अपना मत जानना एक विषम समस्या सी प्रतीत होने लगती है। इस विषय की चर्चा करने के पहले ब्रह्मसूत्र के विषय का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय का नाम 'समन्वयाध्याय' है जिसमें समग्र वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य साक्षात् रूप से या परम्परा रूप से अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में ही बताया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में उन वाक्यों का विचार किया गया है जिनमें ब्रह्मद्योतक चिन्ह स्पष्ट तथा वर्तमान हैं। आरम्भ के चार सूत्र सिद्धान्त की दृष्टि से महत्त्वशाली माने जाते हैं। इन्हीं का नाम 'चतुःसूत्री' है। द्वितीय पाद में उन वाक्यों का विवेचन है जो अस्पष्ट ब्रह्मलिंग से युक्त और उपास्य ब्रह्म के विषय में हैं। तृतीय पाद में प्रायः ज्ञेय-ब्रह्म-विषयक वाक्यों का विचार है। अन्तिम पाद में अज, अव्यक्त, आदि शब्दों के अर्थ का विवेचन है जिन्हें सांख्यवादी प्रधान के लिए प्रयुक्त बतलाते हैं।

दूसरे अध्याय का नाम है 'अविरोधाध्याय' जिसमें स्मृति और तर्क आदि के द्वारा सम्भावित विरोध का परिहार कर ब्रह्म की स्थिति के विषय में सब प्रकार से अविरोध दिखलाया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद का नाम है 'स्मृतिपाद' क्योंकि यहाँ सांख्य, योग आदि स्मृतियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। दूसरे पाद का नाम है 'तर्क पाद' जिसमें सांख्य, वैशेषिक, जैन, सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद(बौद्ध), पाशुपत तथा पाञ्चरात्र[1] मतों का प्रबल युक्तियों से क्रमशः खण्डन कर वेदान्त मत की प्रतिष्ठा की गयी है। ये दोनों पाद तर्क युक्तियों की सूक्ष्मता, समर्थता तथा व्यापकता के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। तीसरे पाद में दो विभाग हैं। पूर्व भाग में महाभूत की सृष्टि आदि के विषय में श्रुति में जो कहीं कहीं विरोध दिखलाई पड़ता है उसका परिहार है। उत्तर भाग में जीव के स्वरूप का वर्णन है। चौथे पाद का विषय है इन्द्रिय आदि के विषय में उपलब्ध होने वाली श्रुतियों के विरोध का परिहार। इस प्रकार इस अध्याय में तर्क की सहायता से विरोधियों के सिद्धान्तों का खण्डन कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि उपनिषदों के द्वारा प्रतिपाद्य एकमात्र ब्रह्म ही है।

तीसरे अध्याय का नाम है 'साधनाध्याय' जिसमें वेदान्त के लिए उपयुक्त साधनमार्ग का विवेचन है। प्रथम पाद में तो जीव के परलोक-गमन का विचार

[1] यह कथन शाङ्कर भाष्य के अनुसार है। रामानुज के श्रीभाष्य के अनुसार सूत्रकार पांचरात्र का मण्डन ही करते हैं, खण्डन नहीं। इस विरोध का परिहार करना नितान्त कठिन है।

कर वैराग्य का निरूपण किया गया है। दूसरे पाद में पहले तो 'त्वं' पदार्थ का परिशोधन है और उसके अनन्तर तत् पदार्थ का। तीसरे पाद में सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन कर सगुण विद्याओं का विशेष वर्णन है। चौथे पाद में निर्गुण ब्रह्म विद्या के बहिरङ्ग साधन—आश्रम धर्म, यज्ञदान आदि का तथा अन्तरङ्ग साधन—शम, दम, निदिध्यासन आदि का विस्तृत निरूपण किया गया है।

चौथे अध्याय का नाम है 'फलाध्याय'। इसमें सगुण विद्या और निर्गुण विद्या के विशिष्ट फलों का पृथक्-पृथक् निरूपण है। इस अध्याय के पहले पाद में श्रवण आदि की आवृत्ति से निर्गुण ब्रह्म की उपलब्धि कर अथवा उपासना की आवृत्ति से सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार कर जीवित रहने वाले पुरुष की जीवन्मुक्ति का वर्णन है। दूसरे पाद में मरने वाले व्यक्ति के उत्क्रान्ति का वर्णन है। तीसरे पाद में सगुण ब्रह्मविद्या के वेत्ता पुरुष को मरने के अनन्तर होने वाली गति का प्रतिपादन है। अन्तिम पाद में निर्गुण ब्रह्म के ज्ञाता पुरुष के लिए विदेह मुक्ति तथा सगुण ब्रह्मवेत्ता पुरुष के लिए ब्रह्मलोक में स्थिति का कथन है। ब्रह्मसूत्र के इस संक्षिप्त परिचय से हमें ब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के साधन और फल का विशद वर्णन उपलब्ध होता है।

सूत्रकार बादरायण के सिद्धान्तों का निरूपण करना कठिन अवश्य है परन्तु भाष्यों की सहायता से उसका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यह कहना बहुत ही कठिन है कि परवर्ती काल के किस भाष्यकार ने सूत्रकार के मूल सिद्धान्तों को अपनाया है। सच तो यह है कि साम्प्रदायिक भाष्यकारों की दृष्टि अपने विषय की ही ओर अधिक झुकने के कारण मूल अर्थ के स्वारस्य की रक्षा नहीं कर सकी। जीव आदि के विषय में बादरायण का मत यों प्रतीत होता है[1]:—

जीव—ब्रह्म की अपेक्षा जीव न परिमाण में अणु प्रतीत होता है। यह ब्रह्म के साथ बिल्कुल अभिन्न नहीं है। और साथ ही साथ उससे बिल्कुल भिन्न भी नहीं है। जीव ब्रह्म का अंश है। जीव चेतन स्वरूप है। यह ज्ञाता है अथवा ज्ञान को उसका धर्म कह सकते हैं। जीव क्रियाशील है। उसका यह कर्तृत्व ब्रह्म से ही आविर्भूत होता है।

ब्रह्म—ब्रह्म ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है (ब्र. सू. १।१।२)। ब्रह्म चेतनरूप है तथा चेतन और अचेतन उभय प्रकार के पदार्थों का वही कारण है (२।१।४—११)। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है तथा साथ ही साथ निमित्त कारण भी है (१।४।२३)। ब्रह्म की उपासना करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है और यही ज्ञान मुक्ति प्रदान करता है (३।४।५१—५२) ब्रह्म एक है; उसमें ऊँच नीच का किसी प्रकार का भेद नहीं।

[1] विशेष के लिए द्रष्टव्य—Ghate—'The Vedant' pp. 179-184 तथा स्वामी विद्यानन्दकृत ब्रह्मसूत्र-भाष्य निर्णय।

कारण—कारण का ही परिणाम कार्य है। सूत्रकार परिणामवाद के पक्षपाती प्रतीत होते हैं विवर्तवाद के नहीं। 'आत्मकृतेः परिणामात्' (१।४।२६) में परिणाम शब्द का स्पष्ट निर्देश है। ब्रह्म के ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रुति ही हमारा प्रधान साधन है। ब्रह्म तर्क का विषय नहीं हो सकता। श्रुति के अनुकूल होने पर ही तर्क का आदर है (२।१।११)।

(२)

आर्ष वेदान्त

आजकल प्राचीन वेदान्त का स्वरूप जानने के लिए केवल एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है। यह ग्रन्थ बादरायण व्यास रचित ब्रह्मसूत्र है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से पता चलता है कि प्राचीन काल में अनेक ऋषियों ने वेदान्त के विषय में अपने सिद्धान्त का निर्धारण कर रखा था जिनका उल्लेख ब्रह्मसूत्र में किया गया है। सम्भवतः इन ऋषियों के द्वारा विरचित सूत्रग्रन्थ रहे होंगे। परन्तु ये ग्रन्थ कालकवलित होने से कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। बादरायण के द्वारा निर्देश किए जाने के कारण इतना तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि ये ऋषि लोग इस विषय में विशेष प्रभावशाली थे। इनमें से कई लोगों का नाम जैमिनि के सूत्रों में भी उपलब्ध होता है। इस प्राचीन संप्रदाय का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आत्रेय

इनका नाम ब्रह्मसूत्र में एक बार उल्लिखित हुआ[1] है। सूत्र का विषय उपासना के विषय में है। अङ्गाश्रित उपासना दोनों प्रकार से हो सकती है—यजमान के द्वारा तथा ऋत्विक् के द्वारा। अब संशय यह उत्पन्न होता है कि अङ्ग उपासना का फल किस व्यक्ति को प्राप्त होगा। इस विषय में आत्रेय की सम्मति उद्धृत की गयी है कि यह फल स्वामी अर्थात् यजमान को ही प्राप्त होता है। मीमांसा सूत्र[2] में भी आत्रेय का नाम दो बार उल्लिखित हुआ है (४।३।१८) (६।१।२६) महाभारत में भी निर्गुण ब्रह्म विद्या के उपदेशक रूप में एक आत्रेय का नाम पाया जाता है (१३।१३७।३) परन्तु ये आत्रेय ब्रह्मसूत्र में निर्दिष्ट आत्रेय से भिन्न हैं या अभिन्न ? इसका निर्णय यथाविधि नहीं किया जा सकता।

आश्मरथ्य

ब्रह्म सूत्र में आश्मरथ्य का नाम दो बार आया है। (ब्रह्मसूत्र १।२।२९, १।४।२० (क) प्रसङ्ग 'प्रादेशमात्र' शब्द की व्याख्या के विषय में है। परमेश्वर को प्रादेशमात्र कहने से क्या अभिप्राय है, जब वह वस्तुतः विधि है। इस पर

---

[1] स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः—ब्रह्मसूत्र (३।४।४४)

[2] फलमात्रेयो निर्देशात् अश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्। मीमांसादर्शन (४।३।१८,
निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुप्राधान्य श्रुतिरित्यात्रेयः (६।१।२६)

आश्मरथ्य का कहना है, कि परमेश्वर वस्तुतः अनन्त होने पर भी भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए स्थान-विशेष में अपने को अभिव्यक्त किया करता है। उसकी उपलब्धि के स्थान हृदय आदि प्रदेश हैं। इन प्रदेशों में सीमित होने के कारण ही परमेश्वर वेद में 'प्रादेशमात्र' कहा गया है।

(ख) इनके मत में परमात्मा तथा विज्ञानात्मा में भेदाभेद सम्बन्ध है। 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' आदि श्रुतियों का भी तात्पर्य भेदाभेद के प्रतिपादन में ही है। ये इस प्रकार द्वैताद्वैत मत के सबसे प्राचीन आचार्य हैं। मीमांसादर्शन में भी इनका नाम एक बार आता है (मीमांसादर्शन ६।५।१६) रामानुज के भाष्यकार सुदर्शनाचार्य का कहना है कि इन्हीं आश्मरथ्य के भेदाभेदवाद को पीछे आचार्य यादव-प्रकाश ने अङ्गीकार किया था तथा अन्य प्रमाणों से पुष्ट किया था[१]।

औडुलोमि

इनका नाम ब्रह्मसूत्र में तीन जगह आता है (१।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६) ये भी भेदाभेदवादी हैं। यह भेदाभेद भिन्न अवस्थाओं के कारण ही उत्पन्न होता है। संसारी दशा में जीव ब्रह्म से नितान्त भिन्न है। देह, इन्द्रिय आदि के सम्पर्क होते ही जीव कलुषित हो जाता है परन्तु ज्ञानध्यान के उपयोग से जब उसका कालुष्य दूर हो जाता है, तब वह प्रसन्न होकर ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त कर लेता है। अतः मुक्त अवस्था में अभेद है; परन्तु संसार दशा में भेद है।

अङ्गाश्रित उपासना के विषय में भी औडुलोमि की स्पष्ट सम्मति है कि यह ऋत्विक् का ही काम है यजमान का नहीं। अतः फल भी ऋत्विक को ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार मुक्त पुरुष के विषय में इनका कहना है कि चैतन्यरूप से ही उसकी अभिव्यक्ति होती है, सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर रूप से उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। आत्मा को अवश्य ही अपहतपाप्मा (पापरहित) उस समय कहा गया है, पर इसका तात्पर्य पाप आदि के निराकरण में ही है। अभिव्यक्ति तो चैतन्यमात्र से ही होती है।

---

[१] इनके मत के स्पष्टीकरण के लिए देखिए—भामती (१।४।२१) एतदुक्तं भवति-भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽप्यभेद उक्तः यदाहुः पाञ्चरात्रिका.—

आमुक्तेर्भेद एव स्यात् जीवस्य च परस्य च।
मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः॥

आशय है कि मुक्ति होने तक जीव और ब्रह्म में भेद ही रहता है। अभेद तो मुक्तावस्था में रहता है क्योंकि उस समय भेद उत्पन्न करने वाले कारण ही नहीं रहते।

काष्र्णाजिनि

इनका नाम ब्रह्मसूत्र में एक ही बार आता है (ब्र० सू० ३।१।९) पुन के विषय में इनकी सम्मति है कि अनुशयभूत कर्मों के द्वारा प्राणियों को योनि प्राप्त हुआ करती है। 'अनुशय' से अभिप्राय उन कर्मों से है जो भोगे कर्मों के अतिरिक्त भी बचे रहते हैं। अतः इनकी दृष्टि में ये कर्म ही नयी यो के कारण हैं, आचार या शील नहीं। शङ्कराचार्य ने इनके मत का उपन्य बड़े ही सुन्दर ढंग में इस प्रकार किया है—"तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुश भूतं योन्यापत्तौ कारणमिति काष्र्णाजिनेर्मतम्। नहि कर्मणि सम्भवति शील योन्यापत्तिर्युक्ता। नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हति"

मीमांसा सूत्र में भी इनका नामोल्लेख उपलब्ध होता है—मीमांसा सू (४।३।१७, ६।७।३५)

काशकृत्स्न

ब्रह्मसूत्र (१।४।२२) में इनका नाम आता है। इनका कहना यह है कि परमात्मा ही जीवात्मा के रूप में 'अवस्थान' करता है। तेज, पृथ्वी आदि की सृष्टि जिस प्रकार ब्रह्म से होती है उस प्रकार की सृष्टि जीव के लिए नहीं सुनी जाती। अतः जीव ब्रह्म का विकार नहीं है प्रत्युत विकारविहीन ब्रह्म ही (अविकृत-ब्रह्म) सृष्टि काल में जीव रूप से स्थित होता है। आचार्य ने इस मत को श्रुत्य-नुसारी माना है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से इस मत की पुष्टि होती है[1]।

जैमिनि

बादरायण ने सबसे अधिक इन्हीं के मत का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। इनका नामनिर्देश ११ बार ब्रह्मसूत्र में किया गया मिलता है (१।२।२८, १।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२; ४।४।५ ४।४।११,) इसमें सन्देह नहीं कि ये जैमिनि कर्म मीमांसा के सूत्रकार ही हैं। जैमिनि और बादरायण का परस्पर सम्बन्ध एक विशेष विचारणीय विषय है। बादरायण ने जैमिनि को उद्धृत किया है और जैमिनि ने बादरायण को[2]। इससे तो दोनों समसामयिक प्रतीत हो रहे हैं। प्राचीन सम्प्रदाय यह है कि जैमिनि व्यास के शिष्य थे। अतः शिष्य का गुरु के ग्रन्थ में तथा गुरु का शिष्य के ग्रन्थ में उद्धृत किया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

---

[1]काशकृत्स्नस्याचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम्. तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते प्रतिपिपादयिषितार्थानुसारात् 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिभ्यः।

शांकर भाष्य (१।४।२२)

[2]मीमांसा सूत्र, १।१।५)

बादरि

इनका नाम ब्रह्मसूत्र में चार बार आता है (ब्र० सू० १।२।३०, ३ १।११, ४ ३।७, ४।४।१०) । मीमांसा सूत्रों में भी इनका नाम उपलब्ध है (३।१।३, ६।१।२७ ८।३।६, ६।२।३०) । इन सूत्रों के अध्ययन करने से इनके कतिपय विशिष्ट मतों का परिचय पर्याप्त रूप से मिलता है—

(क) उपनिषदों में सर्वव्यापक ईश्वर को 'प्रादेशमात्र' (प्रदेश, अर्थात् एक स्थान में रहने वाला) बतलाया गया है। इसकी व्याख्या आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। आचार्य आश्मरथ्य तथा जैमिनि के विशिष्ट मतों के साथ बादरि के मत का उल्लेख ब्रह्मसूत्र में किया गया है। इनका मत था कि हृदय में अधिष्ठित होने वाले मन के द्वारा परमेश्वर का स्मरण किया जाता है। इसी लिए परमेश्वर को प्रादेशमात्र कहा गया है।

(ख) छान्दोग्य उपनिषद् में पुनर्जन्म के विषय में यह प्रसिद्ध श्रुति है 'तद् य इह रमणीय चरणाः' । चरण शब्द को लेकर आचार्यों में गहरा मतभेद है। इनके मत में सुकृत और दुष्कृत ही चरण शब्द के द्वारा लक्षित किये गये हैं। चरण का अर्थ है कर्म। अतः 'रमणीय चरणाः' का अर्थ हुआ शोभन काम करने वाले पुरुष और 'कपूय चरणाः' शब्द का अर्थ हुआ निन्दित काम करने वाले पुरुष।

(ग) छान्दोग्य उपनिषद् में (४।१५।५) में यह वाक्य आता है 'स एतान् ब्रह्म गमयति' । यहाँ यह सन्देह उठता है कि ब्रह्म से अभिप्राय किससे है ? परब्रह्म से या कार्यब्रह्म से ? जैमिनि के मत से यह परब्रह्म ही है। परन्तु बादरि ने इसका खण्डन कर इसे कार्य ब्रह्म ही सिद्ध किया है। परब्रह्म तो सर्वव्यापक ठहरा उसे गन्तव्यरूप कहने की क्या आवश्यकता। कार्यब्रह्म ही प्रदेश से युक्त है अतः उसका गन्तव्य स्थान होना नितान्त उचित है।

(घ) मुक्त पुरुष के विषय में यह सन्देह किया जाता है कि उसे शरीर और इन्द्रियाँ होती हैं या नहीं। जैमिनि मुक्त पुरुष में इन दोनों की सत्ता मानते हैं। परन्तु बादरि का कहना है उस अवस्था में मन ही की स्थिति रहती है, दोनों ही नहीं, क्योंकि छान्दोग्य में (८।१२।५) स्पष्ट ही इस बात का उल्लेख है।

(ङ) मीमांसा सूत्रों में वैदिक कर्मों के अधिकारी के विषय में इनका एक विलक्षण विप्लवकारी मत उल्लिखित किया गया है। इनकी सम्मति में वैदिक कर्मों में सब का अधिकार है—द्विजों का तथा शूद्रों का भी[1]। परन्तु जैमिनि ने इसका बड़े आग्रह से खण्डन किया है और दिखलाया है कि यज्ञानुष्ठान में शूद्रों का अधिकार कथमपि नहीं है। इसका कारण यह है कि विद्या का अधिकारी पुरुष ही यज्ञ का अधिकारी है। जब शूद्रों को वेदाध्ययन का ही निषेध किया गया है तो यज्ञों में उनके अधिकार का खण्डन स्वतः हो जाता है।

[1] निमित्तार्थेन बादरिः। तस्मात्सर्वाधिकारं स्यात् मी० सू० ६।१।७०

इन ऋषियों के अतिरिक्त असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, भृगु आदि अनेक ऋषियों के नाम तथा कार्य का परिचय महाभारत तथा पुराणों के अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है। इन ऋषियों ने अपने समय में दार्शनिक ज्ञान की उद्‌भावना कर उसका खूब प्रचार किया था। इनके ग्रन्थ भी रहे होंगे परन्तु इस समय फुटकल उद्धरणों के सिवाय और कुछ नहीं मिलता। इसी प्रकार प्राचीन समय में आचार्य काश्यप के भी वेदान्तसूत्र थे। क्योंकि इनके मत का उल्लेख भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य ने बादरायण के साथ साथ किया[१] है। काश्यप भेदवादी वेदान्ती थे और बादरायण अभेदवादी; यही दोनों में अन्तर था। आर्ष वेदान्त का यह सम्प्रदाय नितान्त प्राचीन है।

(३)

शंकरपूर्व वेदान्ताचार्य

शङ्कराचार्य के पूर्व अनेक वेदान्ताचार्य इस देश में वर्तमान थे जिनके ग्रन्थों का अध्ययन तथा सिद्धान्तों का प्रचार विशेष रूप से था। ऐसे आचार्यों में भर्तृप्रपञ्च, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष भर्तृहरि, बोधायन, सुन्दरपाण्ड्य, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त के नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। इनके मतों का पता तो हमें परवर्ती ग्रंथकारों के उल्लेखों से भलीभाँति चलता है परन्तु हम नहीं जानते कि प्रस्थानत्रयी के किस ग्रंथ (ब्रह्मसूत्र, गीता या उपनिषद्) पर इन्होंने अपनी टीकाएँ लिखी थीं। कई आचार्यों के विषय में हमारा ज्ञान सामान्य न होकर विशिष्ट है

भर्तृप्रपंच— ये शङ्कराचार्य के पूर्व विशिष्ट वेदान्ताचार्य थे। इन्होंने कठ तथा बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य की रचना की थी। इसका पता हमें भलीभाँति चलता है। सुरेश्वराचार्य और आनन्द गिरि के समय में भी इनका ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध था। क्योंकि इन ग्रन्थकारों ने इनके मत का उपन्यास तथा प्रपञ्चन जिस प्रकार से किया है वह ग्रन्थ के साक्षात् अध्ययन के बिना नहीं हो सकता। शङ्कर ने बृहदारण्यक भाष्य में इन्हें 'औपनिषदम्मन्य' कह कर परिहास किया है। परन्तु इनकी विद्वत्ता तथा पाण्डित्य उच्चकोटि का था इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

इनका मत दार्शनिक दृष्टि से द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध था। इनका मत है कि परमार्थ एक भी है और नाना भी है। ब्रह्मरूप में वह एक है और जगत् रूप में वह नाना है। इसीलिए इन्होंने कर्म अथवा ज्ञान को एकान्ततः उपयोगी न मानकर दोनों के समुच्चय को मोक्ष-साधन में उपादेय माना है। इसीलिए इनका सिद्धान्त ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद कहलाता है। इनकी दृष्टि में जीव नाना है और परमात्मा का एकदेशमात्र है। जिस प्रकार ऊसर देश पृथ्वी के एक देश में आश्रित रहता है, जीव भी उसी प्रकार परमात्मा के एक देश में आश्रित रहता है। जीव का नानात्व (अनेक होना) उपाधिजन्य

---

[१] तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात् – सूत्र २९
आत्मैकपरां बादरायणः—सूत्र ३०

नहीं है अपितु धर्म तथा दृष्टि के भेद से वास्तविक है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र के तरङ्ग के समान भेदाभेद भाव युक्त है। जिस प्रकार समुद्र रूप होने से तरङ्गों में अद्वैत भाव है और तरङ्ग की पृथक् स्थिति पर ध्यान देने से उनमें द्वैत-भाव है; ब्रह्म की भी ठीक यही दशा है। वह अद्वैत होते हुए भी द्वैत है। जब उसके ब्रह्म रूप पर विचार करते हैं तब तो वह एक ही है परन्तु जगत् रूप पर विचार करने से वह अनेक है। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत का अद्भुत समन्वय भर्तृप्रपञ्च के सिद्धान्त की महती विशेषता है।[1]

भर्तृप्रपञ्च परिणामवादी हैं। जीव ब्रह्म का परिणाम-स्वरूप है। ब्रह्म का परिणाम तीन प्रकार से होता है—(१) अन्तर्यामी तथा जीव रूप में (२) अव्याकृत, सूत्र, विराट् देवता रूप में (३) जाति तथा पिण्ड रूप में। इस प्रकार जगत् आठ प्रकार से विभक्त है। और ये आठों अवस्थाएँ ब्रह्म की ही अवस्थाएँ हैं। इन्हीं अवस्थाओं में ब्रह्म परिणाम को प्राप्त हुआ करता है। दूसरे प्रकार से ये तीन भागों में या राशियों में विभक्त किए जाते हैं—(१) परमात्म राशि, (२) जीवराशि (३) मूर्त्तामूर्त्त राशि। इनकी सम्मति में मोक्ष दो प्रकार का है। (१) अपर मोक्ष (अथवा अपवर्ग), (२) परामुक्ति (अथवा ब्रह्मभावापत्ति)। इसी देह में रह कर जब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तब उसे 'अपवर्ग' कहते हैं। यह जीवन्मुक्ति के समान है। संसार के विषयों में आसक्ति छोड़ देने से इस अपर-मोक्ष का आविर्भाव होता है। देहपात हो जाने पर जब जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है तब परम मोक्ष का उदय होता है। यह अवस्था अविद्या की निवृत्ति होने पर ही होती है। इससे सिद्ध होता है कि इनके मत से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी अपवर्ग दशा में अविद्या की बिल्कुल निवृत्ति नहीं हो जाती। यह तो देहपात के साथ ही प्राप्त होती है। ये लौकिक प्रमाण तथा वेद दोनों को सत्य मानते थे। इसीलिए इनके मत में केवल कर्म मोक्ष का साधन नहीं हो सकता, न केवल ज्ञान, प्रत्युत ज्ञान-कर्म का समुच्चय ही मोक्ष का प्रकृष्ट साधन है।

भर्तृमित्र—यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय के आरम्भ में अपने से पूर्व जिन आचार्यों का नाम निर्देश किया[2] है उनमें भर्तृमित्र भी अन्यतम हैं। इस उल्लेख

---

[1] (ननु) अनेकात्मकं ब्रह्म, यथानेकशाखः वृक्ष. एवमनेकशक्ति-प्रवृत्ति युक्त ब्रह्म। अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव यथा वृक्ष इत्येकत्वम्, शाखा इति नानात्वम्। यथा च समुद्रस्यैकत्वम् फेन तरङ्गाद्यात्मना नानात्वम्। यथा च मृदात्मनैकत्वम् घटशरावाद्यात्मना नानात्वम्। इन शब्दों में शङ्कराचार्य ने भर्तृप्रपञ्च के भेदाभेद का उपन्यास किया है।

— शारीरिकभाष्य, ब्र० सू० २।१।१४)

[2] आचार्य टङ्क भर्तृप्रपञ्च भर्तृमित्र भर्तृहरि ब्रह्मदत्त शंकर श्री वत्साङ्क भास्करादि विरचित सितासितविविधनिबन्धन श्रद्धा-विप्रलब्ध बुद्धयो न यथावदन्यथा च प्रतिपद्यन्त इति तत्प्रतिपत्तये युक्त प्रकरण प्रक्रम.—सिद्धित्रय

से प्रतीत होता है कि ये भी वेदान्त के ही आचार्य थे। इन्होंने कर्म-मीमांसा के ऊपर भी ग्रन्थनिर्माण किया था, इनका भी परिचय मीमांसा-ग्रन्थों के अनुशीलन से भलीभाँति मिलता है। कुमारिल भट्ट ने अपने श्लोकवार्तिक में (१।१।१।१०; १।१।६।१३०-३१) इनका उल्लेख किया है। इसका प्रमाण पार्थसारथि मिश्र की उन श्लोकों की टीका है। कुमारिल का कहना है कि भर्तृमित्र आदि आचार्यों के प्रभाव से मीमांसा चार्वाक दर्शन के समान बिल्कुल अवैदिक बन गई थी और इसी दोष को प्रधानतया दूर करने के लिए उन्होंने अपना विख्यात ग्रन्थ लिखा। इससे प्रतीत होता है कि सम्भवतः भर्तृमित्र ने मीमांसादर्शन की टीका लिखी थी। यह विचारणीय प्रश्न है कि यामुनाचार्य के द्वारा उल्लिखित भर्तृमित्र और श्लोकवार्तिक में निर्दिष्ट भर्तृमित्र एक ही व्यक्ति थे या भिन्न व्यक्ति। उपयुक्त साधन के अभाव में इसका भलीभाँति निर्णय नहीं हो सकता। सम्भव है कि इन्होंने दोनों दर्शनों के सम्बन्ध में ग्रन्थरचना की हो।

भर्तृहरि—यामुनाचार्य ने इनका नाम वेदान्त के आचार्यों में निर्दिष्ट किया है। वाक्यपदीय के कर्ता वैयाकरण भर्तृहरि ही प्रतीत होते हैं। यद्यपि इनका लिखा हुआ कोई वेदान्तग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है तथापि अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के कारण, जिनका पल्लवीकरण वाक्यपदीय में विशिष्ट रूप से किया गया है, इनकी गणना वेदान्त के आचार्यों में की गयी है। भर्तृहरि भी अद्वैतवादी थे[1] परन्तु इनका अद्वैत शङ्कर के अद्वैत से भिन्न था। इनका शब्दाद्वैतवाद दार्शनिक जगत् में एक महत्त्वपूर्ण विषय है। बहुत सम्भव है कि इनका प्रभाव परवर्ती वेदान्ताचार्यों पर भी पड़ा था, विशेषतः मण्डन मिश्र पर जिन्होंने स्फोटसिद्धि नामक अपने ग्रन्थ में भर्तृहरि के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्य, उत्पलाचार्य के गुरु सोमानन्द ने अपने शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ में इस शब्दाद्वैतवाद की विस्तृत आलोचना की है। इतना ही नहीं बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित के तत्त्वसङ्ग्रह में, अद्वैत वेदान्ती विमुक्तात्मा की 'इष्टसिद्धि' में और नैयायिक जयन्त भट्ट की न्यायमञ्जरी में शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। भर्तृहरि ने भलीभाँति दिखलाया है कि व्याकरण आगम *शास्त्र है जिसके सिद्धान्तों का अनुशीलन कर योगी साधक मोक्ष पा सकता है।* शब्दब्रह्म, परब्रह्म, परावाक्, आदि शब्द एक ही परम तत्त्व के द्योतक हैं। उसी तत्त्व से अर्थ रूप नानात्मक जगत् की उत्पत्ति होती है। जगत् वास्तविक नहीं है, अपितु काल्पनिक है।

---

[1] महाभाष्य व्याचक्षाणो भगवान् भर्तृहरिरपि अद्वैतमेवाभ्युपगच्छति यथोक्तं शब्द कौस्तुभे स्फोटवादान्ते-तदेवं पक्षभेदे अविद्यैव वा ब्रह्मैव वा स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोट इतिस्थितम्—उमामहेश्वर कृत तत्त्वदीपिका

भर्तृहरि की दृष्टि में पश्यन्ती वाक् ही परमतत्त्व है; वह चैतन्यस्वरूप है अखण्ड, अभिन्न और अद्वैत रूप परमार्थ वही है। उसमें ग्राह्य और ग्राहक का परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता। देश और काल के द्वारा जिस क्रम की उत्पत्ति होती है उस क्रम का भी उसमें सर्वथा अभाव है इसीलिए उसको अक्रमा तथा प्रतिसंहृतक्रमा शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाता है। वही आत्मतत्त्व है। जब अर्थप्रतिपादन की इच्छा उत्पन्न होती है तब यही शब्द तत्त्व मनोविज्ञान का रूप धारण कर लेता है। तब इनका नाम है 'मध्यमा' वाक्। यही आगे चल कर, स्थूल रूप धारण करने पर 'वैखरी' वाक् के रूप में प्रकट होती है। जिस ध्वनि को हम अपने कान से सुनते हैं वही वैखरी वाक् है। वस्तुतः पश्यन्ती वाक् ही मुख में आकर कण्ठ और तालु आदि स्थानों के विभाग से वैखरी नाम से प्रसिद्ध होती है। यह जगत् शब्दब्रह्म का ही परिणाम है, भर्तृहरि का यही सर्वमान्य सिद्धान्त है। अविद्या के कारण ही अद्वैत रूप शब्द नाना अर्थरूप में परिणत हो जाता है परन्तु वस्तुतः वाचक (शब्द) से वाच्य (अर्थ) कथमपि अलग नहीं है। वाचक और वाच्य का विभाग ही काल्पनिक है परन्तु काल्पनिक और अयथार्थ होने पर भी अर्थ का अवलम्बन लेना ही पड़ता है। क्योंकि विद्या-ग्रहण करने का यही साक्षात् उपाय है। इसके विषय में भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है—

> उपाया शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
> असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥

जगत् की शब्द से उत्पत्ति के विषय में इनका कहना है—

> अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
> विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

बोधायन

इनके विषय में हमारा ज्ञान विशेष नहीं है। रामानुज ने वेदार्थसंग्रह में इन्हें अपना उपजीव्य बतलाया है। यामुनाचार्य के उल्लेख से अनुमान जाता है कि इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर वृत्ति लिखी थी। इसी वृत्ति से आचार्य रामानुज ने अपने श्री भाष्य में अनेक वचनों को उद्धृत किया है। दुःख है कि इस वृत्ति के अस्तित्व का पता नहीं चलता। प्रपञ्चहृदय के देखने से प्रतीत होता है कि बोधायन ने मीमांसा सूत्रों पर भी वृत्ति की रचना की थी। इस ग्रन्थ के भी अस्तित्व का पता नहीं चलता। प्रपञ्चहृदय के अनुसार बोधायनरचित वेदान्तवृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था ऐसा जान पड़ता[1] है।

---

[1] प्रपञ्चहृदय—अनन्त शयनग्रन्थावली में प्रकाशित, पृष्ठ ३९।

टङ्क

इनका नामनिर्देश रामानुज ने वेदार्थसंग्रह (पृष्ठ १५४) में किया है जिससे प्रतीत होता है कि ये रामानुज से पूर्व विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य थे। इनके विषय में अन्य बातों का पता नहीं लगता। विशिष्टाद्वैत के विद्वान् 'टङ्क' तथा ब्रह्मनन्दी को एक ही अभिन्न व्यक्ति मानते हैं परन्तु प्रमाणों के अभाव में इस मत के सत्यासत्य का निर्णय नहीं किया जा सकता।

ब्रह्मनन्दी

प्राचीन काल में ब्रह्मनन्दी वेदान्ताचार्य की प्रसिद्धि थी। मधुसूदन सरस्वती ने संक्षेप शारीरिक की अपनी टीका में (३।२१७) इनके मत को उद्धृत किया है। इससे तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि ये अद्वैत वेदान्त के ही आचार्य थे। प्राचीन वेदान्त साहित्य में ब्रह्मनन्दी छान्दोग्य वाक्यकार के नाम से अथवा केवल वाक्यकार के नाम से प्रसिद्ध थे। विशिष्टाद्वैतवादी लोग इन्हें तथा आचार्य टङ्क को एक ही व्यक्ति मानते हैं। इसका उल्लेख अभी किया गया है।

ब्रह्मनन्दी के मत के विषय में पर्याप्त भिन्नता है। शंकर उन्हें विवर्तवादी मानते हैं, भास्कर परिणामवादी तथा रामानुज ने उन्हें भक्तिवाद का समर्थक माना है। ब्रह्मनन्दी वाक्यकार के नाम से तथा द्रविडाचार्य भाष्यकार के नाम से उल्लिखित मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्मनन्दी ने छान्दोग्य पर लघुकाय वाक्य लिखे थे, जिनकी व्याख्या द्रविडाचार्य ने अपने भाष्य में की थी इनके वाक्यों के कुछ अंश संगृहीत किये गये हैं[1]।

भारुचि

इनका नाम आचार्य रामानुज ने वेदार्थ संग्रह में बड़े आदर और सत्कार के साथ लिया है। श्री निवासदास ने भी इनका निर्देश यतीन्द्र मत दीपिका में किया है।[2]

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सविशेष ब्रह्म के मानने वाले वेद आचार्य थे। इनके विषय में विशेष ज्ञात नहीं। धर्मशास्त्र के इतिहास में भी भारुचि के मत का उल्लेख मिलता है। विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में (१।१८; २।११४) तथा माधवाचार्य ने पराशर संहिता की अपनी टीका पराशरमाधव में (२।३; पृष्ठ ५।०) में इनके नाम का निर्देश किया है। विष्णु धर्मसूत्र के ऊपर इनके टीका लिखने की भी बात प्रमाणित होती है। यह बतलाना बहुत ही कठिन है कि वेदान्ती

---

[1] द्रष्टव्य K. B. Pathak Commemoraton Volunme pp. 151-158.

[2] पूना संस्करण, पृष्ठ २

'मारुचि' और धर्मशास्त्रकार भारुचि एक ही व्यक्ति थे या भिन्न भिन्न व्यक्ति थे। यदि दोनों एक ही व्यक्ति हों तो इनका समय नवम शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है जो। प्रोफेसर काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में दिखलाया है[1]।

कपर्दी और गुहदेव

प्राचीन काल में इनकी विशेष ख्याति थी। रामानुज ने वेदार्थ संग्रह में इन्हें अपना उपजीव्य बतलाया है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन आचार्यों की सम्मति में सगुण ब्रह्म ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए ज्ञान के साथ साथ कर्म का भी उपयोग है। भक्ति के द्वारा आवर्जित होकर भगवान् भक्तों का मनोरथ पूर्ण करते हैं और अपना दिव्य दर्शन प्रदान करते हैं। इन वेदान्तियों के सिद्धान्त का यही सामान्य परिचय है। इनके विषय में और कुछ विशेष उपलब्ध नहीं होता।

द्रविड़ाचार्य

ये भी एक प्राचीन वेदान्त के आचार्य थे। इन्होंने छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों पर अति विस्तृत भाष्य की रचना की थी। आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में इनका उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। माण्डूक्य उपनिषद् के भाष्य में (२।३२, ३।३२) शङ्कर ने इनको 'आगमवित्' कह कर इनका उल्लेख किया है। बृहदारण्यक के भाष्य में भी इनका उल्लेख 'सम्प्रदायवित्' कह कर किया गया[2] है। शङ्कर ने इनका उल्लेख अपने मत की पुष्टि में किया है, खण्डन करने के लिए कभी नहीं किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ये अद्वैतवादी ही वेदान्ताचार्य थे। बृहदारण्यक के भाष्य में तत्त्वमसि के व्याख्याप्रसंग में आचार्य ने इनके द्वारा निर्दिष्ट व्याध संवर्धित राजपुत्र की रोचक आख्यायिका दी है। व्याध के कुल में रहते हुए राजपुत्र को अपने प्राचीन गौरव, पद तथा प्रतिष्ठा की बिल्कुल विस्मृति हो गई थी परन्तु गुरु के द्वारा बतलाए जाने पर उसे उन बातों का ध्यान तुरन्त आ गया। ठीक उसी प्रकार यह संसारी जीव भी आचार्य के उपदेश से अपने मूल विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है। इस प्रकार इनकी सम्मति में अग्नि से उत्पन्न होने वाले विस्फुलिंगों के समान ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले जीव के वर्णन का अभिप्राय अभेद प्रतिपादन में है, भेद के प्रदर्शन में नहीं। इस प्रकार इनका अद्वैत मत नितान्त स्पष्ट है।

रामानुज सम्प्रदाय में भी द्रविड़ाचार्य नाम से एक प्राचीन आचार्य का उल्लेख मिलता है[3]। पता नहीं कि ये आचार्य शङ्कर निर्दिष्ट आचार्य से भिन्न हैं

---

[1] P. V. Kane, History of Dharma Shastra Vol. I page 265.

[2] बृहदारण्यक भाष्य (आनन्दाश्रमसिरीज़) पृष्ठ २९७—९८ आनन्दगिरि की सम्मति में ये 'सम्प्रदायवित्' द्रविड़ाचार्य ही हैं जिनकी सम्मति को अपने मत की पुष्टि में आचार्य ने उद्धृत किया है।

[3] रामानुज, वेदार्थ संग्रह (काशी संस्करण) पृष्ठ १५४

या अभिन्न। यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय के आरम्भ में बादरायण के सूत्रों पर परिमित गम्भीर भाष्य लिखने वाले जिस आचार्य की ओर संकेत किया है वे यही द्रविड़ाचार्य माने जाते हैं[1]। यामुनाचार्य ने केवल 'भाष्यकृत्' का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य द्रविड़ाचार्य से ही समझा जाता है।

सुन्दर पाण्ड्य

शंकर पूर्व वेदान्तियों में सुन्दर पाण्ड्य भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इन्होंने कारिकाबद्ध किसी वार्त्तिकग्रन्थ की रचना की थी परन्तु यह वार्त्तिक किस ग्रन्थ पर था, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। ब्रह्मसूत्र (१।१।४) के भाष्य के अन्त में 'अपिचाहुः' कह कर तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं[2]। वाचस्पति मिश्र ने इन श्लोकों को 'ब्रह्मविदां गाथा' कह कर उल्लेख किया है। पद्मपाद कृत पञ्चपादिका के ऊपर आत्मस्वरूप कृत प्रबोध परिशोधिनी नाम की जो टीका लिखी है उससे प्रतीत होता है कि ये श्लोक सुन्दर पाण्ड्य की रचना हैं। माधव-मन्त्रीकृत सूत संहिता की टीका में, न्याय-सुधा में, तथा तन्त्रवार्त्तिक में इनके कतिपय श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि सुन्दर पाण्ड्य ने पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों पर वार्त्तिक ग्रन्थ की रचना की थी। ये शंकर से ही नहीं बल्कि कुमारिल से भी पूर्ववर्ती थे। इस प्रकार इनका समय सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध प्रतीत होता है[3]।

उपवर्ष

ये प्राचीन काल के बड़े ही प्रामाणिक वेदान्ती हैं। इन्होंने पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों पर वृत्तियाँ लिखी थीं इनके गौरव तथा भूयसी प्रतिष्ठा का परिचय इस घटना से भी लग सकता है कि इनके नाम के साथ सदा भगवान् शब्द संयुक्त उपलब्ध होता है। शबर स्वामी ने मीमांसासूत्र के भाष्य में (१।१।५)

---

[1] भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि, विवृतानि च परिमित गम्भीरभाष्यकृता
—सिद्धित्रय

[2] अपिचाहुः—
गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादि बाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्म दोषादिवर्जितः॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्म निश्चयात्॥

[3] विशेष द्रष्टव्य—Journal of oriental Research Vol. I. No. 1, pp. 1—15.
Proceedings of Third Oriental Conference pp. 465—68.

इन्हें 'भगवान् उपवर्षः' कह कर उल्लिखित किया है[1]। शङ्कराचार्य ने भी इन्हें सर्वत्र 'भगवान् उपवर्षः' ही लिखा है[2]। शाबर भाष्य (१।१।५) में जिस वृत्तिकार की व्याख्या का विस्तृत उद्धरण दिया गया है वे वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष ही हैं। शङ्कर कहते हैं कि उपवर्ष ने अपनी मीमांसा वृत्ति में कहीं कहीं पर शारीरक सूत्र पर लिखी गयी वृत्ति की बातों का उल्लेख किया[3] है। इस प्रकार शबर और शङ्कर के द्वारा उद्धृत किए जाने से स्पष्ट है कि उपवर्ष ने दोनों मीमांसा सूत्रों पर अपनी वृत्ति लिखी थी।

ये उपवर्ष कौन थे ? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से नहीं दिया जा सकता। कुछ विद्वान् लोग उपवर्ष और बोधायन को एक ही अभिन्न व्यक्ति मानते हैं परन्तु इस समीकरण में श्रद्धा के लिए विशेष स्थान नहीं है। क्योंकि 'प्रपञ्च-हृदय' में बोधायन और उपवर्ष अलग अलग पूर्व और उत्तरमीमांसा के सम्मिलित २० अध्यायों पर वृत्तिकार के रूप से उल्लिखित किये गये हैं। मणिमेखलै नामक तामिल भाषा के प्राचीन ग्रन्थ में जैमिनि और व्यास के साथ कृतकोटि नामक एक आचार्य का नाम उपलब्ध होता है जिन्होंने ८ प्रमाणों की सत्ता मानी है। कुछ लोग इसी कृतकोटि से उपवर्ष की एकता मानते हैं। परन्तु विचार करने पर ये दोनों कथन तक की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। उपवर्ष ने (३।३।५३) सूत्र की अपनी वृत्ति में आत्मा के विभुत्व का प्रतिपादन किया है। इस मत का संक्षिप्त वर्णन शाबर भाष्य में आत्मवाद के प्रसङ्ग में उपलब्ध होता है। बोधायन की वृत्ति इस सूत्र पर जीव का अणुत्व प्रतिपादन करती है, इसका परिचय हमें भलीभाँति मिलता है। वृत्ति तो उपलब्ध नहीं है परन्तु श्री भाष्य में उसका सारांश विद्यमान है। अतः रामानुज के समान ही बोधायन भी जीव का अणुत्व स्वीकार करते थे, तब जीव का विभुत्व मानने वाले उपवर्ष के साथ उनकी अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है। इसी प्रकार 'मणिमेखलै'[4] में निर्दिष्ट आचार्य कृतकोटि से भी उपवर्ष की समानता कथमपि सिद्ध नहीं होती, क्योंकि कृतकोटि आठ प्रमाण मानने वाले थे और उपवर्ष मीमांसक तथा वेदान्ती होने के नाते छः प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि) के ही पक्षपाती रहे होंगे यह अनुमान करना सर्वथा न्याय्य है।

---

[1] अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः शाबर भाष्य (१।१।५)

[2] वर्णा एव तु शब्दाः इति भगवानुपवर्षः— शाङ्करभाष्य

[3] इत एव चाकृष्य शबर स्वामिना आचार्येण प्रमाण लक्षणे वर्णितम् अतएव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधान प्रसक्तौ शारीरके वक्ष्यामः इति उद्धारः कृतः।

— शाङ्करभाष्य (३।३।५३)

[4] मणिमेखलै के उद्धरण के लिए द्रष्टव्य— डाक्टर एस० के० आयङ्गर की Mani Mekhalai in its historical Setting नामक ग्रन्थ, पृष्ठ १८८.

इनके समय का निर्धारण भी किया जा सकता है। शबर स्वामी के द्वारा उद्धृत होने से यह स्पष्ट है कि इनका समय दो सौ इस्वी के पीछे नहीं हो सकता। इन्होंने वैयाकरणों के स्फोटवाद का खण्डन किया है। यह तो प्रसिद्ध बात है कि व्याकरण आगम में भगवान् पतञ्जलि ने ही पहले पहल स्फोट शब्द को वाचकत्व का आश्रय और अर्थ का प्रत्यायक माना है। महाभाष्य में ही स्फोट के सिद्धान्त का प्रथम पल्लवीकरण उपलब्ध होता है। अतः प्रतीत होता है कि उपवर्ष ने पतञ्जलि के सिद्धान्त का ही उस स्थान पर खण्डन किया है। अतः इनका समय पतञ्जलि (द्वितीय शतक ईस्वीपूर्व) तथा शबर (२०० इस्वी) के बीच में होना चाहिए।

ब्रह्मदत्त

ये शङ्कर पूर्व के समय के एक अत्यन्त प्रसिद्ध अद्वैतवाद के समर्थक वेदान्ती हैं। इनकी रचना का तो परिचय नहीं चलता परन्तु अनुमान है कि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार रहे हों। इनके मत का उल्लेख आचार्य शङ्कर ने उपनिषद् भाष्य में, सुरेश्वर ने बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक में तथा वेदान्त देशिक ने 'तत्वमुक्ता कलाप' की सर्वार्थसिद्धि' टीका में वर्णन किया है। 'मणिमञ्जरी' ने तो ब्रह्मदत्त और शङ्कर के भेंट होने का भी वर्णन किया है। [मणिमञ्जरी (६।२ ३)] परन्तु अन्य स्थानों से पुष्ट न होने से यह बात प्रामाणिक प्रतीत नहीं होती। परन्तु ये अपने समय के एक बहुत ही विशिष्ट माननीय आचार्य थे। इसका परिचय तो शंकर और सुरेश्वर के द्वारा आग्रहपूर्वक किये गये खण्डनों से स्पष्ट मिलता है।

ब्रह्मदत्त के विशिष्ट मतों में पहला मत जीव की अनित्यता के विषय में[1] है। ब्रह्म ही एक मात्र नित्यपदार्थ है जीव उसी ब्रह्म से उत्पन्न होता है और फिर उसी ब्रह्म में लीन हो जाता है इस प्रकार उत्पत्ति और लय होने के कारण बिलकुल अनित्य है। यह मत बहुत ही विलक्षण प्रतीत होता है तथा वेदान्त में माने गये मत से एकदम विरुद्ध पड़ता है। महर्षि ने स्वयं ब्रह्मसूत्र में [नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः २।३।१७] इसके विरुद्ध मत का प्रतिपादन किया है कि आत्मा स्वयं नित्य है। श्री भाष्य (१।४।२०) के अनुशीलन से पता लगता है कि आश्मरथ्य नामक प्राचीन आचार्य की सम्मति में भी जीव ब्रह्म से उत्पन्न होता है और प्रलयकाल में उसमें लीन हो जाता है। इस तरह दोनों आचार्यों का मत इस विषय में पर्याप्त अनुरूप है। फिर भी ब्रह्मदत्त आश्मरथ्य के अनुयायी इसलिए नहीं माने जा सकते कि आश्मरथ्य द्वैताद्वैतवादी थे और ब्रह्मदत्त पूरे अद्वैतवादी थे। यह मत इतना विलक्षण था कि इसका खण्डन करना अद्वैत ग्रन्थों में उचित समझा गया है।

इनके मत

[1] 'एकं ब्रह्मैवनित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिभागित्याचार्त, तेन जीवोऽपि अचिदिव अनिमान्—वेदान्त देशिक के तत्वमुक्त कलाप की सर्वार्थसिद्धि टीका से उद्धृत ब्रह्मदत्त का मत।

उपनिषदों के तात्पर्य के विषय में ब्रह्मदत्त का अपना स्वतन्त्र मत है। उपनिषदों में दोनों प्रकार के वाक्य मिलते हैं—एक तो ज्ञान प्रतिपादक वाक्य यथा 'तत्त्वमसि' (तुम्हीं ब्रह्म हो) और दूसरे उपासना प्रतिपादक वाक्य जैसे 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (आत्मा का दर्शन करना चाहिए)। वेदान्त के आचार्यों के मत इस विषय में नितान्त भिन्न हैं। आचार्य शंकर का कहना है कि उपनिषदों का तात्पर्य ज्ञान प्रतिपादक महावाक्यों में ही है। उपासना के विषय में विधि है परन्तु ज्ञान के विषय में विधि नहीं। विधि तो वह पदार्थ है जो मानवीय प्रयत्न से साध्यकोटि में आ सके परन्तु ज्ञान स्वयंसिद्ध पदार्थ है जिसके लिए मानव प्रयत्न की कथमपि आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार ज्ञान वस्तुतन्त्र (सत्यपदार्थ के ऊपर अवलम्बित) है। पुरुषतन्त्र नहीं। परन्तु ब्रह्मदत्त के अनुसार ज्ञान की अपेक्षा उपासना का महत्त्व कहीं अधिक है। उपनिषदों का अभिप्राय 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य मे नहीं है, अपितु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' आदि उपासनापरक वाक्यों के प्रतिपादन में है। आत्मतत्त्व का चिन्तन करना ही साधक का मुख्य कर्तव्य है। इस उपासना के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। इस प्रकार ज्ञान अङ्ग है तथा उपासना अङ्गी है। शास्त्रीयभाषा में कह सकते हैं कि ब्रह्मदत्त की सम्मति में आत्मज्ञान में उपासनाविधि का शेष[1] है।

साधनमार्ग

ब्रह्मदत्त के अनुसार साधनमार्ग भी विलक्षण है। मोक्ष की सिद्धि उपासना से ही होती है। जब तक साधक आत्मा और ब्रह्म की एकता का ज्ञान प्राप्त कर आत्मतत्त्व का चिन्तन नहीं करता तब तक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। अज्ञान को दूर करने के लिए उपासना ही एक मात्र साधन है। औपनिषद् ज्ञान कितना भी हो उसके द्वारा अज्ञान का निराकरण नहीं हो सकता। अद्वैतज्ञान के लाभ होने पर भी जीवनपर्यन्त भावना आवश्यक है। ब्रह्मदत्त का कहना कि देह की स्थिति के समय उपायों के द्वारा देवता का साक्षात्कार हो सकता है तथापि उसके साथ मिलन तभी हो सकता है जब देह न रहे। यह देह तो प्रारब्धकर्म के कारण मिलता है अतः उपास्य और उपासक के मिलन में यह विघ्न रूप है। जिस प्रकार स्वर्ग की प्राप्ति मृत्यु के अनन्तर ही होती है उसी प्रकार मोक्ष की भी प्राप्ति देह के छूटने के बाद ही होती है। स्वर्ग और मोक्ष वैदिक विधियों के सम्यगनुष्ठान के फलरूप हैं। ब्रह्मदत्त इस प्रकार जीवन्मुक्ति नहीं मानते। शङ्कर के मत में मोक्ष दृष्ट फल है (अर्थात् जिसका फल इसी जन्म में, इसी शरीर से अनुभूत हो सके) परन्तु ब्रह्मदत्त के मत में मोक्ष अदृष्ट फल है (अर्थात् इस शरीर से मोक्ष का

---

[1] केचित् स्वसम्प्रदाय बलावष्टम्भादाहुः—यदेतत् वेदान्त वाक्यात् अहं ब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति किं तर्हि अहनि अहनि द्राघीयसा कालेनउपासीनस्य सतः।

अनुभव नहीं हो सकता) ब्रह्मदत्त के अनुसार साधनक्रम इस प्रकार है—पहले उपनिषदों के अभ्यास से ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, परन्तु यह ज्ञान होता है परोक्ष, अत इसे अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिवर्तित करने के लिए उपासना या भावना का अभ्यास करना चाहिए। भावना का रूप होगा 'अहं ब्रह्मास्मि', अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ। ब्रह्मदत्त की दृष्टिमें यह 'अहं ब्रह्मोपासना' नितान्त आवश्यक है। इस अवस्थाकर्म का आवश्यकता रहती है। जीवनपर्यन्त कर्म का कभी त्याग नहीं होता इसीलिए ब्रह्मदत्त का मत ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद[1] है। इस प्रकार ब्रह्मदत्त की दृष्टि में तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के श्रवण करने से आत्मा के स्वरूप के विषय में 'अखण्डवृत्ति' उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि इन शब्दों में ऐसा सामर्थ्य ही नहीं है यह सामर्थ्य तो वस्तुत. निदिध्यासन (ध्यान) में है। कहना न होगा कि यह मत शङ्कर के मत से नितान्त विरुद्ध है। सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' में एक (१।६७) तथा पद्मपाद ने 'पञ्चपादिका' में (पृष्ठ ९९) स्पष्ट ही कहा है कि महावाक्य से साक्षात् अपरोक्ष ही ज्ञान उत्पन्न होता है।

गौडपाद

जिन आचार्यों का परिचय अब तक दिया गया है उनमें केवल दो ही चार ऐसे होंगे जिनके मत को शङ्कर ने ग्रहण किया है और वह भी यत्र क्वचित्। अधिकांश आचार्यों का उल्लेख खण्डन के प्रसङ्ग ही में किया गया है। अद्वैत वेदान्त की परम्परा शङ्कर से प्राचीन है। शङ्कर के गुरु का नाम गोविन्दपाद था जिनके गुरु का नाम गौडपादाचार्य था। गौडपादाचार्य तक गुरु-परम्परा को ऐतिहासिक काल के भीतर मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है। गौडपाद के गुरु शुकदेव तथा उनके गुरु व्यास बतलाये जाते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि गौडपाद शुक के साक्षात् शिष्यकाल को भिन्नता होने के कारण नहीं माने जा सकते। यदि यह साम्प्रदायिक बात प्रामाणिक मानी जाय, तो कहना पड़ेगा कि शुकदेव ने सिद्धशरीर अथवा निर्माणकाय में आविर्भूत होकर गौडपाद को उसी प्रकार शिक्षा दी थी जिस प्रकार परमर्षि कपिल ने निर्माणकाय का अवलम्बन कर आसुरि को सांख्यशास्त्र का उपदेश किया था।

भावनोपचयात् निःशेषमज्ञानमपगच्छति, देवो भूत्वा देवानप्येति इति श्रुते। सुरेश्वर, नैष्कर्म्य-सिद्धि (१।६७) ज्ञानामृतविद्या सुरभि' नाम की टीका में यह मत ब्रह्मदत्त का बतलाया गया है।

[1] ज्ञानोत्तम ने नैष्कर्म्य सिद्धि की टीका में इन्हें ज्ञानकर्म समुच्चयवादी कहा है— वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीन भावनोत्कर्षाद्भावनाजन्य साक्षात्कार लक्षण ज्ञानान्तरेणैव अज्ञाननिवृत्ते ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्ति।

गौडपाद को ही हम मायावाद का प्रथम प्रचारक पाते हैं। इनकी लिख हुई प्रसिद्ध पुस्तक 'माण्डूक्यकारिका' है। 'माण्डूक्योपनिषद्' के ऊपर ही इ कारिकाओं की रचना की गयी है। यह उपनिषद् है तो बहुत ही छोटा पर अत्यं सारवान् है। इसमें केवल बारह वाक्य हैं जिनमें से प्रथम सात वाक्य 'नृसिंह पूर्वोत्तरतापिनी' तथा 'रामोत्तरतापिनी' में उपलब्ध होते हैं। 'माण्डूक्यकारिक चार प्रकरणों में विभक्त है। (१) आगम प्रकरण, कारिका संख्या २६, (२ वैतथ्यप्रकरण, ३८, (३) अद्वैत प्रकरण, ४८; (४) अलातशान्ति प्रकरण, १०० इस प्रकार सब कारिकाएँ मिलाकर २१५ हैं। प्रथम प्रकरण एक प्रकार से उपनिषद का भाष्य है। इस प्रकरण की कारिकाएं मूल उपनिषद् के वाक्यों के साथ मिल हुई हैं। षष्ठ वाक्य के बाद नौ कारिकाएँ हैं, सप्तम के बाद भी नौ, एकादश के बाद पाँच तथा द्वादश के बाद छः। इस प्रकार आगम प्रकरण की कारिकाए मूल वाक्यों के साथ मिलकर तदाकार बन गयी हैं।

अद्वैत वेदान्त में उपनिषद् के वाक्य ही श्रुति माने जाते हैं और आगम प्रकरण की कारिकाएँ गौडपाद की स्वीकृत की जाती हैं। परन्तु द्वैतवादियों के यहाँ कारिकाएँ भी श्रुति समझी जाती हैं। इन लोगों के कथनानुसार गौडपाद ने अन्तिम तीन प्रकरण की ही कारिकाओं का निर्माण किया। प्रथम प्रकरण की कारिकाएँ श्रुति रूप होने से गौडपाद की रचना नहीं हो सकतीं। कुछ लोग इससे विपरीत ही मत मानकर मूल उपनिषद् के बारह वाक्यों को भी गौडपाद की ही रचना मानते हैं। इस प्रकार इन कारिकाओं के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि गौडपाद किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, प्रत्युत किसी सम्प्रदाय विशेष का सूचक है। परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता। सुरेश्वराचार्य ने (४।११ नैष्कर्म्यसिद्धि) जहाँ 'गौडैः' और 'द्राविडैः' पदों का प्रयोग किया है वहाँ उनका अभिप्राय गौडपाद तथा शङ्कर से है[1]।

इन कारिकाओं के अतिरिक्त उत्तरगीता का भाष्य भी इन्हीं की कृति है। सांख्यकारिका के ऊपर भी गौडपाद भाष्य मिलता है और वह प्राचीन भी है। परन्तु सांख्य भाष्यकार वेदान्ती गौडपाद से भिन्न हैं या अभिन्न यह निर्णय करना दुष्कर है। रामभद्र दीक्षित ने अपने 'पतञ्जलिचरित' ग्रंथ में गौडपाद को पतञ्जलि का शिष्य बतलाया है तथा उनके विषय में एक प्राचीन रोचक कथा का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ की सहायता से भी गौडपाद के व्यक्तित्व पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। जो कुछ हो, गौडपाद का नाम अद्वैत वेदान्त के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। शङ्कर के मत को समझने के लिए गौडपाद से ही प्रारम्भ करना होगा।

---

[1] Indian Antiquary, October 1933 pp. 192-193.

गौडपाद के दार्शनिक सिद्धान्त

'माण्डूक्यकारिका' के अनुशीलन से आचार्य गौडपाद के सिद्धान्तों का भव्यरूप हमारी दृष्टि में भली-भाँति आ जाता है। आगम-प्रकरण तो माण्डूक्य उपनिषद् की विस्तृत व्याख्या है। ओंकार ही परमतत्त्व का द्योतक पद है। 'ओम्' के तीन अक्षर 'अ' 'उ' 'म्' क्रमशः वैश्वानर, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर का प्रपंच जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का द्योतन करते हैं। परमतत्त्व तीनों में पृथक है, अथ च अनुष्ठान तथा साक्षी रूप में इनमें अनुमति भी है। वह ओंकार के चतुर्थपाद के द्वारा वर्णित होने से 'तुरीय' कहलाता है। दूसरे प्रकरण का नाम है वैतथ्य अर्थात् 'मिथ्यात्व'। इस प्रकरण में जगत् का मायिक होना युक्ति और उपपत्ति के द्वारा पुष्ट किया गया है। यहाँ सबसे पहले स्वप्न दृश्य का मिथ्यात्व प्रतिपादित है। स्वप्न में देखे गये पदार्थ नितान्त असत्य हैं। क्योंकि देह के भीतर नाडी-विशेष में स्वप्न की उपलब्धि होती है। वहाँ पदार्थों की स्थिति के लिए अवकाश कहाँ है? जागने पर स्वप्न में देखे गये पदार्थ कहीं उपलब्ध नहीं होते। जाग्रत् जगत दृश्य होने के कारण स्वप्न के समान ही है। जगत् का नाना रूप, तरह-तरह की विचित्रता में माया के कारण होता है। माया की महिमा से ही आत्मा अव्यक्त वासना रूप से रहने वाले भेद-समूह को व्यक्त करता है। यह माया न तो सत् है न असत् न तो सदसत् है। वस्तुतः स्वरूप की विस्मृति ही माया है और स्वरूप के ज्ञान से उसकी निवृत्ति हो जाती है। वास्तविक परमार्थ वह है जिसका न प्रलय है न उत्पत्ति है। जो न बद्ध है न साधक है। जो न तो मुक्ति की इच्छा करता है न तो कभी स्वयं मुक्त होता है। यही अखण्ड आत्म-तत्त्व वस्तुतः एकमात्र सत्ता है—

> न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
> न मुमुक्षुर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता॥
>
> —माण्डूक्यकारिका, २।३२

अद्वैत प्रकरण में अद्वैत तत्त्व का वर्णन दृढ़ युक्तियों के सहारे सिद्ध किया गया है। यह अद्वैत तत्त्व आत्मा है जो सुख-दुःख के भावों से कभी सम्बद्ध नहीं रहता। उसमें सुख-दुःख की कल्पना करना बालकों की दुर्बुद्धि का विलास है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार धूलि और धूम के संसर्ग से हम आकाश को मलिन बतलाते हैं। जिस प्रकार एक घटाकाश के धूलि और धूम से युक्त होने पर समस्त घटाकाशों में यह दोष उत्पन्न नहीं हो जाता उसी प्रकार एक जीव के सुखी या दुःखी होने पर समस्त जीव सुखी या दुःखी नहीं माने जा सकते (मा०का०३।५)। वस्तुतः आत्मा अमृत है। आचार्य अजातवाद के समर्थक हैं। उनका कहना यह है कि द्वैतवादी लोग जन्महीन आत्मा के भी जन्म की इच्छा रखते हैं जो पदार्थ निश्चय ही अजन्मा और मरणहीन है, वह मरणशीलता कैसे प्राप्त कर सकता

है ? प्रकृति या स्वभाव का परिवर्तन कभी हो नहीं सकता। अमृत पदार्थ न तो मर्त्य हो सकता है और न मरणशील वस्तु अमर बन सकती है—

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातोह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥
नभवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति ॥

माण्डूक्यकारिका ३।२०,२१

अतः आत्मा की उत्पत्ति या जाति नहीं होती यही गौडपाद का परिनिष्ठित मत है। यही है गौडपाद का विख्यात अजातवाद का सिद्धान्त। इस आत्मा के एकत्व का जब सच्चा बोध उत्पन्न होता है तब चित्त संकल्प नहीं करता और मन अमनस्त्व को प्राप्त हो जाता है। यह अमग्रहण निरोध के कारण उत्पन्न नहीं होता बल्कि ग्राह्य वस्तु के अभाव के ही कारण होता है। इसी को ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं। इस बोध की स्थिति को गौडपाद 'अस्पर्शयोग' के नाम से पुकारते[1] हैं।

चौथे प्रकरण का नाम 'अलातशान्ति' है। अलात शब्द का अर्थ है उल्का या मसाल। मसाल को घुमाने पर उससे तरह-तरह की चिनगारियाँ निकलती हैं और वह घूमता हुआ गोलाकार दीख पड़ता है। परन्तु ज्योंही उसका घुमाना बन्द हो जाता है त्यों ही वह आकार भी गायब हो जाता है। अतः निश्चित है कि यह गोल आकृति की प्रतीति भ्रमणव्यापार से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार यह दृश्य प्रपञ्च माया तथा मन के स्पन्दन के कारण उत्पन्न होता है। मन के इस व्यापार के बन्द होते ही यह जगत् न जाने कहाँ चला जाता है। प्रपञ्च की प्रतीति और अप्रतीति दोनों ही भ्रान्तिजनित हैं। परमार्थदृष्टि से न इसकी उत्पत्ति होती है न लय होता है। कोई भी भ्रान्ति बिना आधार के नहीं हो सकती। सर्प की भ्रान्ति में रज्जु आधार है और चाँदी की भ्रान्ति में शुक्ति। इसी प्रकार जगत् की भ्रान्ति का अधिष्ठान वस्तुतः एक अद्वैत ब्रह्म ही है। यही इस अध्याय का सारांश है।

इस प्रकरण की भाषा, पारिभाषिक शब्द (विज्ञप्ति आदि) तथा सिद्धान्त के अनुशीलन से अनेक आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि गौडपाद ने यहाँ बुद्धधर्म के तत्त्वों का ही प्रतिपादन किया है। परन्तु यह ठीक नहीं। बहुत सम्भव है कि ये पारिभाषिक शब्द अध्यात्मशास्त्र के उस समय सर्वजनमान्य साधारण शब्द थे जिनका प्रयोग करना बौद्ध दार्शनिकों के समान गौडपाद के

---

[1] ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजातिसमतां गतम् ॥
अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्माद्भये भयदर्शिनः ॥

—मा० का० ३।३८।३९

लिए भी न्याय्य था। बौद्धदर्शन के ग्रन्थों से गौडपाद के परिचित होने का हम निषेध नहीं करते, परन्तु वेदान्त के छल से बौद्धधर्म के तत्त्वों का प्रतिपादन करने का दोष उनके ऊपर लगाने के भी हम पक्षपाती नहीं हैं[1]।

गोविन्दपाद

ये गौडपादाचार्य के शिष्य तथा शङ्कराचार्य के गुरु थे। न तो इनकी जीवनी का ही पता चलता है और न इनके द्वारा विरचित किसी वेदान्त ग्रन्थ का। शङ्करदिग्विजय से यही पता चलता है कि ये नर्मदा के तट पर रहते थे। ये महायोगी थे तथा इनका देह रसक्रिया से सिद्ध था। ऐसी किंवदन्ती साधक-मण्डली में अब भी सुनी जाती है। ये महाभाष्यकार पतञ्जलि के अवतार माने जाते हैं। इनकी एकमात्र रचना है 'रसहृदयतन्त्र' परन्तु यह रसायनशास्त्र का ग्रन्थ है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में माधव ने रसेश्वर-दर्शन के प्रसङ्ग में इस ग्रन्थ का प्रामाण्य स्वीकार किया है तथा इसे उद्धृत भी किया है। इसके सिवा इनके संबंध में विशेष ज्ञात नहीं है।

आचार्य शङ्कर इन्हीं गोविन्दपाद के शिष्य थे। अद्वैत वेदान्त का विपुल प्रचार जो कुछ आजकल दीख पड़ता है उसका समस्त श्रेय आचार्य शङ्कर तथा उनके शिष्यों को ही है। आचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर जिन भाष्यों की रचना की है वे पाण्डित्य की दृष्टि से अनुपम हैं। इन ग्रन्थों का विवरण विशेष रूप से पहले दिया गया है। शङ्कर के साक्षात् शिष्यों ने जिन ग्रन्थों की रचना की उनका भी परिचय पहले दिया जा चुका है। अब यहाँ शङ्कर के अनन्तर होने वाले अद्वैत वेदान्त के मुख्य-मुख्य आचार्यों का संक्षिप्त परिचय ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

शंकर पश्चात् आचार्य

शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्यों के अनन्तर अनेक आचार्य हुए जिन्होंने आचार्य के ग्रन्थों के ऊपर भाष्य लिखकर अद्वैत वेदान्त को लोकप्रिय बनाया। ऐसे अद्वैत वेदान्त के आचार्यों की एक बड़ी लम्बी परम्परा है। परन्तु स्थानाभाव के कारण कतिपय माननीय आचार्यों का ही संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. सर्वज्ञात्म मुनि——ये सुरेश्वराचार्य के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु का नाम देवेश्वर लिखा है, जो टीकाकारों के कथनानुसार सुरेश्वर को ही लक्षित करता है। कुछ लोग देवेश्वर को सुरेश्वर से नितान्त भिन्न मानते हैं। इनका रचा हुआ 'संक्षेपशारीरक' नामक ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' शाङ्करभाष्य के आधार पर लिखा गया है। यह चार अध्यायों में विभक्त है। विषयों का क्रम भी वैसा ही है। पहले

[1]द्रष्टव्य—दासगुप्त—History of Indian Philosophy. भाग १, पृ० ४२१—४२८ तथा विधुशेखर भट्टाचार्य—'आगम शास्त्र आफ गौडपाद'। इसके खण्डन के लिए देखिए स्वामी निखिलानन्द—मा० का० का अंग्रेजी अनुवाद भू० प्र० १६—२०

अध्याय में ५६२, दूसरे में १४८, तीसरे मे ३६५ और चौथे में ५३ श्लोक हैं। इस पर अनेक विशिष्ट वेदान्ताचार्यों की टीकाएँ भी विद्यमान हैं, जिनमें नृसिंहाश्रम की 'तत्त्वबोधिनी', मधुसूदन सरस्वती का 'सारसंग्रह' पुरुषोत्तम दीक्षित की 'सुबोधिनी' तथा रामतीर्थ की 'अन्वयार्थप्रकाशिका' प्रधान हैं। सुरेश्वर के अनन्तर सर्वज्ञात्म मुनि शृंगेरी पीठ के अध्यक्ष हुए थे, ऐसी मान्यता है।

२. वाचस्पति मिश्र—इनका नाम अद्वैत वेदान्त के इतिहास में प्रसिद्ध है। वैशेषिक को छोड़ कर,इन्होंने शेष पाँच दर्शनों पर टीकाएँ लिखी हैं। ये टीकाएँ वथा हैं उन दर्शनों के सिद्धान्त जानने के लिए बहुमूल्य उपादेय ग्रन्थ रत्न हैं। ये मिथिला के निवासी थे, अपने आश्रयदाता का नाम इन्होंने राजानृग लिखा है। 'न्यायसूचीनिबन्ध' की रचना इन्होंने ८९८ विक्रमी (८४२ ई०) में किया।[1] अत. इनका समय नवम शताब्दी का मध्यभाग है। अद्वैत वेदान्त के इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'भामती' तथा 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा'। भामती तो 'ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य' की सबसे पहली पूरी टीका है। 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' का निर्देश भामती में मिलता है। यह मण्डन मिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' की टीका है और अभी तक उपलब्ध नहीं है। आचार्य के मत को जानने के लिए 'भामती' सचमुच एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या ग्रन्थ है।

३. विमुक्तात्मा—ये अव्ययात्मा के शिष्य थे। इनका 'इष्टसिद्धि' नामक ग्रन्थ बड़ोदा के गायकवाड़ ग्रन्थमाला में हाल में प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों में नितान्त मौलिक माना जाता है। प्राचीन काल से ही इसकी कीर्त्ति अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। मधुसूदन सरस्वती ने अपने अद्वैत सिद्धि को सिद्धनामान्त ग्रन्थों में इसीलिए चतुर्थ कहा है। क्योंकि उनके पहले 'ब्रह्मसिद्धि' (मण्डन मिश्रकृत), नैष्कर्म्यसिद्धि (सुरेश्वरकृत) तथा इष्टसिद्धि (विमुक्तात्माकृत) पहले से विद्यमान थीं। इसके ऊपर ज्ञानोत्तम की बड़ी प्रामाणिक व्याख्या है। ये टीकाकार मान्य अद्वैती थे। इस टीका के अतिरिक्त इन्होंने (नैष्कर्म्यसिद्धि) पर 'चन्द्रिका' और ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य पर 'विद्याश्री' नामक दो टीकाएँ रची थीं।

४. प्रकाशात्म यति—इन्होंने चन्द्रपादाचार्य की 'पञ्चपादिका' पर विवरण नाम से एक प्रौढ़ व्याख्या ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ वेदान्त के इतिहास में इतना महत्त्व रखता है कि 'भामतीप्रस्थान' के अनन्तर इसने एक नव प्रस्थान (विवरण प्रस्थान) को जन्म दिया है। यह ग्रन्थ नितान्त प्रामाणिक माना जाता है। इनके दो और भी ग्रन्थ थे—(१) न्यायसंग्रह (शारीरक भाष्य के ऊपर) (२) शब्दनिर्णय (स्वतन्त्र ग्रन्थ अनन्तशयन-ग्रन्थावली में प्रकाशित)।

---

[1] न्यायसूची निबन्धोऽयमकारि विदुषां मुदे।
श्री वाचस्पति मिश्रेण वस्वङ्कवसु वत्सरे।

५. श्रीहर्ष—नैषधचरित के रचयिता श्रीहर्ष काव्यजगत् के चित्त को विक्षिप्त करनेवाले महाकवि थे। साथ ही साथ अद्वैत वेदान्त के इतिहास में भी इनका नाम विशेष महत्त्व रखता है। इनका 'खण्डनखण्डखाद्य' एक उत्कृष्ट खण्डनात्मक प्रकरणग्रन्थ है। अनेक नैयायिकों ने (यथा अभिनववाचस्पति मिश्र ने 'खण्डनोद्धार' में) इस ग्रन्थ के खण्डन करने का यथासाध्य खूब परिश्रम किया, परन्तु खण्डन की प्रभा किसी प्रकार मलिन नहीं हुई, प्रत्युत शङ्करमिश्र जैसे नैयायिक की टीका से मण्डित होकर यह और भी प्रद्योतित हो उठा। अद्वैत-पाण्डित्य की यह कसौटी समझा जाता है।

६. रामाद्वय—यह अद्वयाश्रम के शिष्य थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'वेदान्त कौमुदी' जो 'ब्रह्मसूत्र' के प्रथम चार अधिकरणों के ऊपर एक आलोचनात्मक निबन्ध है। यह ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, लेकिन अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इनके महत्त्व का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि 'सिद्धान्तलेश-सङ्ग्रह' तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थों में इनका सादर उल्लेख 'कौमुदीकार' के नाम से किया गया है।

७. आनन्दबोधभट्टारक—इनकी सर्वश्रेष्ठ प्रसिद्ध कृति 'न्यायमकरन्द' है जिसने इन्हें अद्वैत-वेदान्त के इतिहास में अमर बना दिया है। ये संन्यासी थे और इनके गुरु का नाम था आत्मवास। समय १२वीं शताब्दी के आस-पास। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—प्रमाणरत्नमाला, न्यायदीपावली, दीपिका (प्रकाशात्म यति के 'शाब्द निर्णय' की टीका)। चित्सुखाचार्य ने 'न्यायमकरन्द' पर टीका लिखी है।

८. चित्सुखाचार्य— ये बड़े भारी वेदान्ताचार्य थे। समय १२ वीं शताब्दी। इनके गुरु का नाम था ज्ञानोत्तम जो अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य प्रतीत होते हैं, और जिनके 'न्यायसुधा' (तत्त्वप्रदीपिका में उल्लिखित) तथा ज्ञानसिद्धि' का निर्देश मिला है, परन्तु ये दोनों ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। चित्सुख की सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) जो अद्वैतवेदान्त का एक मौलिक प्रकरणग्रन्थ माना जाता है। इनके अन्य ग्रन्थ ये हैं—(१) भाव-प्रकाशिका (शारीरकभाष्यकी टीका) (२) अभिप्राय प्रकाशिका ('ब्रह्मसिद्धि' की टीका), (३) भावतत्त्वप्रकाशिका (नैष्कर्म्यसिद्धि पर टीका), (४) भावद्योतिनी (पञ्चपादिका विवरण पर व्याख्या), (५) न्यायमकरन्द टीका', (६) प्रमाणरत्नमाला व्याख्या, (७) खण्डनखण्ड खाद्य-व्याख्यान। इनके अतिरिक्त अधिकरणसङ्गति' तथा 'अधिकरणमञ्जरी' नामक छोटे ग्रन्थ भी इन्हीं की रचनायें हैं।

९. अमलानन्द— ये दक्षिण में देवगिरि के राजा महादेव तथा राजा रामचन्द्र के समसामयिक थे। महादेव ने १२६० से लेकर १२७१ तक शासन किया। इस प्रकार १३ वीं सदी का उत्तरार्ध इनके आविर्भाव का समय है।

ये दक्षिण के रहने वाले थे। इनकी सबसे उत्कृष्ट कृति है 'वेदान्त कल्पतरु' जो वाचस्पति की भामती का अति उत्कृष्ट व्याख्यान-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के ऊपर अप्पयदीक्षित कृत 'परिमल' नितान्त प्रसिद्ध है। अन्य टीकाएँ भी थीं जिनमें वैद्यनाथकृत कल्पतरुमञ्जरी' का नाम उल्लेखनीय है। अमलानन्द ने ब्रह्मसूत्र के अभिप्राय को समझाने के लिये 'शास्त्रदर्पण' नामक एक स्वतन्त्र वृत्ति लिखी है। आकार में छोटा होने पर भी यह महत्त्व में किसी प्रकार न्यून नहीं है।

१०. अखण्डानन्द—इनके गुरु का नाम आनन्दशैल या आनन्दगिरि था। इन्होंने 'पञ्चपादिका विवरण के ऊपर 'तत्त्वदीपन' नामक निबन्ध लिखा जो एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। विवरण के ऊपर 'भावप्रकाशिका' नामक टीका में नृसिंहाश्रम ने इनकी टीका का उल्लेख किया है तथा अप्पय दीक्षित ने इनका मत उल्लिखित किया है। इन्होंने भामती पर 'ऋजुप्रकाशिका' टीका लिखी है।

११. विद्यारण्य—वेदभाष्यकार सायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य शृंगेरी पीठ के अध्यक्ष होने पर विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनके जीवन और ग्रन्थों का विवरण पीछे दिया गया है। इनके दो गुरु थे—विद्यातीर्थ और भारतीतीर्थ। ये दोनों शृंगेरी मठ के आचार्य थे। विद्यातीर्थ की कोई वेदान्ती रचना नहीं मिलती। भारतीतीर्थ का नाम 'वैयासिक न्यायमाला' तथा 'पञ्चदशी' की रचना में विद्यारण्य के साथ संयुक्त मिलता है। विद्यारण्य के समकालीन माधवमन्त्री का भी उल्लेख करना यहाँ उचित है। असाधारण योद्धा होने पर भी ये एक विशेष वेदान्त ज्ञाता थे जिन्होंने सूतसंहिता के ऊपर 'तत्त्वप्रकाशिका' नामक सुन्दर टीका लिखी है। समय १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध।

१२. शङ्करानन्द—ये भी एक उत्कृष्ट वेदान्ती थे। इन्होंने शाङ्करमत को पुष्ट तथा प्रचारित करने के लिए 'प्रस्थानत्रयी' पर टीकाएं लिखीं जो 'दीपिका' नाम से प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मसूत्रदीपिका बड़ी सरल भाषा में ब्रह्मसूत्र की व्याख्या है। गीता की टीका 'शङ्करानन्दी' जिज्ञासुओं के लिए नितान्त उपादेय है। कैवल्य, कौषीतकी, नृसिंहतापनीय, ब्रह्म, नारायण आदि भिन्न-भिन्न उपनिषदों पर इनकी दीपिका टीका लघुकाय होने पर भी नितान्त उपादेय है।

१३. आनन्दगिरि—ये शङ्कराचार्य के भाष्यों के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इन्होंने वेदान्तसूत्र के शाङ्करभाष्य पर 'न्यायनिर्णय' नामक सुबोध टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त इनके ग्रन्थ ये हैं—गीताभाष्य की टीका, पञ्चीकरणविवरण, उपदेशसाहस्री टीका, और शङ्करकृत प्रत्येक उपनिषद् भाष्य पर टीकाएँ। इनका दूसरा नाम आनन्दज्ञान है। इनकी सबसे बड़ी पाण्डित्यपूर्ण रचना सुरेश्वराचार्य के 'बृहदारण्यकवार्तिक' की टीका है।

१४. प्रकाशानन्द—इनकी एकमात्र रचना है 'वेदान्त-सिद्धान्त-मुक्तावली' जिसने इनका नाम अमर बना दिया। अप्पयदीक्षित के ये पूर्ववर्ती हैं क्योंकि दीक्षित ने 'सिद्धान्तलेश' में इनके नाम का निर्देश किया है। इनका ग्रन्थ एकजीववाद के ऊपर नितान्त प्रामाणिक पाण्डित्यपूर्ण तथा प्रांजल माना जाता है। इनके शिष्य नाना दीक्षित ने इसके ऊपर 'सिद्धान्तदीपिका' नामक व्याख्या लिखी है।

१५. मधुसूदन सरस्वती—नव्य अद्वैत वेदान्त के इतिहास में इनका नाम अग्रगण्य है। काशी में १६ वीं शताब्दी के मध्य में ये रहते थे, और अपने समय के संन्यासी सम्प्रदाय के अग्रणी थे। इनके ग्रन्थ ये हैं—(१) संक्षेपशारीरक टीका (२) गीता-टीका (गूढार्थदीपिका) (३) दशश्लोकीटीका (सिद्धान्तबिन्दु), (४) वेदान्तकल्पलतिका (मुक्ति के स्वरूप का विवेचक मौलिक ग्रन्थ), (५) अद्वैत रत्नरक्षण (शङ्करमिश्र रचित 'भेदरत्न' का खण्डन)। मधुसूदन की प्रधान कीर्ति है 'अद्वैतसिद्धि'। यह ग्रन्थ 'न्यायामृत' नामक द्वैत ग्रन्थ का खण्डन रूप है, परन्तु सामान्य रूप से नैयायिक-पद्धति से अद्वैततत्त्व के जानने का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

१६. नृसिंहाश्रम—ये भी मधुसूदन के समकालीन काशीस्थ प्रौढ़ वेदान्ती थे। ये पहिली अवस्था में दक्षिण में रहते थे पीछे काशी में आकर रहने लगे। भट्टोजीदीक्षित के घर के सब लोग इनके शिष्य थे। सुनते हैं कि अप्पय दीक्षित ने इन्हीं के प्रभाव में आकर शांकर-मत का ग्रहण किया। इनके प्रधान ग्रन्थ ये हैं:—(१) वेदान्ततत्त्व विवेक (रचनाकाल १६०४ संवत्—१५४७ ई०, दीपन नामक इनकी अपनी टीका है), (२) 'तत्त्वबोधिनी' संक्षेपशारीरक की टीका, (३) वेदान्तरत्नकोष (पञ्चपादिका टीका), (४) प्रकाशिका (पञ्चपादिका विवरण की टीका) ( ) भावप्रकाशिका (तत्त्वदीपन की टीका), (६) अद्वैतदीपिका तथा (७) भेदधिक्कार (द्वैतवाद का खण्डनरूप नितान्त प्रसिद्ध ग्रन्थ)।

१७. अप्पयदीक्षित—इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। शांकरवेदान्ती होने के पहले ये शिवाद्वैत के पक्षपाती थे। समय १७ वीं शताब्दी (१६ वीं का उत्तरार्ध तथा १७ वीं का आरम्भ)। मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' में इनका सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। इनके मुख्य वेदान्त ग्रन्थ ये हैं—(१) न्यायरक्षामणि (ब्रह्मसूत्र की टीका), ( ) कल्पतरुपरिमल (भामती की टीका 'कल्पतरु' की प्रसिद्ध व्याख्या), (३) सिद्धान्तलेश (अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के भिन्न भिन्न मतों का प्रामाणिक) निरूपण इस ग्रन्थ की सहायता से अनेक अनुपलब्ध वेदान्तियों के मतों का परिचय हमें मिलता है। इसके अतिरिक्त 'शिवार्कमणिदीपिका' 'श्रीकण्ठभाष्य' की टीका है। इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मतर्कस्तव' में श्रुति, स्मृति तथा पुराणों के द्वारा शिव का प्राधान्य निश्चित किया गया है। 'माध्वमुखमर्दन' मध्वसिद्धान्त का खण्डन है।

१८. धर्मराजाध्वरीन्द्र—ये नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य तथा दक्षिण भारत के कोलांगुलि निवासी वेङ्कटनाथ के शिष्य थे। ये प्रसिद्ध नैयायिक थे। इन्होंने 'तत्त्वचिन्तामणि' की प्राचीन दस टीकाओं का खंडन कर एक नवीन टीका बनाई थी। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है—'वेदान्तपरिभाषा'। यह वेदान्त के प्रमाण विषयक विचार जानने के लिये प्रसिद्ध ग्रंथ है। इनके पुत्र रामकृष्ण ने इस पर 'वेदान्त-शिखामणि' नामक टीका लिखी है जो प्रकाशित है।

१९-२०. नारायणतीर्थ तथा ब्रह्मानन्द सरस्वती—ये दोनों वेदान्त के आचार्य काशी में ही निवास करते थे। दोनों ने मधुसूदन के 'सिद्धान्तबिन्दु' पर टीकायें लिखी हैं, जिनके नाम क्रमशः 'लघुव्याख्या' तथा 'न्यायरत्नावली' है। ब्रह्मानंद बङ्गदेशीय थे इसलिये व गौड ब्रह्मानंद के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी सबसे विशिष्ट कृति है 'अद्वैतसिद्धि' की अद्वैत-चंद्रिका नामक टीका।

२१. सदानन्द—ये काश्मीर के रहने वाले थे। ये पूर्वोक्त दोनों आचार्यों के शिष्य थे। इनका विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ 'अद्वैतब्रह्मसिद्धि' है। स्वरूप निर्णय, स्वरूप-प्रकाश तथा ईश्वरवाद इन्हीं की रचनायें हैं जो अब तक अप्रकाशित हैं।

२२. गोविन्दानन्द—ये गोपाल सरस्वती के शिष्य थे। काशी में ही रहते थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में नृसिंहाश्रम के वचन उद्धृत किये हैं अतः इनका समय १७ वीं शताब्दी प्रतीत होता है। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना है—शांकर-भाष्य पर 'रत्नप्रभा'टीका। यह टीका शारीरक-भाष्य के अर्थ को सरलता से बताने के लिये नितान्त उपयोगी मानी जाती है।

अद्वैत-वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्यों का सामान्य परिचय यही है।

अष्टादश परिच्छेद

अद्वैतवाद

शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र—इस प्रस्थानत्रयी पर इसी तत्त्व को प्रतिपादन करने के लिये उन्होंने अपना विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा है। वेदान्त में और भी अनेक मत हैं जिनमें कुछ शंकर से प्राचीन भी हैं परन्तु इनका विशेष रूप से प्रतिपादन शंकर के पीछे ही किया गया। इन मतों में रामानुज का विशिष्टाद्वैत मत, मध्व का द्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैत, वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत, नितान्त प्रसिद्ध हैं। इन आचार्यों ने भी अपने मत की पुष्टि के लिये ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर भाष्य लिखे हैं। उपनिषदों पर भी इनके मतानुसार टीकायें लिखी गईं। शंकर के पूर्व भी वेदान्ताचार्यों ने इन ग्रन्थों के ऊपर भाष्य या व्याख्या-ग्रन्थ लिखे थे। परन्तु शंकर के भाष्य इतने विशद, इतने पाण्डित्यपूर्ण, इतने सुबोध हुए कि इनके सामने प्राचीन भाष्य ग्रन्थ विस्मृतप्राय हो गये। पिछले आचार्यों को भाष्य लिखने की प्रेरणा आचार्य के ग्रन्थों से ही मिली। इस प्रकार वेदान्त के इतिहास में शंकराचार्य का कार्य नितान्त व्यापक तथा उपादेय हुआ है, इसे स्वीकार करने में किसी को आपत्ति न होगी।

अद्वैत-सिद्धान्त का मूलमंत्र इस सुप्रसिद्ध श्लोक में निबद्ध किया गया है:—

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

(१ ब्रह्म ही सत्य है। (२) जगत् मिथ्या है। (३) जीव ब्रह्म ही है। (४) जीव ब्रह्म से कथमपि भिन्न नहीं है। ये ही चार सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्त की आधार-शिला हैं। इन्हीं का विस्तृत विवेचन हम आगे के पृष्ठों में करेंगे। यह तो हुई वेदान्त की तत्त्वमीमांसा। इसके अनन्तर अद्वैत के साधनमार्ग का प्रतिपादन आचारमीमांसा में किया गया है। अद्वैत-सम्मत प्रमाणमीमांसा का यहाँ उल्लेख स्थानाभाव से नहीं किया गया है।

आत्मा की स्वयंसिद्धता

अद्वैत वेदान्त का मूलमन्त्र है परमार्थसत्ता-रूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत् की मायिकता। इस तथ्य को हृदयङ्गम करने के लिए कतिपय मौलिक-सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है। अद्वैत-वेदान्त का एक मौलिक सिद्धान्त है जिसे भलीभाँति समझ लेने पर ही अन्य तत्त्वों का अनुशीलन किया जा सकता है। वह तत्त्व है—आत्मप्रत्यय की स्वयंसिद्धता। जगत् अनुभूति पर अवलम्बित है। अनुभव के आधार पर जगत् के समस्त व्यवहार प्रचलित होते हैं।

इस अनुभूति के स्तर में आत्मा की सत्ता स्वतःसिद्ध रूपेण अवस्थित रहती है। विषय के अनुभव के भीतर चेतन विषयी की सत्ता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि आत्मा की ज्ञातृरूपेण उपलब्धि के अभाव में विषय का ज्ञान नितरां दुरुपपाद है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्यमेव होता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य ने बड़े ही सौन्दर्यपूर्ण शब्दों में किया है।[1]

इस उद्धरण का तात्पर्य है कि आत्मा प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय है; अतः इन व्यवहारों से पहले ही आत्मा की सिद्धि है। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता। निराकरण होता है आगन्तुक (बाहर से आने वाली) वस्तु का, स्वभाव का नहीं। क्या उष्णता अग्नि के द्वारा निराकृत की जा सकती है? ज्ञातव्य में अन्यथाभाव (परिवर्तन) सम्भव है, ज्ञाता में नहीं।

'वर्तमान को इस समय जानता हूँ, 'अतीत वस्तु को मैं जानता हूँ', 'अतीत वस्तु को मैंने जाना' तथा 'अनागत वस्तु को मैं जानूँगा' इस अनुभव-परम्परा में ज्ञातव्य वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का स्वरूप कथमपि परिवर्तित नहीं होता क्योंकि वह सर्वदा अपने स्वरूप से वर्तमान रहता है। अन्यत्र आचार्य ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन संक्षेप में किया है कि सब किसी को आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है, ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो विश्वास करे कि मैं नहीं हूँ। यदि आत्मा की अस्तित्व-प्रसिद्धि न होती तो सब किसी को अपने अनस्तित्व में विश्वास होता। परन्तु ऐसा न होने से आत्मा की स्वतः सिद्ध स्पष्टतः प्रमाणित होती है[2]।

अत. आत्मा अस्तित्व के विषय में शंका करने की तनिक भी जगह नहीं है। यह उपनिषदों का ही तत्त्व है। याज्ञवल्क्य ने बहुत ही पहले कहा था कि जो सब किसी को जानने वाला है उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं[3]? सूर्य के प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है, पर सूर्य को क्योंकर प्रकाशित किया जा सकता है? इसी कारण प्रमाणों की सिद्धि का कारणभूत आत्मा किस प्रमाण के बल पर सिद्ध किया जाय? अत. आत्मा की सत्ता स्वय-सिद्ध होती है[4]।

आत्मा की ज्ञानरूपता

आत्मा ज्ञान रूप है और ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक् नहीं होता। ये दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं। ज्ञेय-पदार्थ का आविर्भाव होने पर ज्ञान

---

[1] आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं सम्भवति, आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। नहि अग्नेरौष्ण्यम-ग्निना निराक्रियते। २।३।७।

[2] सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। ब्र॰ सू॰ १।१।१ पर शांकरभाष्य।

[3] विज्ञातारमरे केन विजानीयात् बृह॰ उ॰ २।४।१४।

[4] यतो रादि प्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति। —सुरेश्वराचार्य।

ही ज्ञातारूप से प्रकट हो जाता है। परन्तु ज्ञेय के न होने पर 'ज्ञाता' की कल्पना ही नहीं उठती। जगत् को ज्ञेयरूपेण जब उपस्थिति रहती है, तभी आत्मा के ज्ञातारूप का उदय होता है। परन्तु उसके अभाव में आत्मा की ज्ञानरूपेण सर्वदा स्थिति रहती है। एक ही ज्ञान कर्ता तथा कर्म से सम्बद्ध होने पर भिन्न सा प्रतीत होता है, परन्तु वह वास्तव में एक ही अभिन्न पदार्थ है। 'आत्मा आत्मानं जानाति' (आत्मा आत्मा को जानता है) इस वाक्य में कर्तारूप आत्मा और कर्मरूप आत्मा एक ही वस्तु है। रामानुज ने भी धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान को मानकर इसी सिद्धान्त को अपनाया है। नित्य आत्मा को ज्ञानस्वरूप होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है क्योंकि ज्ञान भी नित्यानित्य भेद से दो प्रकार का होता है। अनित्य ज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न वृत्तिमात्र है जो विषयसान्निध्य होने पर उत्पन्न होता है। परन्तु तदभाव में अविद्यमान रहता है। दूसरा शुद्ध ज्ञान इससे नितान्त भिन्न है। वह सर्वथा तथा सर्वदा विद्यमान रहता है।[1] दृष्टि दो प्रकार की होती है—नेत्र की दृष्टि अनित्य है क्योंकि तिमिर रोग के होने से वह नष्ट हो जाती है—पर रोग के अपनयन होने पर उत्पन्न हो जाती है। परन्तु आत्मा की दृष्टि नित्य होती है। इसीलिए श्रुति आत्मा की दृष्टि को द्रष्टा बतलाती है। लोक में भी आत्मदृष्टि की नित्यता प्रमाणगम्य है क्योंकि जिसका नेत्र निकाल लिया गया हो वह भी कहता है कि स्वप्न में मैंने अपने भाई को या किसी प्रिय को देखा। बधिर पुरुष भी स्वप्न में मन्त्र सुनने की बात कहता है। अतः आत्मा की दृष्टि तथा ज्ञान नित्यभूत है।[1] नित्य आत्मा ज्ञान-स्वरूप है इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं[2]।

प्रत्येक विषय के अनुभव में दो अंश होते हैं—एक तो होता है अनुभव करने वाला आत्मा और दूसरा होता है अनुभव का विषय बाहरी पदार्थ। यथार्थवादी की दृष्टि में जीव और जगत् दो पृथक् स्वतन्त्र सत्तायें हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर आत्मा ही एक मात्र सत्ता सिद्ध होता है। जगत् की सत्ता केवल लोकव्यवहार की सिद्धि के लिए मानी गई है। अतः वह परमार्थरूप से सत्य न होकर व्यवहाररूप से सत्य है। शङ्कराचार्य जगत् की व्यावहारिकता सिद्ध करने के अवसर पर कहते हैं—ज्ञप्ति[3] (ज्ञान) आत्मा का स्वरूप है तथा नित्य है। चक्षु आदि द्वारों से परिणत होने वाली बुद्धि रूप, रस आदि विषयों का ग्रहण करती है। ये प्रतीतियां आत्म-विज्ञान के विषय होकर ही उत्पन्न होती हैं। अतः ये आत्म-ज्ञान के द्वारा व्याप्त होती हैं। इसलिए जगत् की कोई भी

[1]ऐतरेय उपनिषद् २। १ का शंकरभाष्य।

[2]द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्यादृष्टिर्नित्यात्मनः। ... ... आत्मदृष्ट्यादीनां प्रसिद्धमेव लोके। वदति हि उद्धृत चक्षुः स्वप्नेऽद्यमया भ्राता दृष्ट इति।

—ऐत० भाष्य २। १।

[3]विषयाकारेण परिणामिन्या बुद्धेर्ये शब्दाद्याकारवभासाः त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एव आत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते। —ऐ० भा० २। १

वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्म-ज्ञान के द्वारा व्याप्त न होकर उत्पन्न होती हो। जगत् के पदार्थ नामरूपात्मक हैं; वे भीतर रहने वाली कारण शक्ति के साथ ही परिवर्तित हुआ करते हैं। नामरूप की जिन-जिन अवस्थाओं में विकृति होती है, उन सब अवस्थाओं में यह विकृति आत्मस्वरूप को छोड़ नहीं सकती। कारण यह है कि कार्यसत्ताओं में कारणसत्ता सर्वदा तथा सर्वथा अनुस्यूत रहती है। जगत् में कार्य-कारण का यही नियम है। कोई भी कार्य अपने कारण को छोड़कर एक क्षण के लिए भी अवस्थित नहीं हो सकता। घट कार्य है और मृत्तिका उसका कारण है। क्या घड़ा मिट्टी को छोड़कर एक क्षण के लिए भी टिक सकता है? वस्त्र कार्य है और तन्तु उसका कारण है अतः वस्त्र एक क्षण के लिए भी अपने कारण तन्तु को छोड़कर रह नहीं सकता। शंकराचार्य का कथन इस विषय में नितान्त स्पष्ट है। वे कहते हैं[1]—जगत् के सब पदार्थ केवल सन्मूलक नहीं हैं, अपितु स्थितिकाल में भी वे सत्‌रूप ब्रह्म के ऊपर आश्रित रहते हैं। इस सारगर्भित वाक्य का अभिप्राय यह है कि जगत् के पदार्थ कार्यरूप हैं जिनका कारण स्वयं ब्रह्म है। वे अपनी किसी भी अवस्था में ब्रह्म को छोड़कर टिक नहीं सकते। ब्रह्म की सत्ता से तो जगत् के पदार्थों की सत्ता है। जगत् की कलायें[2] उत्पत्ति, स्थिति तथा लय की दशाओं में चैतन्य से पृथक् नहीं रह सकतीं।

अतः अद्वैत-वेदान्त का यह पक्का सिद्धान्त है कि इस विशाल विश्व के भीतर देश काल से विभक्त, भूत, वर्तमान तथा भविष्य में होने वाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्मा से पृथक् रह सके—आत्मा से भिन्न हो[3]। सच तो यह है कि नामरूप से जगत् के पदार्थ विभिन्न भले प्रतीत हों परन्तु उनके भीतर चैतन्यरूप से एक ही आत्मा झलक रहा है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो आत्मा से व्याप्त न हो। अतः प्रत्येक अनुभव में हम आत्मा की ही उपलब्धि करते हैं। वही विषयरूप है और विषयीरूप है। अनुभवकर्ता के रूप में वह ही विद्यमान है तथा अनुभव के कर्मरूप से वही अवस्थित है। वह भीतर भी है बाहर भी है। कर्ता भी है कर्म भी है। इसीलिए शंकर का कथन है कि इस विश्व में एक ही सत्ता सर्वत्र लक्षित हो रही है। वह अखण्ड है उसका खण्ड नहीं किया जा सकता। बाहरी जगत् में जो पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं वे तो इसी महती सत्ता के ऊपर

---

[1] प्रजाः न केवलं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः सदाश्रयाः एव।
—छा॰ भा॰ ६।४।

[2] चैतन्या व्यतिरेकेण एव हि कलाः जायमानाः तिष्ठन्त्यः प्रतीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते।
—प्र॰ उ॰ भा॰ ६।२

[3] नहि आत्मनोऽन्यत्…… तदप्रविभक्त देशकालं भूतभवत् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते। यदा नामरूपे व्याक्रियते, तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाऽप्रविभक्त देशकाले सर्वासु अवस्थासु व्याक्रियते
—शारी॰ भा॰ २।१।६।

प्रतिष्ठित होकर ही दिखलाई पड़ते हैं। विषयी विषय का यह पार्थक्य वास्तविक नहीं है अपितु व्यवहार के लिए ही कल्पित किया गया है। तात्पर्य यह है कि जगत् के भीतर सर्वत्र एक निर्विकार सत्ता अखण्ड रूप से व्याप्त है। यही सत्ता नाना रूपों से हमारी दृष्टि के सामने आती है। जिसे हम घट के नाम से पुकारते हैं वह वस्तुतः इस सत्ता का एक उन्मेषमात्र है। वह स्वतन्त्र कोई भी वस्तु नहीं है। शंकर के अद्वैत वेदान्त का यही रहस्य है।

ब्रह्म

इस निर्विकल्पक, निरुपाधि तथा निर्विकार सत्ता का नाम ब्रह्म है। उपनिषदों ने निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म दोनों का प्रतिपादन किया है। परन्तु आचार्य की सम्मति में निर्गुण ब्रह्म ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। श्रुति का पर्यवसान निर्गुण की व्याख्या में है क्योंकि निर्गुण ब्रह्म ही पारमार्थिक है। सगुण ब्रह्म तो जगत् के समान मायाविशिष्ट होने से मायिक सत्ता को धारण करता है। आचार्य ने ब्रह्म के वास्तव स्वरूप के निर्णय करने के लिये दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है। (१) स्वरूप लक्षण तथा (२) तटस्थ लक्षण। 'स्वरूप लक्षण' पदार्थ के सत्य तात्त्विक रूप का परिचय देता है। परन्तु तटस्थ लक्षण कतिपय कालावस्थायी आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है। लौकिक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है। कोई ब्राह्मण किसी नाटक में एक क्षत्रिय नरेश की भूमिका ग्रहण कर रंगमंच पर अवतीर्ण होता है जहाँ वह शत्रुओं को परास्त कर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराता है और अनेक शोभन[1] कार्यों का सम्पादन कर प्रजा का अनुरञ्जन करता है। परन्तु इस ब्राह्मण के सत्य स्वरूप के निर्णय करने के लिये उसे राजा बतलाना क्या उचित है? राजा है वह अवश्य, परन्तु कब तक? जब तक नाटक-व्यापार चलता रहता है। नाटक की समाप्ति होते ही वह अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है। अतः उस पुरुष को क्षत्रिय राजा मानना 'तटस्थ लक्षण' हुआ तथा ब्राह्मण बतलाना 'स्वरूप लक्षण' हुआ।

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। आगन्तुक गुणों के समावेश करने के कारण यह उसका तटस्थ लक्षण है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० उ० २।१।१) तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० उप० ३।९।२८) ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक लक्षण हैं। आचार्य ने सत्यादि शब्दों के अर्थों की मार्मिक अभिव्यंजना की है। 'सत्य', 'ज्ञान' तथा 'अनन्त' शब्द एकविभक्तिक होने से ब्रह्म के विशेषण प्रतीत होते हैं। ब्रह्म विशेष्य है और सत्यादि विशेषण हैं। परन्तु विशेषणों की सार्थकता तभी मानी जा सकती है जब एकजातीय अनेक-विशेषण-योगी अनेक द्रव्यों की सत्ता विद्यमान हो। परन्तु ब्रह्म के एक अद्वितीय होने से इन विशेषणों की उपपत्ति नहीं होती। इस पर आचार्य कहते हैं कि ये विशेषण

---

[1] 'स्वरूपं सद्व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्। कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थ लक्षणम्।

लक्षणार्थ-प्रधान हैं। विशेषण और लक्षण में अन्तर होता है[1] विशेषण, विशेष्य को उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन (भेद) करने वाले हैं, किन्तु लक्षण इसे सभी से व्यावृत्त कर देता है। अत. ब्रह्म को एक होने के कारण सत्यं, ज्ञान ब्रह्म के लक्षण हैं विशेषण नहीं। 'सत्य' का अर्थ है अपने निश्चित रूप से कथमपि व्यभिचरित न होने वाला पदार्थ (यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्) अर्थात् कारण सत्ता ब्रह्म में कारणत्व होने पर मृत्तिका के समान अचित्र पना प्राप्त न हो जाय, अत. ब्रह्मज्ञान कहा गया है। ज्ञान का अर्थ है अवबोध जो वस्तु किसी से प्रविभक्त न हो सके वही 'अनन्त' है। (यद्धि न कुतश्चित् प्रविभज्यते तद् अनन्तम्) यदि ब्रह्म को ज्ञान का कर्ता माना जायगा, तो उसे ज्ञेय, तथा ज्ञान से विभाग करना पड़ेगा ज्ञानप्रक्रिया में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी सदैव विद्यमान रहती है। अतः अनन्त होने से ब्रह्म ज्ञान ही है। ज्ञान का कर्ता नहीं। अतः ब्रह्म जगत् का कारण, ज्ञान स्वरूप और पदार्थान्तर से अविभक्त है। वह सत (सत्ता) चित् (ज्ञान) और आनन्दरूप (सच्चिदानन्द) है। यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म का स्वरूप धारण करता है परन्तु अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है।

शंकर रामानुज ब्रह्म भेद

शंकर तथा रामानुज की ब्रह्म मीमांसा में अन्तर पड़ता है शंकर के अनुसार ब्रह्म सजातीय विजातीय तथा स्वगत इन तीनों भेदों से रहित है। परन्तु रामानुज की सम्मति में ब्रह्म प्रथम दो भेदों से रहित होने पर भी स्वगत-भेद शून्य नहीं है, क्योंकि चिद्चिद्-विशिष्ट ब्रह्म में चिदंश अचिदंश से नितान्त भिन्न हैं। अतः अपने में इन भिन्न-विरोधी अंशों के सद्भाव के कारण रामानुज दर्शन में ब्रह्म स्वगत भेद सम्पन्न स्वीकृत किया गया है।

निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष सलक्षण जगत् की उत्पत्ति क्योंकर हुई, एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर के लिए 'माया' के स्वरूप को जानना परम आवश्यक है। शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है (शारीरिक भा० १।४।३) परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थभेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीजशक्ति का नाम '<u>माया</u>' है। मायारहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति[2] नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। वह अभिधान का बीज-रूप 'अव्यक्त' कही गयी है। वह परमेश्वर में आश्रित रहने वाली महासुप्तिरूपिणी है[1] जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन किया करते हैं[2] अनि

---

[1] समानजातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य। लक्षणं तु सर्वत एव। यथा-अवकाशप्रदातृ आकाशमिति। —तैत्ति० भा० २।१।

[2] अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। शारीरक भाष्य। —१।४।३।

की अपृथग्भूता दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ब्रह्म की अपृथग्भूता शक्ति है।"
त्रिगुणात्मिका माया ज्ञानविरोधी भाव रूप पदार्थ है। भावरूप कहने से अभिप्राय है कि वह अभावरूपा नहीं है। माया न तो सत् है और न असत्। इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। जो पदार्थ सद्रूप से या असद्रूप से वर्णित न किया जा सके उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। माया को 'सत्' कह नहीं सकते क्योंकि ब्रह्मबोध से उसका बाध होता है। सत् तो त्रिकालाबाधित होता है। अतः यदि वह सत् होती, तो कभी बाधित नहीं होती। अतः उसकी प्रतीति होती है। इस दशा में उसे असत् कहना भी न्याय-संगत नहीं क्योंकि असत् वस्तु कभी प्रतीयमान नहीं होती (सच्चेन्न बाध्यते, असच्चेत् न प्रतीयते) इस प्रकार माया में बाधा तथा प्रतीति उभयविध विरुद्ध गुणों का सद्भाव रहने से माया को अनिर्वचनीय ही कहना पड़ता है। प्रमाणासहिष्णुत्व ही अविद्या का अविद्यत्व है[1]। तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है। सूर्योदय काल में अन्धकार की भांति ज्ञानोदय काल में माया टिक नहीं सकती। अतः नैष्कर्म्यसिद्धि[2] का कहना है कि "यह भ्रान्ति आलम्बनहीन तथा सब न्यायों से नितान्त विरोधनी है। जिस प्रकार अन्धकार को सूर्य नहीं सह सकता उसी प्रकार माया विचार को नहीं सह सकती।"
इस प्रकार प्रमाणासहिष्णु और विचार-सहिष्णु होने पर भी इस जगत् की उत्पत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्ति-युक्त है। इसीलिये शंकराचार्य ने माया का स्वरूप दिखलाते समय लिखा है कि माया भगवान् की अव्यक्त शक्ति है जिसके आदि का पता नहीं चलता। वह गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी है। उसका पता उसके कार्य से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है :—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या[3]।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥

माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभयरूप भी नहीं है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाऽभिन्न उभय रूप है। न अंगसहित है और न अंगरहित है और न उभयात्मिका ही है, किन्तु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीय है—वह ऐसी है जो कही न जा सके :—

सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा[4]॥

---

[1] अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम् यत् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्॥
—बृह० भाष्य वार्तिक १८१

[2] सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्याय विरोधिनी। सहते न विचारं सा तमो यद्वद् दिवाकरम्॥
—नैष्कर्म्यसिद्धि २। ६६

[3] विवेक चूडामणि श्लोक

[4] " " ११० १११, द्रष्टव्य प्रबोध सुधाकर श्लोक० ८९-१०८

माया की दो शक्तियाँ हैं[1]—आवरण तथा विक्षेप। इन्हीं के सहायता वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव रूप को आवृत्त कर उसमें अवस्तु-रूप जगत् की प्रतीति उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरु को इन दोनों शक्तियों की निःसन्दिग्ध सत्ता का अनुभव हुए विन रह नहीं सकता। अधिष्ठान के सच्चे रूप को जब तक ढक नह दिया जाता तब तक भ्रान्ति की उत्पत्ति हो नहीं सकती। भ्रमोत्पाद जादू के खेल इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ठीक इसके अनुरूप ही भ्रान्तिस्वरूपा माय में इन दो शक्तियों की उपलब्धि पाई जाती है। आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरू को मानों ढक लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाश आदि प्रपंच को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटा सा मेघ दर्शकों के नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन विस्तृत आदित्यमंडल को आच्छादित सा कर देता है उसी प्रकार परिमित अज्ञान अनुभवकर्ताओं की बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित सा कर देता है। इसी शक्ति की संज्ञा 'आवरण' है जो शरीर के भीतर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत कर देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञानावृत भाव रज्जु में अपनी शक्ति से सर्पादि की उद्भावना करता है ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के बल पर आकाश आदि जगत्प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का अभिधान विक्षेप है। मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत का रचयिता है। चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और उपाधि पक्ष की दृष्टि में वही ब्रह्म उपादान कारण है। अतः ब्रह्म की जगत्कर्तृता में माया को ही सर्वप्रधानतया कारण मानना उचित है।

माया की शक्तियाँ

ईश्वर

यही निर्विशेष ब्रह्म माया के द्वारा अविच्छिन्न होने पर सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है तब उसे 'ईश्वर' कहते हैं। विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण यही ईश्वर है। परन्तु ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि करने में कौन सा उद्देश्य सिद्ध होता है, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। बुद्धिशाली चेतन पुरुष जब कभी छोटे कार्य में प्रवृत्त होता है तब उसका कोई न कोई प्रयोजन अवश्य रहता है। तब भला संसार की रचना जैसे गुरुतर कार्य का कोई प्रयोजन न होगा यह कैसे माना जायेगा? अतः इस प्रयोजन को खोज निकालना आवश्यक है। श्रुति

[1] शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥

—दृग्दृश्यविवेक श्लोक १३। १४

ईश्वर को 'सर्वकामः' कह कर पुकारती है अर्थात् उसकी सब इच्छायें परिपूर्ण हैं। यदि ईश्वर का इस सृष्टिव्यापार से कोई आत्मप्रयोजन सिद्ध होता है तो परमात्मा का श्रुतिप्रतिपादित परितृप्तत्व बाधित होता है। अथ च यदि निरुद्देश्य प्रवृत्ति की कल्पना मानी जाय तो ईश्वर की सर्वज्ञता को गहरा धक्का लगता है। जो सब वस्तुओं का ज्ञाता है वह स्वयं सृष्टि के उद्देश्य से कैसे अपरिचित रह सकता है! अतः परमेश्वर का यह व्यापार लीलामात्र है। जैसे लोक में सब मनोरथ की सिद्धि होने वाले पुरुष के व्यापार बिना किसी प्रयोजन के लीला के लिये होते हैं उसी प्रकार सर्वकाम तथा सर्वज्ञ ईश्वर का यह सृष्टिव्यापार लीलाविलास है[1]।

ईश्वरकर्तृत्व के विषय में वेदान्त तथा न्याय वैशेषिक के मत पृथक् पृथक् हैं। न्याय ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मानता है।

ईश्वर उपादान कारण

परन्तु वेदान्त के मत में ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण भी है। जगत् की सृष्टि इच्छापूर्वक है—स ईक्षांचक्रे। स प्राणमसृजत। (प्रश्न उप० ६।३-४) ईक्षणपूर्वक सृष्टिव्यापार के कर्ता होने के कारण ईश्वर निमित्त कारण निःसन्देह है। पर उसके उपादानत्व के प्रमाणों की भी कमी नहीं है। उपनिषद् में इस प्रश्न के उत्तर में कि जिस एक वस्तु के जानने पर सब वस्तुयें ज्ञात हो जाती हैं ब्रह्म ही उपदिष्ट है। जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड के जानने से समग्र मिट्टी के बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि मृत्तिका ही सत्य है, मृण्मय पदार्थ केवल नामरूपात्मक हैं। उसी प्रकार एक ब्रह्म के जानने पर समस्त पदार्थ जाने जाते हैं (छान्दो० उप० ६।१।२)। ब्रह्म का मृत्तिका के साथ दृष्टान्त उपस्थित किये जाने से ब्रह्म का उपादानत्व नितान्त स्पष्ट है (ब्र० सू० १।४।२३)। 'मुण्डक' उपनिषद् (३।१।३) ब्रह्म को 'योनि' शब्द से अभिहित करता है (कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्)। अतः ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण है। वेदान्त चेतन ब्रह्म को जगत्कारण मानने में विरोधियों के अनेक तर्कों का समुचित खण्डन करता है। जो लोग सुख-दुःखात्मक तथा अचेतन जगत् से विलक्षण होने के कारण ईश्वर को कारण मानने के लिये तैयार नहीं हैं उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि अचेतन गोमय (गोबर) से चेतन वृश्चिक (बिच्छू) का जन्म होता है और चेतन पुरुष से अचेतन नख केश उत्पन्न होते हैं। अतः विलक्षणत्व हेतु से ब्रह्म की जगत्-कारणता का परिहार नहीं किया जा सकता है (शांकरभाष्य २.१।३)। जगत् भोग्य है, आत्मा भोक्ता है।

---

[1] ईश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। नहीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा संभवति। न च स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते। यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बविरचना गुरुतरसंरम्भेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयं अपरिमितिशक्तित्वात्।

— शां० भा० २।१।३३ पर।

परन्तु उपादान कारण से दोनों की एकता सिद्ध है तो भोक्ता-भोग्य का विधान न्यायसंगत कैसे प्रतीत होगा ? परन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है क्योंकि समुद्र तथा लहरियों में, मिट्टी तथा घड़ों में वास्तविक एकता होने पर भी व्यावहारिक भेद अवश्य है, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में भी वास्तविक अभेद होने पर भी व्यावहारिक भेद अवश्यमेव विद्यमान है। (शां० भा० २।१।१४)

उपासना के लिये निर्विशेष ब्रह्म सविशेष ईश्वर का रूप धारण करता है। ब्रह्म वस्तुतः प्रदेशहीन है तथा उपाधि विशेष से सम्बन्ध होने से वही ब्रह्म भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्वीकृत किया जाता है। इसीलिये उपनिषदों में सूर्य में, नेत्र में, हृदय में ब्रह्म की उपासना कही गई है। इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि उभयविध ब्रह्म के *ज्ञान तथा उपासन* का फल भी वस्तुतः भिन्न होता है। जहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म आत्मरूप बतलाया है वहाँ फल एकत्व रूप मोक्ष ही होता है। परन्तु जहाँ प्रतीक उपासना का प्रसंग आता है अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध किसी प्रतीक[1] (सूर्य आकाशादि) विशेष से बतलाया गया है वहाँ संसारगोचर फल भिन्न-भिन्न उपास्य - उपासक के भेद की दृष्टि से ही कल्पित हैं। अतः ईश्वर और जीव की कल्पना व्यावहारिक होने से दोनों मायिक हैं—उपाधि के काल्पनिक विलास के सिवाय और कुछ नहीं है। इसीलिये पञ्चदशीकार कहते हैं[2] :—

उपास्य-ब्रह्म

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वमद्वैतमेव हि ॥

जीव

वह चैतन्य जो अन्तःकरण के द्वारा अवच्छिन्न होता है 'जीव' कहलाता है। आचार्य ने शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के ऊपर शासन करने वाले तथा कर्मों के फल भोगने वाले आत्मा को जीव बतलाया है। विचारणीय विषय यह है कि आत्मा की उत्पत्ति बतलाने वाले उपनिषद्वाक्यों का रहस्य क्या है ? आत्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव माना जाता है। तब उसकी उत्पत्ति कैसे हुई ? अनित्य ही वस्तु उत्पन्न होती है। जो आत्मा नित्य है उसकी उत्पत्ति किस प्रकार अङ्गीकृत हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर में बादरायण का स्पष्ट कथन है कि शरीर आदिक उपाधियाँ ही उत्पन्न होती हैं। आत्मा नित्य होने से कभी उत्पन्न नहीं होता (२।३।१७ शां० भा०)। शङ्कराचार्य के मत में जीव चैतन्य स्वरूप है। वैशेषिक दर्शन चैतन्य को आत्मा का कदाचित् रहने वाला गुण ही माना है। परन्तु वेदान्त इस बात को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। अद्वैत वेदान्त

[1] यत्र हि निरस्त सर्वविशेष सम्बन्धं परं ब्रह्मात्मत्वेन उपदिश्यते तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते। यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीकविशेषसम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येव उच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते। —१।१.२४ शां भा

[2] पञ्चदशी ६।२३६

के अनुसार परब्रह्म और आत्मा में नितान्त एकता है। ब्रह्म ही उपाधि के सम्पर्क में आकर जीवभाव से विद्यमान रहता है। इस प्रकार दोनों में एकता होने पर यही सिद्ध होता है कि आत्मा चैतन्य रूप ही है। आत्मा के परिमाण के विषय में भी सूत्रकार तथा भाष्यकार ने खूब विचार किया है। अनेक श्रुति-वाक्यों के आधार पर पूर्वपक्ष का कथन है कि आत्मा अणु है। भाष्यकार का उत्तर है—बिलकुल नहीं। जब आत्मा ब्रह्म से अभिन्न ही है तब वह ब्रह्म के समान ही विभु, व्यापक होगा। उपनिषदों में आत्मा को अणु कहने का तात्पर्य यही है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है। आत्मचैतन्य के प्रकट होने की तीन अवस्थायें हैं—*जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति।* जाग्रत अवस्था में हम संसार के नाना कार्यों में लगे रहते हैं—हम उठते हैं, बैठते हैं, खाते हैं, पीते हैं। स्वप्न अवस्था में हमारी इन्द्रियाँ बाहरी जगत से हट कर निश्चेष्ट हो जाती हैं। उस समय हम निद्रित रहते हैं। उस समय भी चैतन्य बना रहता है। सुषुप्ति का अर्थ है गाढ़ निद्रा। चैतन्य उस समय भी रहता है, क्योंकि गहरी नींद से उठने पर हम सब लोगों की यही भावना रहती है कि हम खूब आनन्दपूर्वक सोये। कुछ जाना नहीं। चैतन्य इस दशा में भी है। परन्तु शुद्ध चैतन्य इन तीनों अवस्थाओं के चैतन्य से तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय—इन पाँचों कोषों में उपलब्ध चैतन्य से भिन्न है। इस प्रकार आत्मा ब्रह्म के समान ही सच्चिदानन्द रूप है। ब्रह्म जब शरीर ग्रहण कर अन्तःकरण से अवच्छिन्न हो जाता है तब उसे हम 'जीव' के नाम से पुकारते हैं।

जीव की वृत्तियाँ उभयमुखीन होती हैं। बाहर भी होती हैं, भीतर भी होती हैं। जब वे बहिर्मुख होती हैं तब विषयों को प्रकाशित करती हैं। जब वे अन्तर्मुख होती हैं तो अहंकर्ता को प्रकट करती हैं। जीव की उपमा नृत्यशाला में जलने वाले दीपक से दी जा सकती है। दीपक सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तकी को एक समान प्रकाशित करता है और इनके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है। इसी प्रकार आत्मा अहंकार, विषय, इन्द्रिय तथा बुद्धि को अवभासित करता है और इनके अभाव में अपने आप शोतमान रहता है। बुद्धि में चांचल्य रहता है। इस बुद्धि से युक्त होने पर जीव चंचल के समान प्रतीत होता है। वस्तुतः वह नित्य और शान्त है।

अद्वैत वेदान्त का मूल सिद्धान्त है कि व्यष्टि और समष्टि में किसी प्रकार का अन्तर नहीं। 'व्यष्टि' का अर्थ है व्यक्ति शरीर। समष्टि का अर्थ है समूहरूपात्मक जगत्। वेदान्त तीन प्रकार का शरीर मानता है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इनके अभिमानी जीव तीन नामों से अभिहित किये जाते हैं। स्थूल शरीर के अभिमानी को 'विश्व' कहते हैं। सूक्ष्म के अभिमानी को 'तैजस' तथा कारण के अभिमानी को 'प्राज्ञ' कहते हैं। यह तो हुई व्यष्टि की बात। समष्टि में भी समष्टि के अभिमानी चैतन्य को क्रमशः विराट् (वैश्वानर), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर कहते हैं। व्यष्टि और समष्टि के अभिमानी

पुरुष बिलकुल अभिन्न हैं। परन्तु आत्मा इन तीनों से परे स्वतंत्र सत्ता है।

निम्नलिखित कोष्ठक में यह विषय संगृहीत किया जाता है—

शरीर	अभिमानी	कोश	अवस्था
स्थूल	समष्टि-वैश्वानर (विराट्) व्यष्टि-विश्व	अन्नमय	जाग्रत
सूक्ष्म	स० सूत्रात्मा व्य० तैजस	मनोमय प्राणमय विज्ञानमय	स्वप्न
कारण	स० ईश्वर व्य० प्राज्ञ	आनन्दमय	सुषुप्ति

जीव और ईश्वर

जीव और ईश्वर के सम्बन्ध के विषय में ब्रह्म सूत्र तथा शाङ्कर भाष्य में खूब विचार किया गया है। ईश्वर उपकारक है तथा जीव उनके द्वारा उपकार्य है। यह उपकार्य-उपकारक भाव बिना सम्बन्ध के वस्तुओं में नहीं रह सकता। इसलिए दोनों में किसी सम्बन्ध की कल्पना करना उचित है। यह सम्बन्ध अंशांशी[1] भाव है। ईश्वर अंशी है और जीव उसका अंश है—जिस प्रकार अग्नि अंशी है और विस्फुलिंग (चिनगारी) उसका अंश है। सूत्रकार ने तो जीव को अंश ही कहा है (ब्र० सू० २।३।४३), परन्तु आचार्य का कहना है कि अंश का अर्थ है अंश के समान क्योंकि सावयव वस्तु में अंश हुआ करता है। ईश्वर ठहरा निरवयव। निरवयव की अंशकल्पना कैसे? प्रश्न हो सकता है कि अंग के दुःख से अंगी का दुःखित होना लोकव्यवहार में सिद्ध है। हाथ-पैर आदि अंगों में क्लेश होने पर अंगी देवदत्त स्वयं अपने को दुःखी समझता है। ऐसी दशा में जीव के दुःख से ईश्वर को भी दुःखी होना चाहिए। इसका उत्तर आचार्य ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में दिया है कि जीव का दुःख का अनुभव करना मिथ्याभिमान-जनित भ्रम के कारण होता है। जीव अविद्या के वश में होकर अपने को देह से, इन्द्रियों से, मन से अभिन्न समझ लेता है। फलतः शरीर आदि के दुःखों को वह अपना ही दुःख समझकर दुःखी[2] बन जाता है। अतः जब अविद्या के कारण ही जीव दुःखों का अनुभव करता है तब अविद्या से रहित ईश्वर को दुःखों का भोक्ता किस प्रकार माना जा सकता है। इस विषय में प्रकाश का उदाहरण दिया जा सकता है। जिस प्रकार जल में पड़ने वाला सूर्य बिम्ब जल के हिलने से हिलता हुआ दिखलायी

[1] अंशो नाना व्यपदेशात्—ब्र० सू० २।३।४३ पर शा०भा०

[2] जीवो ह्यविद्यावेशवशाद् देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःखी अहं इति अविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। मिथ्याभिमान भ्रम निमित्त एव दुःखानुभवः।

—शा० भा० २।३।४६

पड़ता है परन्तु सूर्य में किसी प्रकार का कम्पन नहीं होता, उसी प्रकार अविद्या-जनित क्लेशों से दुःखित होने वाले जीव के क्लेशों से ईश्वर किसी प्रकार प्रभावित नहीं होता।

जीव न तो साक्षात् ईश्वर ही है न वह वस्त्वन्तर है। वह ईश्वर का आभास उसी प्रकार है जिस प्रकार जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब। एक जलराशि में जब सूर्य का प्रतिबिम्ब कम्पित होता है तो दूसरे जलराशि में पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब कम्पित नहीं होता। इसी प्रकार जब एक जीव कर्म और कर्मफल के साथ सम्बद्ध है तब दूसरा जीव उसके साथ सम्बद्ध हो नहीं सकता। यही कारण है कि कर्म और कर्मफल के बीच किसी प्रकार की असङ्गति नहीं होती। जो जीव कर्म करता है वही उसके फल को पाता है। सामान्य रूप से सभी जीव ईश्वर के आभास हैं; पर इसका यह अर्थ नहीं कि एक जीव के द्वारा किया गया कार्य दूसरे जीव को फल देगा। सूर्य-प्रतिबिम्ब के उदाहरण को आचार्य ने ३।२।२० के भाष्य में बड़े स्पष्ट रूप से समझाया है। "जल में पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के बढ़ने पर बढ़ता है। जब जल घटता है तो वह संकुचित हो जाता है। जल जब हिलता है तब वह भी हिलता है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब जल-धर्म का अनुयायी होता है लेकिन बिम्बस्थानीय सूर्य स्वतंत्र रहता है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म वस्तुतः विकारहीन है, एक रूप है; परन्तु जिन देह इन्द्रिय आदि उपाधियों को धारण करता है उनके धर्मों को वह ग्रहण करता सा प्रतीत होता है। वस्तुतः यह बात नहीं है।"[1]

जीव ईश्वर का आभास है

विचारणीय प्रश्न यह है कि अद्वैततत्त्व को मानने पर ईश्वर के समान जीव को भी जगत् का कर्ता होना अनिवार्य है। इसका उत्तर यह है कि जीव का सामर्थ्य परिमित है। जो कुछ उसकी शक्ति है वह परमेश्वर की अनुकम्पा का फल है। अतः जीव अपनी परिमित शक्ति के बल पर इतने विशाल और विचित्र संसार की सृष्टि कर ही नहीं सकता। यह तो परमेश्वर की लीला का विलास है। परमेश्वर ही नाम-रूप का कर्ता है, यह सब उपनिषदों का कथन है। इस पर प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रकार अग्नि और स्फुलिंग दोनों में दाहकता तथा प्रकाशकता की शक्ति है उसी प्रकार ईश्वर और जीव दोनों में सृष्टिरचना की शक्ति होनी चाहिए। क्या कारण है कि जीव में सृष्टिकर्तृत्व शक्ति नहीं रहती। इसका उत्तर शङ्कराचार्य के ही शब्दों में इस प्रकार है[2]—जीव और ईश्वर में अंशांशी भाव होने पर भी जीव में ईश्वर के विपरीत धर्मों की स्थिति है यह घटना नितान्त प्रत्यक्ष है। तो क्या जीव और ईश्वर में समानधर्मता नहीं है? उत्तर है—नहीं है।

---

[1] शा० भा० ३।२।२० पर।

[2] 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ'—३।२।५ पर शां० भा०

समानधर्मता विद्यमान होने पर भी अविद्या आदि व्यवधानों के कारण छिपा हुआ है। अवश्य ही यह व्यवधान यदि हटाया जाय तो उस शक्ति का उदय हो सकता है। और यह तभी सम्भव है जब उस परमेश्वर की कृपा हो। ईश्वर के ध्यान करने से साधकों में अलौकिक शक्तियाँ देखी जाती हैं जिससे वे नवीन सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। जप, तप तथा योग का यही तो फल है कि तिरोहित शक्ति का फिर से उदय हो। अविद्या का स्थान तिमिररोग के समान है। जिस प्रकार तिमिर रोग (माड़ा का छा जाना) के कारण नेत्रों की दर्शनशक्ति कुण्ठित हो जाती है पर दवा के सेवन से वह शक्ति फिर प्रकट होती है उसी प्रकार ईश्वर के स्वरूप के अज्ञान से जीव बन्धन को प्राप्त होता है और ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो जाने से उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

हमारी इस समीक्षा का यह निष्कर्ष है कि जीव ईश्वर के अंश के समान है। वह परमेश्वर का आभास है, प्रतिबिम्ब है। अविद्या के कारण ही जीव शरीर के साथ सम्बद्ध होने के कारण नाना प्रकार के क्लेशों का अनुभव करता है परन्तु ईश्वर का इससे कोई सम्पर्क नहीं रहता। जहाँ तक जगत् की सृष्टि का सम्बन्ध है वह शक्ति जीव में नहीं। वह शक्ति अविद्या के कारण तिरोहित हो गयी है।

जगत्

जगत् के विषय में कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय वालों को भी मान्य हैं। जगत् की उत्पत्ति के विषय में अन्य दार्शनिकों ने भी अपनी दृष्टि से खूब विचार किया है। एक सम्प्रदाय का कहना है कि यह जगत् अचेतन परमाणुओं के संघात का परिणाम है (न्याय वैशेषिक)। तो दूसरे सम्प्रदाय का विश्वास है कि बिना किसी अन्य की सहायता के स्वयं परिणाम को प्राप्त होने वाली जड़ प्रकृति का यह जगत् विकारमात्र है—अर्थात् बिना किसी सहायता के सत्व, रज और तमगुणविशिष्ट अचेतन प्रकृति स्वयं जगत् के रूप में परिणत हो जाती है। (सांख्य योग)। अन्य दार्शनिकों के मत में इस जगत् की उत्पत्ति दो स्वतंत्र पदार्थों—प्रकृति तथा ईश्वर—के संयोग से होती है जिसमें प्रकृति उपादान कारण होती है और ईश्वर निमित्त कारण होता है (पाशुपत मत)। इन सिद्धान्तों में शङ्कर का तनिक भी विश्वास नहीं। उनका (तथा रामानुज का भी) यह परिनिष्ठित मत है कि यह जगत् किसी चेतन पदार्थ से आविर्भूत हुआ है। अचेतन वस्तु इस जगत् को उत्पन्न करने में नितान्त असमर्थ है। चेतन तथा अचेतन—ईश्वर तथा प्रकृति—के परस्पर संयोग से जगत् की उत्पत्ति मानना कथमपि युक्तियुक्त नहीं है। उपनिषद् डंके की चोट पुकार रहा है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह सब कुछ ब्रह्म ही है—ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी अन्य सत्ता यहां विद्यमान ही नहीं

तब प्रकृति की अलग कल्पना करना उपनिषद् से नितान्त विरुद्ध है। प्रकृति की कल्पना केवल अनुमान के भरोसे है। इसीलिए बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्रों में सर्वत्र प्रकृति के लिए 'आनुमानिक' शब्द का प्रयोग किया है। निष्कर्ष यह है कि यह जगत् न तो अचेतन प्रकृति का परिणाम है और न अचेतन परमाणुओं के परस्पर संयोग से उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है। मायाविशिष्ट ब्रह्म ईश्वर कहलाता है, वही इस जगत् की उत्पत्ति में उपादान कारण भी है तथा निमित्त कारण भी। जगत् की सृष्टि में ईश्वर की स्थिति एक ऐन्द्रजालिक की सी है। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपनी माया शक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ होता है उसी प्रकार ईश्वर भी माया-शक्ति के बल पर इस जगत् की सृष्टि करता है। जिस प्रकार बीज में अङ्कुर पहले से विद्यमान रहता है उसी प्रकार यह जगत् भी निर्विकल्पक रूप से ईश्वर में ही विद्यमान है। माया के द्वारा देश काल आदि विचित्रता की कल्पना से युक्त होकर यह जगत् मूर्त रूप धारण करता है—निर्विकल्परूप छोड़ कर सविकल्पक रूप में आता है। ऐन्द्रजालिक के समान तथा महायोगी के सदृश ईश्वर अपनी इच्छा से जगत् का विजृंभण किया करता है[1]। यह उसकी इच्छा-शक्ति का विलास है। जब सृष्टि की इच्छा हुई तब इसका विस्तार कर देता है और जब संहार की इच्छा होती है तब इसे समेट लेता है। इस प्रकार यह जगत् अपनी स्थिति सृष्टि तथा संहार के लिये ब्रह्म के ऊपर ही आश्रित रहता है।

जगत् के इस स्वरूप को समझ लेने पर उसकी सत्ता के प्रश्न का निपटारा भी अनायास किया जा सकता है। समस्या यह है कि जगत् सत्य है या असत्य? अद्वैतवेदान्त का स्पष्ट उत्तर है—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। इस अर्थगर्भित वाक्य के अभिप्राय को ठीक ठीक न समझने के कारण शिक्षित पुरुषों में भी यह धारणा फैली हुई है कि अद्वैतमत में यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है। जब जगत् ही असत्य सिद्ध हो गया तब तो उसके कार्यकलाप सुतरां असिद्ध हैं। इस विषय को भलीभाँति समझ लेना विशेष आवश्यक है। सत्य की जो परिभाषा शङ्कराचार्य ने दी है उसके अनुसार यह जगत् सत्य नहीं माना जा सकता। आचार्य के शब्दों में सत्य का लक्षण है—यद् रूपेण यत् निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्—अर्थात् जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है यदि वह रूप सन्तत समभाव से सर्वदा विद्यमान रहे तो उसे 'सत्य' कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार जगत् कथमपि सत्य नहीं हो सकता। वह प्रतिक्षण में परिणाम प्राप्त करता है। सतत चञ्चल है, नियत

---

१ बीजस्यान्तरिवाङ्कुरो जगदिदं प्राङ् निर्विकल्पं पुनः—
मायाकल्पितदेशकालकलनावैचित्र्यचित्रीकृतम्।
मायावीव विजृंभयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया
तस्मै श्री गुरुमूर्तये नम इदं श्री दक्षिणामूर्तये ॥

परिवर्तनशील है। जिस रूप से हम उसे निश्चित करते हैं वह तो बदलता रहता है। यदि कोई सत्य वस्तु हो सकती है तो वह केवल एकमात्र ब्रह्म ही है जो तीनों काल में एक रस, सच्चिदानन्द रूप से विद्यमान रहता है।

ऐसी परिस्थिति में यह जगत् ब्रह्म से नितान्त भिन्न होने के कारण सत्य नहीं माना जा सकता। तो क्या यह नितान्त असत्य है? क्या हमारा उठना बैठना, खाना पीना, बोलना चालना बिल्कुल असत्य है? शङ्कराचार्य का स्पष्ट उत्तर है कि बिल्कुल नहीं। यह जगत् भी सत्य है। ममतामयी माता का अपने प्यारे पुत्र के लिए प्रेम की अभिव्यक्ति उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार बालक का अपनी माता के लिए करुण स्वर में पुकारना। मूल कथा यह है कि सत्ता की कई कोटियाँ हैं। जिस कोटि में हम ब्रह्म को सत्य कहते हैं उसी कोटि से जगत् को सत्य नहीं बतलाते। ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है, परन्तु जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। जब तक हम जगत् में रह कर उसके कार्यों में ही लीन हैं, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए हैं, तब तक इस जगत् की सत्ता हमारे लिए बनी ही रहेगी। पर ज्योंही परमतत्त्व का ज्ञान हमें सम्पन्न हो जाता है त्योंही जगत् की सत्ता मिट जाती है। उस समय ब्रह्म ही एक सत्ता के रूप में प्रकट हो जाता है। जगत् की जादू के साथ जो तुलना की गयी है उससे उसके सच्चे स्वरूप का भलीभाँति परिचय मिल जाता है। जादू किसे मोह में डालता है? उसी को न जो उस इन्द्रजाल के रहस्य को नहीं जानता। उसके रहस्य जानने वाले व्यक्ति के लिए वह इन्द्रजाल व्यामोह का कारण नहीं बनता। जगत् की भी ठीक यही दशा है। जो इसके रहस्य से परिचित है—जो जानता है कि यह जगत माया के द्वारा ब्रह्म के ऊपर कल्पित किया गया है उसके लिए जगत् की सत्ता अकिञ्चित्कर है। जो उसे नहीं जानता, जो 'जायस्व म्रियस्व' की कोटि में है, उसके लिए तो जगत् की सत्ता विद्यमान रहती ही है।

विज्ञानवादी बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए शङ्कराचार्य ने जगत विषयक पूर्वोक्त मत को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। विज्ञानवादी केवल विज्ञान को ही सत्य मानते हैं, उनकी दृष्टि में जगत् सदा असत्य है। उनका कहना है कि विषय, इन्द्रिय तथा विषय-इन्द्रिय का संयोग जिससे वस्तु की प्रतीति हुआ करती है ये सब बुद्धि में विद्यमान हैं जगत् के समस्त पदार्थ स्वप्न के समान झूठे हैं। जिस प्रकार स्वप्न में मृगमरीचि आदि वस्तु बाहरी पदार्थ के अस्तित्व के बिना ही आकार धारण करते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् दशा के स्तम्भ आदि पदार्थ भी बाह्य सत्ता से शून्य हैं[1]। इस मत का खण्डन शङ्कर ने बड़ी सुन्दर युक्तियों के सहारे किया है। इनका कहना है कि जगत् के पदार्थों का हमें हर एक क्षण में अनुभव हो रहा है। कभी हमें उस लेखनी का ज्ञान होता है

---

[1] यथा हि स्वप्नमाया मरीच्युदक गन्धर्व नगरादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन ग्राह्यग्राहकाकारा भवन्ति। एवं जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया भवितुमर्हन्ति प्रत्ययत्वाविशेषात्

ब्रह्मसूत्र। २।२। २८ शां० भा०

जिसके सहारे हम अपने विचारों को लिपिबद्ध करते हैं। और कभी हमारा ध्यान उस मसीपात्र की ओर जाता है और कभी कागज पर। यह कहना कि कलम, स्याही और कागज केवल हमारी बुद्धि में ही रहते हैं और बाहरी सत्ता नहीं रखते, उसी प्रकार हास्यास्पद है जिस प्रकार स्वादु-भोजन कर तृप्ति प्राप्त करने वाला मनुष्य न तो अपनी तृप्ति को ही माने और न भोजन की ही बात स्वीकार करे। जगत् के पदार्थ को हम स्वप्नवत् कभी भी नहीं मान सकते। स्वप्न और जागरित अवस्था में महान् भेद है। स्वप्न में देखे गये पदार्थों का जागरित अवस्था में नाश हो जाता है। अतः वे पदार्थ बाधित होते हैं। परन्तु जागरित अवस्था में अनुभव किये गये घट पट आदि पदार्थ किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होते। क्योंकि उनकी उपलब्धि सर्वदा होती रहती है। एक और महान् अन्तर है। स्वप्नज्ञान स्मृति-मात्र है क्योंकि जागने पर स्वप्न में देखे गये पदार्थों की स्मृति केवल रह जाती है। परन्तु जागरित अवस्था के पदार्थों का ज्ञान अनुभवरूप से होता है। इतने स्पष्ट भेद रहने पर भी यदि हम जगत् के पदार्थ को स्वप्नवत् मिथ्या कहें तो यह सत्य का अपलाप है। तब तो बाह्य पदार्थ का लोप कहने में किसी प्रकार की हानि नहीं होगी[1]।

जगत् के विषय में शङ्कराचार्य के ये विचार इतने स्पष्ट हैं कि कोई भी विचार-शील पुरुष उन्हें जगत् को स्वप्नवत् मिथ्या बतलाने या तथा अकर्मण्यता के प्रचार करने का दोष कभी भी नहीं दे सकता। कोई भी दार्शनिक व्यवहार का अपलाप नहीं कर सकता। अवश्य ही ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी पुरुषों के लिए ही यह सांसारिक अनुभव ब्रह्मानुभव के द्वारा बाधित होता है। पर व्यवहार दशा में यह जगत् इतना ठोस और वास्तव है जितना अन्य कोई पदार्थ। अतः जगत् की पारमार्थिकी सत्ता न होने पर भी व्यावहारिक सत्ता तो है ही।

सत्ता

जगत् के विषय हमने अभी सत्ता के विषय में कुछ बातें कही हैं। इसके स्वरूप को ठीक ठीक जान लेना आवश्यक है। वेदान्त तीन प्रकार की सत्ता मानता है:—
(क) प्रातिभासिक (ख) व्यावहारिक (ग) पारमार्थिक।

(क) प्रातिभासिक सत्ता—इससे उस सत्ता से अभिप्राय है जो प्रतीति-काल में सत्य भासित हो परन्तु आगे चलकर (उत्तर काल में) दूसरे ज्ञान के द्वारा बाधित हो जाय। जैसे रज्जु में सर्प की भावना अथवा शुक्ति में चाँदी की भावना। रज्जु में जब सर्प का अनुभव होता है उससे पूर्व काल में भी रज्जु सर्प ज्ञान को उत्पन्न करती है, वर्तमान काल में उसी के

१—न च उपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति। यथा हि कश्चिद् भुञ्जानो भुजिसाध्यायां तृप्तौ स्वयमनुभूयमानायामेवं ब्रूयान्नाहं भुञ्जे न वा तृप्यामीति, तद्वदिन्द्रियसंनिकर्षेण स्वयमुपलभमान एव बाह्यमर्थं नाहमुपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन् कथमुपादेयवचनः स्यात्—
ब्रह्मसूत्र २।२।२८ शां० भा०

आधार पर सर्पज्ञान की स्थिति है। और भविष्य में रज्जु-ज्ञान के उदय होने पर सर्पज्ञान इसी में विलीन हो जायेगा। अतः रज्जु सर्प ज्ञान आकाश कुसुम के समान निराधार नहीं है, बल्कि उसमें दोष यही है कि उत्तरकाल में होने वाले रज्जु ज्ञान के द्वारा वह बाधित हो जाता है। घनघोर अन्धकारमयी रजनी में रास्ते में पड़ी हुई रस्सी को देखकर हमें सर्प का भ्रम होता है। संयोगवश हाथ में दीपक लेकर कोई पथिक उधर से आ निकलता है तो हम उस दीपक की सहायता से उस रस्सी को देखकर 'यह रस्सी है' यथार्थ अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ सर्प ज्ञान पूर्वकालीन है और रज्जु ज्ञान उत्तरकालीन है। जब तक रज्जु ज्ञान नहीं हो जाता तब तक सर्प-ज्ञान बना ही रहता है। यही प्रातिभासिक सत्ता का उदाहरण है।[1]

(ख) व्यावहारिक सत्ता—यह सत्ता वह है जो इस जगत् के समस्त व्यवहार-गोचर पदार्थों में रहती है। पदार्थों में पाँच धर्म दीख पड़ते हैं[2]। वे संसार में विद्यमान रहते हैं (अस्ति)। वे प्रकाशित होते हैं (भाति)। वे हमें आनन्द देते हैं (प्रिय)। उनका एक विशिष्ट रूप होता है (रूप) तथा उनका कोई न कोई नाम होता है (नाम)। ये ही पाँचों धर्म—अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम—संसार के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान रहते हैं। इनमें प्रथम तीन तो ब्रह्म के रूप हैं और अन्तिम दो धर्म जगत् के। वह परम ब्रह्म जगत के पदार्थों में घुल-मिल कर रहता है। वह सच्चिदानन्द रूप है। इन तीनों रूपों की सत्ता जगत् के पदार्थों में विद्यमान है। पदार्थों की अपनी विशिष्टतायें दो ही है—नाम और रूप। पदार्थों का कोई न कोई नाम और कोई न कोई रूप है, वस्तुओं की सत्ता मानना व्यवहार के लिये नितान्त आवश्यक है। अन्तर इतना ही है कि आत्म-साक्षात्कार होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है। अतः जगत् को एकान्त सत् हम नहीं मान सकते; व्यवहारकाल में ही जगत् सत्य है। इसलिये जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिकी है[3]।

(ग) पारमार्थिक सत्ता—इन वस्तुओं से विलक्षण एक अन्य वस्तु है जो तीनों कालों में अबाधित रहती है। अतः वह एकांत सत्य है। वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल में एक रूप रहने वाला है। वही ब्रह्म है। ब्रह्म की ही

१—रज्ज्वात्मनाऽवबोधात् प्राक् सर्प सन्नेव भवति। सतो विद्यमानस्य वस्तुतो रज्ज्वादेः सर्पादिवत् जन्म युज्यते—माण्डूक्यकारिका ३।२७ पर शाङ्कर भाष्य

२—अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

दृग्दृश्य विवेक, श्लोक २०।

३—यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते। विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा। तस्मात्प्राग्ब्रह्मात्मता—प्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः॥ २।१।१४ पर शां० भा०

सत्ता को पारमार्थिक सत्ता कहते हैं। जब ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं तभी असत् यह प्रतीत होता है। परन्तु व्यवहार के लिये बिलकुल पक्का और ठोस है। इन तीनों से भिन्न कतिपय पदार्थ हैं जैसे वन्ध्यापुत्र (बाँझ स्त्री का लड़का), आकाश कुसुम, आदि-आदि। ये पदार्थ बिना किसी आधार के हैं। इसीलिये इन्हें तुच्छ या अलीक कहा गया है। इसमें किसी प्रकार की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती। ये नितान्त असत्य हैं। किसी काल में इनकी सत्ता दिखलाई नहीं पड़ती। सत्ता-विहीन होने से ये त्रिविध सत्ता के जगत् के बाहर हैं। इसका प्रतिपादन मांडूक्य कारिका में आचार्य गौड़पाद ने बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है:—

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते॥ मा० का० ३।२८

अध्यास

अद्वैत वेदान्तियों का बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है कि जब आत्मा स्वभाव से ही नित्यमुक्त है तब वह इस संसार में बद्ध क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है? जब वह निरतिशय आनन्द रूप ही ठहरा तब वह इस प्रपञ्च के पचड़े में पड़कर विषम दुःखों के मिलने के कष्ट क्यों उठा रहा है? इसका एकमात्र उत्तर है अध्यास के कारण। अध्यास है कौन सी वस्तु? आचार्य के शब्दों में इसका लक्षण है— "अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः" तत् पदार्थ में तद्भिन्न पदार्थ का आरोप करना अध्यास है। अर्थात् किसी वस्तु में उससे भिन्न वस्तु के धर्मों का आरोप करना। जैसे पुत्र या स्त्री के सत्कृत या तिरस्कृत होने पर जब मनुष्य अपने को सत्कृत या तिरस्कृत समझता है तब वह अपने में बाह्य धर्मों का आरोप कर रहा है। इसी प्रकार इन्द्रियों के धर्मों के कारण जब कोई व्यक्ति अपने को अन्धा, लंगड़ा, चलने वाला तथा खड़ा होने वाला समझ लेता है तब अपने में आभ्यन्तर धर्मों का आरोप करता है। यह अध्यास अविद्या विजृंभित है। आत्मा के विषय में अध्यास क्यों चला और कब से चला? इसका उत्तर आचार्य ने बड़ी सुन्दरता के साथ भाष्य के आरंभ ही में दिया है।

आत्मा के विषय में तो अध्यास असम्भव दीख पड़ता है। अध्यास तो एक विषय के ऊपर या अन्य विषय के ऊपर अन्य विषय के गुणों का आरोप करना है। परन्तु आत्मा तो विषय नहीं है, विषयी है। संसार में दो ही तरह की तो सत्ता है— विषयी (मैं, अहम् आदि) तथा विषय। अहम् से अतिरिक्त यावत् पदार्थ का प्रत्येक विषय का, अनुभव आत्मा ही करता है। वह स्वयं कर्ता है, भोक्ता है, ज्ञाता है। वह कार्य नहीं है, भोग्य नहीं है, ज्ञेय नहीं है। ऐसी दशा में विषयी आत्मा के ऊपर विषय के धर्मों का आरोप क्योंकर हो सकता है? यही तो विचारणीय प्रश्न है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा का विषयी होना ठीक है, उचित है; परन्तु आत्मा विषय भी होता है। जब हम अनुभव करते हैं कि 'मैं हूं' मैं सोता हूं, मैं जागता हूं' तो ऐसे ज्ञानों का विषय आत्मा ही तो होता है। अतः आत्मा

भी कभी-कभी विषय होता है, यह मानना ही पड़ेगा। यह कोई नियम नहीं है कि प्रत्यक्ष विषय में ही विषयान्तर का आरोप किया जाय। आकाश अप्रत्यक्ष है परन्तु उसी आकाश पर बालक गण मलिनता आदि धर्मों का आरोप किया करते हैं। उसी प्रकार आत्मा के अप्रत्यक्ष होने पर भी शरीर धर्म का आरोप करना अस्वाभाविक नहीं है[१]।

अध्यास कब से चला ?

इसके उत्तर में आचार्य का स्पष्ट कथन है कि अध्यास अनादि है, अनन्त है, नैसर्गिक है। मिथ्याज्ञान रूप है, कर्तृत्व और भोक्तृत्व का प्रवर्तक है, सब के लिए प्रत्यक्ष है। जगत् के समस्त प्रमाण और प्रमेय व्यवहार की मूल भित्ति यही अध्यास है। इस विषय में पशु और मनुष्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। हरी हरी घास पूर्ण अञ्जलि वाले व्यक्ति को अपनी ओर आते हुए देख कर पशु उसकी ओर लपकता है और किसी के हाथ में डण्डा देखकर सहम जाता है तथा भाग खड़ा होता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी खड्ग आदि डरावने हथियारों वाले व्यक्ति को देख कर त्रस्त होता है और अच्छी अच्छी लुभावनी वस्तुओं के लिए हुए व्यक्ति को देखकर उसकी ओर आकृष्ट होता है। अतः पशु तथा मनुष्य दोनों का उक्त व्यवहार समान कोटिका है। यह सब अज्ञान ही है और इसी को अध्यास कहते हैं "तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहु."—शङ्कर के इन शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अध्यास ही अज्ञान है। इस अध्यास को दूर करने का एकमात्र उपाय, आत्मस्वरूप का ज्ञान ही है[२]। स्व स्वरूप का ज्ञान अपने प्रयत्न से साध्य है, किसी अन्य के द्वारा साध्य नहीं। आचार्य का कथन बहुत ही सुन्दर है—[३]

> ऋण-मोचन-कर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः।
> बन्धमोचन-कर्ता तु स्वस्मादन्यो न विद्यते॥

विवर्तवाद

हमने देखा है कि इस जगत् का उदय ब्रह्म से है। वही इसका उपादान कारण है और स्वयं वही इसका निमित्त कारण है। ब्रह्म कारण है जगत् उसका कार्य है। कार्य-कारण के विषय में दार्शनिकों के नाना मत हैं। यथार्थवादी (जैसे न्याय वैशेषिक मीमांसा आदि) दर्शन आरंभवाद मानते हैं। उनके मत में जगत् का

१—आह—कोऽयमध्यासो नामेति। उच्यते—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति। शां० भा० उपोद्घात—

२—एवमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूप कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तक सर्वलोकप्रत्यक्षः—शां. भा. (उपोद्घातः)

३ विवेकचूडामणि—श्लोक-५२,

आरम्भ परमाणुओं से होता है। कारण के समान कार्य भी नवीन वस्तु है। उसका आरम्भ होना है; पहले यह उसमें था नहीं। सांख्य-योग परिणामवाद मानता है। जिस प्रकार दूध में दही पहले से ही अव्यक्तरूप से विद्यमान है उसी प्रकृति में अव्यक्त रूप से जगत् विद्यमान रहता है। इसी का दूसरा नाम सत्कार्यवाद है। अद्वैतवेदान्त की कार्य-कारण कल्पना इन दोनों से ऊपर जाती है। अद्वैत की दृष्टि में ये दोनों मत भ्रान्त हैं। परमाणुओं की कल्पना तर्कहीन होने से नितान्त अयुक्त है। परिणामवादी कार्य द्रव्य को कारण से अभिन्न और साथ ही साथ भिन्न भी मानते हैं। परन्तु यह बात युक्तियुक्त नहीं है। घट और शराव (पुरवा) दोनों मृत्तिका के कार्य हैं। अतः मृत्तिका से अभिन्न हैं, परन्तु वे आपस में भिन्न क्यों हैं? जो घट है वह शराव नहीं, जो शराव है वह घट नहीं। इस प्रकार अभिन्न होते हुए भी आपस में यह भेद कहां से आया। यदि यह परस्पर भेद प्रत्यक्ष माना जाय तो इसका मूल कारण जो मृत्तिका है उसको भी परस्पर भिन्न मानना ही पड़ेगा। एक ही साथ दो वस्तुओं को भिन्न और अभिन्न मानना ठीक नहीं जान पड़ता। एक ही सत्य हो सकती है दूसरी कल्पित ही होगी। अभेद भेद (न ना) को कल्पित मानना उचित है। ऐसा न मानने पर असत्य परमार्थ वस्तुओं की सत्ता मानना पड़ता है। अतः वेदान्त के अनुसार एकमात्र कारणरूप ब्रह्म ही अविनाशी निर्विकार तथा सत्पदार्थ है। उससे उत्पन्न होने वाला यह जो जगत् है वह मिथ्या है, कल्पनामूलक है। फलतः कारण ही एकमात्र सत्य है। कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् माया का तो परिणाम है पर ब्रह्म का विवर्त है। इन दोनों शब्दों का मार्मिक भेद वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया है—

स तत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतो ऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

तात्त्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं। दही दूध का विकार है परन्तु सर्प रज्जु का विवर्त है क्योंकि दूध और दही की सत्ता एक प्रकार की है। सर्प की सत्ता काल्पनिक है परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है (२।१।७ शां. भा.)। इस प्रकार पञ्चदशीकार की सम्मति में भी कार्यदशा की कल्पना अज्ञानमूलक है[1]।

जगत् के लिए ऊपर अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का अर्थ जान लेना उचित है। 'अनिर्वचनीय' का अर्थ है जिसका निर्वचन लक्षण ठीक ढंग से न किया जा सके। जैसे रस्सी में सर्प का ज्ञान। रस्सी में सर्प

---

[1] निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित्॥
पञ्चदशी, ६।४३

का ज्ञान सत्य नहीं है क्योंकि दीपक के लाने और रज्जु ज्ञान के उदय होने पर सर्प-ज्ञान बाधित हो जाता है। परन्तु उसे असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस रज्जु से ही भय के कारण कम्प आदि की उत्पत्ति होती है। रस्सी को साँप समझ कर आदमी डर के मारे भाग खड़ा होता है। अतः यह ज्ञान सद् तथा असद् उभयविलक्षण होने से अनिर्वचनीय या मिथ्या कहलाता है। यह ज्ञान अविद्या से उत्पन्न होता है। अतः वेदान्त में 'मिथ्या' का अर्थ असत् नहीं है, प्रत्युत अनिर्वचनीय है[1]।

आचार मीमांसा

जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के ही कारण इस संसार में अनन्त क्लेशों को भोगता हुआ अपना जीवन-यापन करता है। वह अपने शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव को अविद्या के कारण भूला हुआ है। वह वास्तव में सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म स्वरूप ही है। आत्मा तथा ब्रह्म में नितान्त ऐक्य है। उस ब्रह्म की प्राप्ति तथा शोक निवृत्ति मोक्ष कहलाता[2] है। अब इस मोक्ष के साधन मार्ग की रूपरेखा निरूपण करना नितान्त आवश्यक है।

भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से दार्शनिकों ने केवल कर्म, कर्मज्ञान-समुच्चय तथा केवल ज्ञान को साधनमार्ग बतलाया है। शङ्कराचार्य ने अपने भाष्यों में पूर्व दोनों मार्गों का सप्रमाण सयुक्तिक विस्तृत खण्डन कर अन्तिम साधन को ही प्रमाण कोटि में माना है। उनका कहना है कि स्वतन्त्र अथ च भिन्न भिन्न फलों के उद्देश्य से प्रवृत्त होने वाली दो निष्ठाएँ हैं—कर्म-निष्ठा तथा ज्ञान-निष्ठा। इन दोनों का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। मानव-जीवन के दो उद्देश्य हैं—सांसारिक सुख की प्राप्ति, जिसके लिए कर्मों का विधान किया गया है और आत्मा की परमात्म-रूपेण अवगति, जिस उद्देश्य की सिद्धि काम्य कर्मों से विरक्ति और ज्ञान के अनुष्ठान से होती है। ज्ञान और कर्म का गहरा विरोध है। आचार्य का कहना है कि क्या पूर्व समुद्र जाने वाले तथा तत्प्रतिकूल पश्चिम समुद्र को जाने वाले पुरुष का मार्ग एक हो सकता है? प्रत्यगात्म-विषयक प्रतीति के निरन्तर बनाये रखने के आग्रह को ज्ञाननिष्ठा कहते हैं। वह पश्चिम समुद्र को गमन के समान है और उसका कर्म के साथ रहने में वैसा ही महान् विरोध है जैसा पहाड़ तथा सरसों में रहता है। अतः एकान्त विरोध के रहते हुए ज्ञानकर्म का समुच्चय कथमपि सुसम्पन्न नहीं हो सकता[3]।

---

१. पञ्चपादिका पृ० ४.

२ आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः शोकनिवृत्तिश्च।

वेदा० परि० पृ० १६७.

३—नहि पूर्वसमुद्रं जिगमिषोः प्रातिलोम्येन प्राक् समुद्रं जिगमिषुणा समानमार्गत्वं सम्भवति। प्रत्यगात्मविषयप्रत्यय सन्तान-करणाभिनिवेशश्च ज्ञाननिष्ठा। सा च प्रत्यक् समुद्रगमनवत् कर्मणा सह भावित्वेन विरुध्यते। पर्वतसर्षपयोरिव अन्तरवान् विरोधः।

—गीता भाष्य १८।५५

कर्म

कर्म के द्वारा क्या आत्मा की स्वरूपापत्ति कैसे सिद्ध हो सकती है? आचार्य ने इस विषय में अनेक कारणों की उद्भावना की है। किसी अविद्यमान वस्तु के उत्पादन के लिए कर्म का उपयोग किया जाता है (उत्पाद्य)। परन्तु क्या नित्य, सिद्ध सद्रूप आत्मा की स्थिति कर्मों के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है? किसी स्थान या वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म किये जाते हैं (आप्य) परन्तु आत्मा तो सदा हमारे पास है। तब कर्म का उपयोग क्या होगा? किसी पदार्थ में विकार उत्पन्न करने की इच्छा से (विकार्य) तथा मन और अन्य वस्तुओं में संस्कार उत्पादन की लालसा से (संस्कार्य) कर्म किये जाते हैं। परन्तु आत्मा के 'अविकार्य तथा असंस्कार्य' होने के कारण धर्म की निष्पत्ति का प्रयास व्यर्थ ही है। अतः आत्मा के अनुत्पाद्य अनाप्य, अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के कारण कर्मद्वारा उसकी निष्पत्ति हो ही नहीं सकती[१]।

अतः प्रयोजन न होने से कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती[२]। साधारणतया मलिनचित्त आत्मतत्त्व का बोध नहीं कर सकता, परन्तु काम्यवर्जित नित्यकर्म के अनुष्ठान से चित्त-शुद्धि उत्पन्न होती है जिससे बिना किसी रुकावट के जीव आत्म-स्वरूप को जान लेता[३] है। आत्म ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होने के कारण नित्यकर्म मोक्षसाधक हैं। अतः कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की एकवाक्यता सिद्ध हो सकती है। अर्थात् दोनों एक ही लक्ष्य की पूर्ति के साधन हैं। कर्म से चित्त की शुद्धि होती है और विशुद्धचित्त में ही ज्ञान उत्पन्न होकर टिकता है। तभी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

कर्म द्विप्रकार के हैं—सकाम कर्म तथा निष्काम कर्म। गीता में दो प्रकार की सम्पत्ति का वर्णन किया गया है—दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति। असुरों में और देवों में यही अन्तर है कि स्वाभाविक रागद्वेषमूलक प्रवृत्तियों का दास

१—द्रष्टव्य - ब्र० सू० १ । १ । ४ तथा बृह० उप० ३ । ३ । १ का शाङ्कर भाष्य

२—उत्पाद्यमाप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैव मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम्॥

—नैष्कर्म्यसिद्धि १ । ५३

३—यो नित्य-कर्म करोति तस्य फलरागादिना अकलुषीक्रियमाणमन्तःकरणम्—
नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुध्यति, विशुद्धं प्रसन्नमात्मालोचनक्षमं भवति।

—गीताभाष्य १८ । १०

कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानं अप्रतिबन्धेन वेदितुम् एवं काम्यवर्जितं नित्यं कर्मजातं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकत्वं प्रतिपद्यते।

बृह० उप० भाष्य ४ । ४ । २२

होने वाला अधर्मपरायण व्यक्ति 'असुर' कहलाता है। परन्तु राग द्वेष को दबा कर शुभ कामना की प्रबलता से धर्माचरण करने वाला पुरुष 'देव' कहलाता है[1]। वासना की इच्छा से यदि कर्मों का सम्पादन किया जाय तो असुरत्व की प्राप्ति होती है, परन्तु राग द्वेष की वासना को दूर कर निष्काम भाव से कर्मों का सम्पादन करना देवत्व की प्राप्ति करना है। अतः शङ्कराचार्य का कथन यह है कि सकाम कर्म का तो सर्वथा त्याग करना ही चाहिए। सकाम कर्म का अभ्यास तथा अनुष्ठान मनुष्य को पशुत्व की ओर ले जाने वाला होता है। निष्काम कर्म का अभ्यास चित्त को शुद्ध कर मुक्ति की ओर ले जायगा। शङ्कर की दृष्टि में भी कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां तथैव भजाम्यहम्" (गीता ४।११) के ऊपर भाष्य लिखते समय आचार्य का कहना है कि (१) जो मनुष्य फल की इच्छा रखने वाले हैं उन्हें भगवान् फल देते हैं। (२) जो आदमी फल की इच्छा नहीं रखने वाले हैं और मुक्ति के इच्छुक हैं उन्हें मैं ज्ञान देता हूँ। (३) जो ज्ञानी हैं, संन्यासी हैं, मुक्ति की कामना करने वाले हैं उन्हें मैं मोक्ष देता हूँ। (४) जो किसी प्रकार के दुःख और कष्ट में हैं उनको मैं आर्ति हर लेता हूँ। इस प्रकार जो कोई भी पुरुष जिस किसी इच्छा से मेरा भजन करता है उसको मैं उस इच्छा की पूर्ति कर देता हूँ। शङ्कराचार्य के इस कथन से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में भी कर्म किसी प्रकार व्यर्थ नहीं होता; उसका फल अवश्य प्राप्त होता है। मोक्ष के साधन में वह उपयोगी है या नहीं? यह दूसरा प्रश्न है।

अब तक की गयी समीक्षा से स्पष्ट है कि आचार्यशङ्कर मोक्ष के साधन में न तो कर्म को कारण मानते हैं, न ज्ञानकर्मसमुच्चय को, प्रत्युत एकमात्र ज्ञान को ही।

पद्मपादाचार्य ने जो आचार्य के पट्टशिष्य थे विज्ञानदीपिका नामक ग्रन्थ में शङ्कर के अनुकूल आचार-पद्धति की मीमांसा की है। कर्म की प्रबलता सर्वतो भावेन मानी ही जाती है। कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से यह संसार उत्पन्न होता है। वासना के ही कारण जीव आवागमन करता रहता है। अतः संसार को नष्ट करने के लिए कर्म का विनाश करना (निर्हरण) अत्यन्त आवश्यक है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) संचित (प्राचीन) (२) संचीयमान (भविष्य में फल उत्पन्न करने वाला) (३) प्रारब्ध (जिस कर्म का वर्तमान काल में आरम्भ कर दिया गया है)। इन तीनों की उपमा अन्न के साथ दी जा सकती है। संचित कर्म घर में रक्खे हुए अन्न के समान है। संचीयमान कर्म खेत में बीज रूप से बोये गये अन्न के समान है तथा प्रारब्ध कर्म भुक्त अन्न के समान है। घर में रक्खे गये तथा खेत में डाले गये अन्न का विनाश नाना उपायों से किया जा सकता है। परन्तु जो अन्न खाये जाने

कर्म के तीन भेद

१—स्वाभाविकौ रागद्वेषौ अभिभूय यदा शुभवासना प्राबल्येन धर्मपरायणो भवति तदा देवः। यदा स्वाभाविकरागद्वेषप्राबल्येन अधर्मपरायणो भवति तदा असुरः।

—गीता व्याख्यायां मधुसूदनः

पर हमारे पेट में विद्यमान है, उसे तो पचाना ही पड़ेगा। बिना पचाये उस अन्न का कथमपि नाश नहीं हो सकता है। कर्मों की भी यही गति है। संचित और संचीयमान कर्म तो ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। परन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोग के द्वारा ही क्षीण होता है। इसीलिए यह प्रसिद्ध बात है:— "प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षय"।" इस प्रकार कर्म का क्षय कर्मयोग, ध्यान, सत्संग, जप, अर्थ और परिपाक के अवलोकन से उत्पन्न होता है[1]। फल की इच्छा से रहित अर्थात् निष्काम कर्म का अनुष्ठान पुण्य पाप आदि कर्मों का नाश कर देता है और इसके कारणभूत स्थूल, और सूक्ष्म शरीर का विलय कर देता है। पद्मपाद की सम्मति में यही कर्म–निर्हार है[2]।

कर्म के इस विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मुमुक्षु के अन्त:करण (चित्त) की शुद्धि के लिये कर्म व्यर्थ नहीं है। वल्कि वे नितान्त उपादेय हैं। मुक्ति का वास्तव साधन 'ज्ञान' है—ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:=बिना ज्ञान के मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। आचार्य की सम्मति में इस प्रकार न तो कर्म से मुक्ति होती है, न ज्ञान और कर्म के समुच्चय से, प्रत्युत केवल ज्ञान से होती है। यही निश्चित सिद्धांत है[3]।

ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया

इस प्रक्रिया का वर्णन शङ्कर ने 'विवेक चूडामणि' तथा 'उपदेश साहस्री' में बड़ी सुन्दर भाषा में किया है। वेदान्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए शिष्य को चार साधनों से युक्त होना चाहिये। पहला साधन है—नित्यानित्य-वस्तु-विवेक। ब्रह्म ही केवल नित्य है उससे भिन्न समस्त पदार्थ अनित्य है। इसका विवेक होना पहला साधन है। (२) दूसरा साधन है—इहामुत्र-फलभोगविराग अर्थात् सांसारिक तथा पारलौकिक समस्त फलों के भोग से उसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। (३) तीसरा साधन है—शमदमादि साधन सम्पत्ति। शम (मन की एकाग्रता), दम (इन्द्रियों को वश में रखना), उपरति (वृत्तियों का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना), तितिक्षा (चिन्ता शोक से रहित दु:खों को सहना), समाधान (श्रवण आदि में चित्त को एकाग्ररूप से लगाना) तथा श्रद्धा (गुरु और वेदान्त के वाक्यों में अटूट विश्वास) (४) चतुर्थ साधन है—मुमुक्षा अर्थात् मुक्ति पाने की इच्छा। इस चतुर्थ साधन का उदय बड़े ही भाग्य से होता है। आचार्य का कथन है कि

१—कर्मतो योगतो ध्यानात् सत्संगाज्जपतोऽर्थत,।
परिपाकावलोकाच्च कर्मनिर्हरणं जगुः॥

—विज्ञानदीपिका श्लो० २२

२—विज्ञानदीपिका श्लो० १०.

३—द्रष्टव्य गीताभाष्य तथा ऐतरेय भाष्य का उपोद्घात।

मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व तथा महापुरुष की संगति बड़े भाग्य से मिलती है[1]। इन समग्र साधनों से सम्पन्न होने पर साधक वेदान्त-श्रवण का अधिकारी बनता है। तब शिष्य, शान्त, दान्त, अहेतुदयाशील, ब्रह्मवेत्ता गुरु के शरण में आत्मा के विषय में पूछता है। गुरु को निष्पपञ्च ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान अपने शिष्य को कराना प्रधान कार्य है। इसलिए वह अध्यारोप और अपवाद विधि से ब्रह्म का उपदेश करता है[2]। अध्यारोप का अर्थ है ब्रह्म में जगत् के पदार्थों का आरोप कर देना और अपवाद का अर्थ है आरोपित वस्तुओं में से प्रत्येक को क्रमशः निराकरण करना। आत्मा के ऊपर प्रथमतः शरीर का आरोप कर दिया जाता है। पीछे युक्ति के सहारे आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों से अतिरिक्त बता दिया जाता है। वह स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से पृथक् सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार गुरु अपने शिष्य को ब्रह्म के स्वरूप समझाने में समर्थ होता है। वेदान्त की यह व्याख्या पद्धति बड़ी प्रामाणिक और शुद्ध वैज्ञानिक है।

ब्रह्मवेत्ता गुरु शरणापन्न अधिकारी शिष्य को 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश देता है जिसका अभिप्राय यही है कि जीव ब्रह्म ही है। इस वाक्य के अर्थ के ऊपर वेदान्त के आचार्यों ने बड़ा विचार किया है। जीव अल्पज्ञ ठहरा और ब्रह्म सर्वज्ञ। ऐसी दशा में दोनों की एकता कैसे मानी जा सकती है? इस दोष को दूर करने के लिए भागवृत्ति या जहदजहत् लक्षणा यहाँ मानी जाती है[3]। इस लक्षणा के बल पर अल्पज्ञ का 'अल्प' अंश और सर्वज्ञ का 'सर्व' अंश छोड़ दिया जाता है। 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञाता अंश को लेकर ही दोनों की एकता सम्पन्न की जाती है। जीव ब्रह्म ही है। यह ही अद्वैत वेदान्त का शंखनाद है। श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन—ये तीन साधन बताये गये हैं। वेदान्त के वाक्यों के द्वारा गुरु मुख से आत्मा के स्वरूप को सुनाना चाहिए। यह हुआ 'श्रवण'। उस स्वरूप के विरोध में जो कोई अन्य बातें हो उसे दूर कर देना चाहिये। यह हुआ 'मनन'। तदनन्तर उस आत्मा के स्वरूप पर लगातार ध्यान लगाना चाहिये—यही हुआ 'निदिध्यासन'। इन तीनों उपायों का वर्णन इस प्रसिद्ध श्लोक में किया गया है—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयो, ह्येते दर्शनहेतवः॥

मैत्रेयी को शिक्षा देते समय महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया है—आत्मा वारे द्रष्टव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि।

१—दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रह हेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः। ३।
—विवेक चूडामणि.

२—अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते॥

३—विशेष जानने के लिए द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन० [नवीन सं.]
—पृ० ४४८—४५०

आत्मसाधना के इन तीन उपायों में कौन प्रधान है ? और कौन गौण है ? इस विषय को लेकर अवान्तरकालीन आचार्यों में बड़ा मतभेद है। इस विषय में प्रधानतः दो मत मिलते हैं—(१) वाचस्पतिमिश्र का—ये शब्द-श्रवण से परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं जो मनन और निदिध्यासन आदि योग प्रक्रिया के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अतः गुरूपदेश के अनन्तर वेदांत वाक्य के अर्थ का मनन तथा ध्यान का अनुष्ठान करना नितांत आवश्यक होता है। तब ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति उत्पन्न होती है [१]। अमलानन्द ने भामती कल्पतरु में इसे वाचस्पति मिश्र का मत बतलाया है [२], परन्तु वस्तुतः यह मण्डन मिश्र का है। इसका परिचय ब्रह्मसिद्धि में भलीभाँति मिलता है [३]। ऐसे मतों को ग्रहण करने के कारण ही तो वाचस्पति को प्रकटार्थविवरणकारने 'मण्डन-पृष्ठयायी' (मण्डन के पीछे चलने वाला) कहा है। (२) दूसरा पक्ष सुरेश्वराचार्य का है। इनकी सम्मति में शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान पर आवरण पड़े रहते हैं। उन्हें हटाने की यदि आवश्यकता हो तो मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। शब्द की महिमा इसी में है कि शब्द के सुनने के समय ही तुरन्त ब्रह्म का अपरोक्ष (साक्षात्) ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। नदी पार कर लेने पर गिनती करने के समय गिनती वाला आदमी अपने को ही भूल जाता था, अतः दस होने पर नौ आदमी ही पाकर वे सब के सब मूर्ख नितान्त दुःखित होते थे, परंतु जब किसी होशियार व्यक्ति ने आकर गिनती करने वाले को उपदेश दिया कि दसवाँ तुम ही हो (दशमस्त्वमसि), तब इस बात के सुनते ही उनका शोक विलीन हो गया। इस लोक-प्रसिद्ध उदाहरण के समान 'तत् त्वमसि' वाक्य सुनते ही आत्मा का वास्तव एकताबोधक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे निरतिशय आनन्द का उदय होता है। यह मत वेद-वाक्यों की महत्ता के अनुकूल है। शंकराचार्य का भी यही मत प्रतीत होता है। शब्द की इस महिमा का उल्लेख तन्त्रशास्त्र तथा व्याकरण में विशेषतः किया गया है। अद्वैत-वेदान्त के भामतीप्रस्थान और विवरणप्रस्थान का यही मूल पार्थक्य है।

मुक्ति

तत्त्व के साधन के केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति होना ही ध्येय नहीं है। उसका उपयोग व्यावहारिक जगत् के सन्तापों से मुक्ति प्राप्त करने में है। ये सन्ताप तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक। मनुष्य

१—श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभावं गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यते। तस्मात् निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानसन्ततिरूपोपासना-कर्म सहकारिण्यविद्याद्वयच्छेदहेतुः।

—भामती : जिज्ञासाधिकरण

२—अपि संराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा।
शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः स्वयम्॥

—कल्पतरु [नि० सा०] पृ. २१८

३—ब्रह्मसिद्धि पृष्ठ १५।

मात्र का जीवन जिन ध्येयों को आगे रख कर प्रवृत्त होता है वे पुरुषार्थ कहलाते हैं। हिंदूधर्म के अनुसार पुरुषार्थ चार प्रकार के हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें मोक्ष सबसे श्रेष्ठ है। विचारशास्त्ररूपी कल्पतरु का मोक्ष ही अमृत फल है। मोक्ष के विषय में साधारण लोगों की विचित्र धारणा है इसकी प्राप्ति का स्थान यह शरीर नहीं है। परन्तु आचार्य के उपनिषदों के आधार पर यही प्रतिपादित किया है कि ज्ञान की प्राप्ति होने पर इसी शरीर से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस मुक्ति का नाम है जीवन्मुक्ति। यह दूरस्थित आदर्श अवश्य है परन्तु ऐसा नहीं है कि इस जन्म में साध्य न हो सके। वेदान्त का कहना है कि यदि उसके बताये हुए साधनों का उपयोग भलीभाँति किया जाय तो साधक को इसी जन्म में दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। इस विषय में कठोपनिषद् (२। ३। १४) का स्पष्ट कथन है कि जब हृदय में रहने वाली समग्र वासनाओं का नाश हो जाता है तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। और यहीं उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती[1] है। वैष्णवदर्शन इस जीवन्मुक्ति को नहीं मानता। वह केवल विदेह-मुक्ति में ही आस्था रखता है। पर अद्वैतवेदान्त की दृष्टि में दोनों साध्य हैं। यही दोनों में मौलिक भेद है।

अद्वैत-मत की मौलिकता

आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में अद्वैतमत का प्रतिपादन किया है, यह तो सब कोई जानते हैं। यह अद्वैतवाद नितान्त प्राचीन सिद्धान्त है। इस मत का प्रतिपादन केवल उपनिषदों में ही नहीं किया गया है, प्रत्युत संहिता के अनेक सूक्तों में अद्वैत तत्त्व का आभास स्पष्ट रूपेण उपलब्ध होता है। अद्वैतवाद वैदिक ऋषियों की आध्यात्मिक जगत्-को नितान्त महत्त्वपूर्ण देन है। इन ऋषियों ने आर्षचक्षु से नानात्मक जगत् के स्तर में विद्यमान होने वाली एकता का दर्शन किया, उसे ढूँढ़ निकाला और जगत् के कल्याण के निमित्त प्रतिपादित किया। इसी श्रुति के आधार पर आचार्य ने अपने अद्वैत-तत्त्व को प्रतिष्ठित किया है। शङ्कर ने जगत् के काल्पनिक रूप को प्रमाणित करने के लिए माया के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और इसके लिए भी वे अपने दादागुरु आचार्य गौडपाद के ऋणी हैं। गौडपादाचार्य ने जिस अद्वैत सिद्धान्त को माण्डूक्य कारिकाओं में अभिव्यक्त किया है उसी का विशदीकरण शङ्कर ने अपने भाष्यों में किया है। इतना ही क्यों? आचार्य की गुरुपरम्परा नारायण से आरम्भ होती है। शङ्कर की गुरुपरम्परा तथा शिष्यों का निर्देश इन प्रसिद्ध पद्यों में मिलता है—

१—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यस्य हृदि स्थिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

कठ। २। ३। १४

नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च ।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तत् तोटकं वार्तिककारमन्यान् अस्मद्गुरून् संततमानतोऽस्मि ॥

आचार्य की गुरु परम्परा का प्रकार यह है—नारायण, ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, वेदव्यास, शुक, गौड़पाद, गोविन्द भगवत्पाद, शङ्कर। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि शंकर ने जिस मायावाद का विशद प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में किया है उसका प्रथम उपदेश भगवान नारायण के द्वारा किया गया। शिष्य लोग जिस उपदेश को गुरु से सुनते आये हैं उसी की परम्परा जारी रखने के लिए अपने शिष्यों को भी उन्हीं तत्त्वों का आनुपूर्वी उपदेश करते हैं। इस प्रकार यह अद्वैतवाद नितान्त प्राचीन काल से इस भारत-भूमि पर जिज्ञासु जनों की आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करता हुआ चला आ रहा है। इसे शंकर के नाम से सम्बद्ध करना तथा शंकर को भी इस सिद्धान्त का उद्भावक मानना नितान्त अनुचित है।

कतिपय विद्वान् लोग इस प्राचीन परम्परा की अवहेलना कर 'मायावाद' को बौद्ध दर्शन का औपनिषद् संस्करण मानते हैं और अपनी युक्तियों को पुष्ट करने के लिए पद्मपुराण[1] में दिये गये श्लोक को उद्धृत करते हैं। श्री विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचनभाष्य की भूमिका में इस वचन को उद्धृत किया है। अवान्तरकालीन अनेक द्वैतमतावलम्बी पण्डित इस वाक्य को प्रमाण मान कर शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध और उनके मायावाद को बौद्ध-दर्शन के सिद्धान्तों का ही एक नया रूप मानते हैं। परन्तु विचार करने पर यह समीक्षा युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती।

इस विषय में मार्के की बात यह है कि शांकरमत के खण्डन के अवसर पर बौद्ध दार्शनिकों ने कहीं पर भी शंकर को बौद्धों के प्रति ऋणी नहीं बतलाया है।

अद्वैतवाद और विज्ञानवाद

बौद्ध पण्डितों की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म थी। यदि कहीं पर भी उन्हें अद्वैतवाद में बौद्धतत्त्वों की सत्ता का आभास भी प्रतीयमान होता तो वे पहले व्यक्ति होते जो इसकी घोषणा डंके की चोट करते, अद्वैतवाद को विज्ञानवाद या शून्यवाद का आभास मानकर वे इसके खण्डन से सदा पराङ्मुख होते। परन्तु पराङ्मुख होने की कथा अलग रहे, उन्होंने तो बड़े अभिनिवेश के साथ इसके तत्त्वों की निःसारता दिखलाने की चेष्टा की है। बौद्धग्रन्थों में अद्वैतवाद के औपनिषद मत को बौद्धमत से पृथक् कहा है और उसका खण्डन किया है। शान्तरक्षित नालन्दा विद्यापीठ के आचार्य थे और वे विख्यात बौद्ध दार्शनिक थे,

---

१—मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते ।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥

उन्होंने अपने विपुलकाय 'तत्त्वसंग्रह' में अद्वैतमत का खण्डन किया है[1]। इस उद्धरण में जो 'अपरे' शब्द आया है उसका कमलशील ने इस ग्रन्थ की पञ्जिका में अर्थ लिखा है—'औपनिषदिकाः'। यह तो हुआ शाङ्करमत का अनुवाद। अब इसका खण्डन भी देखिए—

तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः।
रूपशब्दादिविज्ञाने व्यक्तं भेदोपलक्षणात् ॥३३०॥
एकज्ञानात्मकत्वे तु रूपशब्दरसादयः।
सकृद्वेद्याः प्रसज्यन्ते नित्येऽवस्थान्तरं न च ॥३३१॥

इससे विज्ञानवाद तथा अद्वैतवाद का अन्तर स्पष्ट है। आचार्य शङ्कर एकमेवाद्वितीयम् (छा० उप० ६।२।१), विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृहदा० उप० ३।९।२८) इत्यादि श्रुतियों तथा युक्तियों के आधार पर विज्ञानरूप ब्रह्म को एक मानते हैं तथा उस ब्रह्म को सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगत भेद से रहित मानते हैं[2]। परन्तु विज्ञानवादी बौद्ध लोग विज्ञान को नाना—भिन्न भिन्न—मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में विज्ञान सजातीय भेद से शून्य नहीं है। ब्रह्म तो नित्य पदार्थ है परन्तु विज्ञान क्षणिक है। उनका 'आलय विज्ञान' क्षणिक है। अतः यह वासनाओं का अधिकरण भी नहीं माना जा सकता। आचार्य शङ्कर ने अपने शारीरक[3] भाष्य में इसे स्पष्ट लिखा है। इतने स्पष्ट विभेद के रहने पर ब्रह्माद्वैतवाद विज्ञानाद्वयवाद का ही रूपान्तर कैसे माना जा सकता है?

इतना ही नहीं, दोनों की जगत् विषयक समीक्षा नितान्त विरुद्ध है। विज्ञानवादियों का मत है कि विज्ञान या बुद्धि के अतिरिक्त इस जगत् में कोई पदार्थ ही नहीं है। जगत् के समग्र पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्यारूप हैं। जिस प्रकार स्वप्न में माया मरीचिका आदि ज्ञान बाह्य अर्थ के सत्ता के बिना ही ग्राह्य-ग्राहक आकार वाले होते हैं, उसी प्रकार जागरित दशा के स्तम्भ आदि भी बाह्यार्थ-सत्ताशून्य हैं। परन्तु इनका खण्डन आचार्य ने किया है। उनका कहना है कि बाह्य अर्थ की उपलब्धि सर्वदा साक्षात् रूप में हमें हो रही है। जब पदार्थों का अनुभव प्रतिक्षण हो रहा है तब उन्हें उनको ज्ञान के बाहर स्थिर न मानना उसी प्रकार उपहासास्पद है जिस प्रकार स्वादिष्ट भोजन कर तृप्त होने वाला पुरुष, जो न तो अपनी तृप्ति

1—नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः।
आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्तेऽपरे पुनः ॥
ग्राह्यग्राहकसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात् सर्वः समीक्ष्यते ॥

—तत्त्वसंग्रह श्लोक ३२८-२९.

2—पञ्चदशी २।२०-२१.

3—यदपि आलयविज्ञाननाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं तदपि क्षणिकत्वाभ्युपगमात् अनवस्थितस्वरूपं सत् प्रवृत्तिविज्ञानवत् न वासनानामधिकरणं भवितुमर्हति। शां० भा० २।२।३१

को माने और न अपने भोजन की ही बात स्वीकार करे[1]। विज्ञानवादी की सम्मति में विज्ञान ही एकमात्र सत्य पदार्थ है तथा जगत् स्वप्नवत् अलीक है। इस मत का खण्डन आचार्य ने बड़े ही युक्तियुक्त शब्दों में किया है। स्वप्न तथा जागरित दशा में बड़ा ही अधिक अन्तर रहता है। स्वप्न में देखे गये पदार्थ जागने पर लुप्त हो जाते हैं। अतः अनुपलब्धि होने से स्वप्न का बोध होता है। परन्तु जाग्रत् अवस्था में अनुभूत पदार्थ (स्तम्भ, घट, आदि) किसी अवस्था में बाधित नहीं होते। वे सदा एक रूप तथा एक स्वभाव से विद्यमान रहते हैं। एक और भी अन्तर होता है। स्वप्नज्ञान स्मृतिमात्र है, जागरित ज्ञान उपलब्धि है—साक्षात् अनुभव-रूप है। अतः जागृत दशा को स्वप्न-मिथ्या मानना उचित नहीं है। इसलिए विज्ञानवाद का जगद्विषयक सिद्धान्त नितान्त अनुपयुक्त है। आचार्य के शब्द कितने मार्मिक हैं:—

वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या-मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तुस्तम्भादिकं कस्यांचिदपि अवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्। (ब्र. सू भा० २। २। २९)

माध्यमिकों की कल्पना योगाचार के मत का भी खण्डन करती है। योगाचार विज्ञान को सत्य मानते हैं परन्तु शून्यवादी माध्यमिकों के मत में विज्ञान का

अद्वैतवाद का शून्यवाद से भेद

भी अभाव रहता है। केवल शून्य ही एकमात्र तत्त्व है[2]। शून्यवादी 'शून्य' को सत्, असत्, सदसत् तथा सदसदनुभय रूप-इन चार कोटियों से अलग मानते हैं[3]। परन्तु अद्वैतमत में ब्रह्म 'सत्स्वरूप' है तथा ज्ञानस्वरूप है। शून्यवादियों की कल्पना में शून्य सत्-स्वरूप नहीं है, यदि ऐसा होगा तो वह सत्कोटि में आ जायगा। वह कोटि-चतुष्टय से विनिर्मुक्त नहीं होगा। *यह 'शून्य' ज्ञान रूप भी नहीं है। विज्ञान का अभाव* मानकर ही वो माध्यमिक लोग अपने शून्य तत्त्व की उद्भावना करते हैं। उनकी दृष्टि में विज्ञान पारमार्थिक नहीं है:—

नेष्टं तदपि धीराणां विज्ञानं पारमार्थिकम्।
एकानेकस्वभावेन विरोधाद् वियदब्जवत्॥

—शिवार्कमणिदीपिका २।२।३०

१—शां० भा० २। २। २८

२— बुद्धिमात्रं वदत्यत्र योगाचारो न चापरम्।
नास्ति बुद्धिरपीत्याह वादी माध्यमिकः किल॥

—सर्वसिद्धान्तसंग्रह

३—न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगुः॥

—शिवार्कमणिदीपिका।२।२।३०

परन्तु अद्वैत मत में नित्य विज्ञान पारमार्थिक है। ऐसी दशा में अद्वैत-प्रम्मत ब्रह्म को माध्यमिकों का 'शून्य' तत्त्व बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है? विद्वज्जन इस पर विचार करें।

खण्डनकार ने दोनों मतों में अन्तर दिखलाते समय स्पष्ट रूप से लिखा है कि बौद्ध मत में सब कुछ अनिर्वचनीय है, परन्तु अद्वैत मत में विज्ञान के अतिरिक्त यह विश्व सद् असद् दोनों से अनिर्वचनीय है[1]।

विज्ञानवाद तथा शून्यवाद से इन नितान्त स्पष्ट विभेदों के रहने पर भी यदि कोई विद्वान् अद्वैतवादी शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध बतलावे, तो यह उसका साहसमात्र है। पुराण-वाक्य भी श्रुतिसम्मत होने पर ही ग्राह्य होते हैं, मीमांसा का यह माननीय मत है। अतः पद्मपुराण के पूर्वोक्त कथन को श्रुति से विरुद्ध होने के कारण कथमपि प्रामाणिकता प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी दशा में शंकर का सिद्धान्त नितान्त श्रुत्यनुमोदित, प्राचीन एवं प्रामाणिक है। अवैदिक मतानुयायी बौद्धों तथा जैनों ने तथा वैदिक द्वैती, विशिष्टाद्वैतवादियों आदि ने 'मायावाद' के सिद्धान्त का खण्डन बड़े समारोह के साथ किया है परन्तु वह तर्क के उस दृढ़ आधार पर अवलम्बित है जहाँ जितना विचार किया जाता है, उतना ही सच्चा प्रतीत होता है। वेदान्तियों का विवर्तवाद निपुण तर्क की भित्ति पर आश्रित है। कार्य-कारण भाव की यथार्थ व्याख्या के विषय में अद्वैतियों की यह नितान्त अनुपम देन है। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन के अद्वैतवाद से शङ्कर के सिद्धान्त का प्रभावित होना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि अद्वैतवाद शङ्कर से आरम्भ नहीं होता। यह तो भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। उपनिषदों में अद्वैतपरक श्रुतियाँ उपलब्ध होती ही हैं। इतना ही नहीं, मंत्र संहिताओं में भी यत्र तत्र अद्वैतवाद का स्पष्ट आभास दृष्टिगोचर होता है। महाभारत आदि ग्रन्थों में अन्यान्य मतों के समान अद्वैतवाद का भी परिचय मिलता है। प्राचीन वेदान्त सूत्रकारों में कोई कोई अद्वैतवादी थे, यह बात प्रसिद्ध ही है। ऊपर अभी दिखलाया गया है कि बौद्धों में माध्यमिक तथा योगाचार अद्वैतवादी थे, इसी कारण बुद्ध का नाम भी 'अद्वयवादी' पड़ा था। वैयाकरण, शाक्त, शैव—ये सभी अद्वैतवाद को मानते थे। वेदान्त में भी शंकर से पूर्व अद्वैतवाद विद्यमान था। मण्डन मिश्र ने अपने ब्रह्मसिद्धि में अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है। दिगम्बर आचार्य समन्त-भद्र

१—एवं सति सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति। तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे—

बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिता.॥

विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते—खण्डन।

ने 'मानमीमांसा' में (श्लो० २४) अद्वैतवाद का उल्लेख किया है। शान्तरक्षित ने भी अपने तत्त्वसंग्रह में प्राचीन औपनिषद् अद्वैतवाद का निर्देश किया है। शान्तरक्षित के वचन से प्रतीत होता है कि उनके मत में विवर्त और परिणाम दोनों शब्द पर्यायवाची हैं क्योंकि एक बार वह पृथ्वी, तेज वायु आदि पंच भूतों को नित्य ज्ञान का विवर्त बतलाते हैं। दूसरी बार उसे विज्ञान का परिणाम कहते हैं। इस मत में आत्मा नित्य विज्ञानरूप है और क्षिति आदि संसार इसी का परिणाम या विवर्त है। भवभूति भी इस प्राचीन अद्वैतवाद से परिचित थे क्योंकि उन्होंने उत्तररामचरित में—ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि विप्रलयः कृतः—विवर्तवाद का उल्लेख स्पष्ट ही किया है। इस वाक्य से स्पष्ट है कि विवर्त ब्रह्म से ही आविर्भूत होता है और अन्त में विद्या के कारण उसी में लीन हो जाता है। उनकी दृष्टि में विवर्त और परिणाम एकार्थवाची प्रतीत होते हैं क्योंकि—एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्—इस प्रसिद्ध श्लोक में इन्होंने इन दोनों शब्दों का प्रयोग साथ ही समान अर्थ में किया है। कुमारिल ने भी 'श्लोक वार्तिक' में वेदान्त के अद्वैतवाद का उल्लेख किया है। इस प्रकार अद्वैतधारा इस भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से बहती चली आती है।

भर्तृहरि

पूर्वोक्त मत अद्वैतवादी होने पर भी एक समान नहीं हैं। हमने ऊपर दिखलाया है कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद माध्यमिकों के शून्याद्वैतवाद तथा योगाचारों के विज्ञानाद्वैतवाद से नितान्त भिन्न है। भर्तृहरि का शब्दाद्वैत भी एक विशिष्ट सिद्धान्त है। इनका सर्वमान्य ग्रन्थ वाक्यपदीय है जिसमें स्फोटरूप शब्द ही की अद्वैत कल्पना की गई है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार प्रकार के भेद से सम्पन्न परा वाक् साक्षात् ब्रह्मरूपा है। अक्षर ब्रह्म से ही जगत् का परिणाम उत्पन्न होता है। मण्डन मिश्र भी इसी मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं। उनकी हाल में प्रकाशित 'स्फोट-सिद्धि' से इस मत का समर्थन होता है। 'ब्रह्मसिद्धि' के अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मण्डन स्फोट को मानते थे। श्रवण से

मण्डन

परोक्षज्ञान का उदय मानकर उपासना को ब्रह्म के साक्षात्कार में प्रधान कारण मानते थे। वे ज्ञान समुच्चय वादी हैं जिसके अनुसार अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों का भी उपयोग मोक्ष की सिद्धि में अवश्यमेव होता है। उनकी सम्मति में कर्मनिष्ठ—गृहस्थ-कर्मत्यागी संन्यासी की अपेक्षा मुक्ति का कम अधिकारी नहीं है।

शाक्त मत भी अद्वैतवादी है। शंकराचार्य इस मत से परिचित थे। इसका स्पष्ट प्रमाण उनके सौन्दर्यलहरी और दक्षिणामूर्ति स्तोत्र हैं। इन दोनों ग्रन्थों में शंकर ने शाक्त अद्वैत के सिद्धान्तों का परिचय दिया है। किसी किसी का यह मत है कि अति प्राचीन शिवाद्वैतवाद का अवलम्बन करके शंकर ने अपना मत स्थापित

१—तत्त्वसंग्रह—श्लोक १२८-२९

किया है। प्रसिद्धि है कि उन्होंने सूतसंहिता का अठारह बार अवलोकन कर शारीरक भाष्य बनाया था[1]। सूत संहिता स्कन्दपुराण के अन्तर्गत एक विख्यात संहिता है जिसमें शिवाद्वैत का वर्णन किया गया है। इसके भाष्यकार माधव मंत्री प्रसिद्ध शैवाचार्य क्रियाशक्ति के शिष्य थे। शंकर के दक्षिणामूर्ति स्तोत्र तथा सुरेश्वर के वार्तिक देखने से प्रतीत होता है कि वे शिवागम से परिचित थे। सच्ची बात तो यह है कि शंकराचार्य इन अद्वैत सिद्धान्तों से परिचित थे। यह भी संभव है कि किसी किसी सिद्धान्त का भी प्रभाव उनके ऊपर पड़ा हो। पर यह कहना कि किसी विशिष्ट मत का अवलम्बन कर ही शङ्कर ने अपने अद्वैतमत का प्रतिपादन किया, नितान्त असत्य है। शङ्कर के समान महायोगी तथा सिद्धपुरुष ऐसा क्यों करने लगेगा? यह दूसरी बात है कि वह विचार-धारा तथा पारिभाषिक शब्द जो किसी समय-विशेष में किसी देश में प्रचलित होते हैं उनका प्रभाव उस देश के ग्रन्थकार पर स्वतः हो जाया करता है। इसे हम ज्ञान-पूर्वक आदान-प्रदान मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं। शङ्कर के सिद्धान्त पर यदि किसी की अस्पष्ट छाया दीख पड़ती हो तो उसकी भी दशा ठीक वैसी है। तथ्य बात यह है कि शङ्कर का अद्वैतवाद नितान्त मौलिक सिद्धान्त है। इसके लिये वे उपनिषद् तथा गौडपाद के ऋणी हैं। ऐतिहासिक आलोचना करने पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं।

प्रायः लोग समझा करते हैं कि अद्वैतवेदान्त केवल विद्वानों के मनन की ही वस्तु है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। जिस प्रकार यह समाज के विद्वानों की आकांक्षाओं की पूर्ति करता है उसी प्रकार साधारण मनुष्यों की माँग को भी पूर्ण करता है। अद्वैत वेदान्त व्यावहारिक धर्म है। संसार के समस्त प्राणी उसे अपना कर सुखी हो सकते हैं। मनुष्यों को आपस में प्रेम रखना चाहिए, क्योंकि जब प्रत्येक प्राणी में एक ही ज्योति जग रही है तब किसका आदर किया जाय और किसका अनादर? अद्वैत वेदान्त का मूलमन्त्र है 'तत्त्वमसि'। हम और हमारे पड़ोसी दोनों एक ही हैं, तब अपने पड़ोसी की सहायता करना अपनी ही सहायता करना है। पर उपकार तो उच्च कोटि का सूक्ष्म स्वार्थ-साधन ही है। स्वार्थ और परमार्थ में किसी प्रकार का अन्तर नहीं। यदि अद्वैत के इस उपदेश
का कितना मङ्गल हो?

---

1 तामष्टादशधाऽऽलोच्य शंकरः सूतसंहिताम्।
चक्रे शारीरकं भाष्यं सर्ववेदान्तनिर्णयम्॥

उन्नीसवाँ परिच्छेद

विशिष्ट समीक्षा

आचार्य शङ्कर के जीवन-चरित की सामूहिक रूप से आलोचना करने पर उनका महान् व्यक्तित्व, अलोकसामान्य पाण्डित्य, उदात्त चरित्र तथा अप्रतिम काव्यप्रतिभा का भव्य रूप आलोचकों के सामने स्पष्टरूप से आदर्श गुण अभिव्यक्त होता है। आचार्य का मानव जीवन आदर्श गुणों से परिपूर्ण था। उनके सम्पर्क में जो कोई भी व्यक्ति आया, उसके साथ अपना सम्बन्ध उन्होंने अच्छी तरह निभाया। गुरु तथा माता की उत्कट भक्ति, शिष्यों पर अनुपम प्रेम, भक्तों के प्रति असीम दया, शत्रुओं के प्रति अहेतुकी क्षमा—आदि अनेक सद्गुणों का सामञ्जस्य उनमें पाया जाता है जिनमें से एक गुण की भी स्थिति किसी भी व्यक्ति को महान् बनाने के लिए पर्याप्त सिद्ध हो सकती है। वे पितृसौख्य से वञ्चित थे, परन्तु माता की एकमात्र सन्तान होने से उनका हृदय अपनी माता के लिए स्नेह तथा भक्ति से आप्लुत रहता था। संन्यास लेने की तीव्र वासना रहने पर भी उन्होंने माता का विरोध कर इस उपादेय आश्रम के ग्रहण करने की ओर कभी प्रवृत्ति नहीं दिखलाई। संन्यास आश्रम को अपने लिए नितान्त कल्याणकारी जानकर भी शंकर ने इसका तब तक ग्रहण नहीं किया, जब तक माता ने अनुज्ञा नहीं दी। मृत्यु के समय पर उपस्थित होने की प्रतिज्ञा उन्होंने खूब निभाई। संन्यास धर्म का किञ्चित् शैथिल्य उन्हें अभीष्ट था, परन्तु माता की आज्ञा का उल्लंघन उन्हें स्वीकृत न था। संन्यासी होकर भी उन्होंने अपने हाथों माता का दाह-संस्कार किया, इस कार्य के लिए उन्हें जाति भाइयों का तिरस्कार सहना पड़ा, अवहेलना सिर पर लेनी पड़ी, परन्तु वे माता की इच्छा को कार्यान्वित करने से तनिक भी पराङ्मुख नहीं हुए। मातृ-भक्ति का यह उदाहरण सदा हमारे हृदय को स्नेहसिक्त बनाता रहेगा। गुरुभक्ति भी उनमें कम मात्रा में न थी। गुरु की खोज में वे इधर से उधर भटकते रहे, परन्तु जब उचित गुरु मिल गए, तब उन्होंने उनसे शिक्षा ग्रहण करने में तनिक भी आनाकानी नहीं की। गुरु भक्ति का परिचय शङ्कर ने नर्मदा के बढ़ते हुए जल को अभिमन्त्रित कलश के भीतर पुञ्जीभूत करके दिया, नहीं तो वह गोविन्द भगवत्पाद की गुफा को जलमग्न करने पर भी उद्यत था। शिष्यों के लिए गुरु के हृदय में प्रगाढ़ अनुकम्पा थी। आनन्दगिरि स्वभावतः मन्दबुद्धि थे, अतः उन्हें सहपाठियों के तिरस्कार का भाजन बनना पड़ता था। परन्तु आचार्य ने अलौकिक शक्ति से समग्र विद्याओं का संक्रमण उनमें सम्पन्न कर शिष्यों को आश्चर्य के समुद्र में मग्न कर दिया।

यह तो हुई आचार्य के 'हृदय' की अभिव्यक्ति। उनकी मानसिक शक्ति भी

अपूर्व थी। मेधाशक्ति इतनी तीव्र थी कि उन्होंने नष्ट हुए ग्रन्थों का पुनरुद्धार कर दिया। पद्मपाद की पञ्चपादिका तथा राजशेखर के नाटक—आचार्य शङ्कर के मेधा के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। मनुष्य मस्तिष्क तथा हृदय का अपूर्व सम्मिश्रण है। किसी व्यक्ति में मस्तिष्क का अधिक विकास मिलता है, तो किसी में हृदय का। परन्तु पूर्ण मानवता की सच्ची पहचान है मस्तिष्क तथा हृदय का मृदुल सामञ्जस्य। इस सामञ्जस्य की दृष्टि से परखने पर आचार्य शङ्कर का जीवन खरा उतरता है। उनमें जितना विकास मस्तिष्क का उपलब्ध होता है, उतनी ही हृदय को भी अभिव्यक्ति मिलती है।

कर्मठ जीवन

कुछ लोग 'मायावाद' के व्यवस्थापक होने के नाते शङ्कर के ऊपर इस ठोस संसार को मायिक तथा स्वप्नवत् मिथ्या बतलाने का दोष आरोपित करते हैं। उनकी दृष्टि में इस कर्मठ देश में अकर्मण्यता तथा अलसता फैलाने का सारा दोष 'मायावाद' के उपदेष्टा के ऊपर है। जब समग्र जीवन ही मिथ्या ठहरा, तब उसे सुखमय बनाने की उद्योग करने की जरूरत ही क्या ठहरेगी? जगत् को मायिक मानते जाना और अपने आप को सुखाभास की मृगमरीचिका में फँसाये रहना—शङ्कर को शिक्षा का यही दुष्परिणाम है। ऐसे तर्काभासों को दूर करने के लिए आचार्य के कर्मठ-जीवन पर दृष्टिपात करना ही पर्याप्त होगा। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उन्हीं का व्यवहार-दृष्ट्या पालन अपने जीवन में किया। इस प्रकार आचार्य का जीवन उनके ग्रन्थों पर स्वयं भाष्यभूत है। वे एक स्थान पर रह कर सुख का जीवन नहीं बिताते थे, प्रत्युत देशभर के कोने कोने में घूमकर वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा के लिए सदा प्रयत्नशील थे।

शङ्कराचार्य के जीवन का प्रधान लक्ष्य वैदिकधर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रचार था। उनके समय से पूर्व अवैदिक तथा वैदिकाभास धर्मों ने अपने वेदविरोधी सिद्धान्तों का प्रचुर प्रचार कर जनसाधारण के हृदय में वैदिक धर्म के पालन करने में अश्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। अज्ञानवश वेद के तथ्यों को अपसिद्धान्त का रूप देकर अनुयायियों ने इसे जर्जरित करने का पर्याप्त उद्योग किया था, परन्तु शङ्कर ने अपने अलोकसामान्य पाण्डित्य के बल पर इन समग्र अवैदिक या अर्ध-वैदिक सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ा दी। उनकी निःसारता प्रमाणित कर दी तथा वेदप्रतिपाद्य अद्वैतमार्ग का विपुल ऊहापोह कर श्रौत धर्म को निरापद बना दिया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के निमित्त आचार्य शङ्कर ने अनेक व्यापक तथा उपादेय साधनों का अवलम्बन लिया—

(१) शास्त्रीय विचार से तर्कपद्धति का अवलम्बन कर आचार्य ने विरुद्ध मतवादों के अपसिद्धान्तों का युक्तियुक्त खण्डन कर दिया। इन अवैदिकों ने भारत के अनेक पुण्यक्षेत्रों को अपने प्रभाव से प्रभावित कर वहाँ अपना अड्डा जमा लिया था। आचार्य ने इन पुण्यक्षेत्रों को इनके चंगुल से हटा कर उन स्थानों

की महत्ता फिर से जाग्रत की। दृष्टान्त रूप से 'श्रीपर्वत' को लिया जा सकता है। यह स्थान नितान्त पवित्र है, द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से प्रधान लिङ्ग मल्लिकार्जुन का यह स्थान है, परन्तु कापालिकों की काली करतूतों ने इसे विद्वानों की दृष्टि से काफी बदनाम कर रखा था। कापालिकों की उग्रता इसी से समझी जा सकती है कि कार्णाटक की उज्जयिनी नगरी में क्रकच कापालिकों का एक प्रभावशाली सरदार था। उसके पास हथियारबन्द सेना रहती थी। जिसे वह चाहता, झट उसे अपने वश में कर लेता था। यह उग्र कापालिक तो आचार्य के ऊपर ही अपना हाथ साफ करने जा रहा था, परन्तु पद्मपाद के मन्त्रबल ने उसके पापकृत्य का मजा उसे ही चखा दिया। पाप का विषमय फल तुरन्त फला। आचार्य ने इन पवित्र स्थानों को वैदिक मार्ग पर पुनः प्रतिष्ठित किया। आनन्दगिरि ने अपने ग्रन्थ में, शाक्तों तथा नाना प्रकार के सम्प्रदाय मानने वाले व्यक्तियों को परास्त करने तथा पुण्य तीर्थों में वैदिक धर्म की उपासना पुनः प्रचारित करने का पर्याप्त उल्लेख किया है। इस प्रकार धर्म प्रचार का प्रथम साधन तीर्थों को अवैदिक मत के प्रभावों से मुक्त करना और उनमें शुद्ध सात्त्विक वैदिक उपासना का प्रचार करना था।

(२) वैदिक ग्रन्थों के प्रति अश्रद्धा का कारण उनकी दुरूहता भी थी। उपनिषदों का रहस्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में जब पण्डितों में ही एक मत नहीं है, सर्वसाधारण जनता की तो कथा ही न्यारी है। आचार्य ने इसी लिए श्रुति के मूर्धस्थानीय उपनिषदों की विशद व्याख्या लिखकर उनके गूढ़ अर्थ को प्रकट किया। ब्रह्मसूत्र और गीता पर अपने सुबोध भाष्य लिखे। साधारण लोगों के निमित्त उन्होंने प्रकरण ग्रन्थ की रचना कर अपने भाष्य के सिद्धान्त को बोधगम्य भाषा में, सरस श्लोकों के द्वारा अभिव्यक्त किया। इतना ही नहीं, वेदान्त शास्त्र के सिद्धान्तों के विपुल प्रचार की अभिलाषा से इन्होंने अपने भाष्यग्रन्थों पर वृत्ति तथा वार्तिक लिखने के लिये विद्वानों को प्रोत्साहित किया। शिष्यों के हृदय में आचार्य की प्रेरणा प्रभाव-शालिनी सिद्ध हुई। इन लोगों ने इस विषय में आचार्य के पदों का अनुसरण किया। आज जो विपुल ग्रन्थ-राशि अद्वैत के प्रतिपादन के लिए प्रस्तुत की गई है उसकी रचना की प्रेरणा का मूल स्रोत आचार्य के ग्रन्थों से प्रवाहित हो रहा है। वेदान्त के अन्य संप्रदायों में भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्यग्रन्थों के लिखने की प्रवृत्ति आचार्य शंकर से ही मिली। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि शंकर से पहले किसी आचार्य ने समस्त प्रस्थानत्रयी पर भाष्य ग्रन्थों की रचना नहीं की थी। अद्वैत साहित्य को जन्म देकर शङ्कर ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि जिससे समग्र देश की जनता उनके द्वारा प्रचारित धर्म का मर्म समझे और कोई भी अद्वैत तत्त्व के उपदेश से वंचित न रह जाय।

अद्वैतसाहित्य के प्रतिष्ठापक

(३) धर्म-संस्थापन कार्य को स्थायी बनाने के लिये शंकर ने संन्यासियों को सुसंबद्ध करने का श्लाघनीय उद्योग किया। गृहस्थ अपने ही काम में चूर हैं;

संन्यासी संघ की स्थापना

अपने घर-गृहस्थी के कामों को सुलझाने में व्यस्त है। उसे अवकाश कहाँ कि वह धर्म के प्रचार के लिये अपना समय दे सके। इस कार्य के लिए यदि उपयुक्त कोई व्यक्ति है तो वह संसार से विरक्त संन्यासी ही है। उसे न घर है न द्वार, न जोरू है न जाँता, जिसकी चिन्ता में वह बेचैन बना रहे। अपनी शिक्षा-दीक्षा, उपासना तथा निवृत्ति के कारण व समाज का उपदेशक भलीभाँति हो सकता है। आचार्य की पैनी दृष्टि ने इस वर्ग की महत्ता पहचानी और उसे संघरूप में संगठित किया। विरक्त पुरुष ही धर्म का सच्चा उपदेश दे सकता है तथा अपना जीवन वैदिकधर्म के अभ्युत्थान, अभ्युदय तथा मङ्गल-साधन में लगा सकता है। शङ्कर ने इस विरक्त तापसवर्ग को एकत्र कर एक संघ के रूप में बाँध कर वैदिक-धर्म के भविष्य कल्याण के लिये महान् कार्य सम्पन्न कर दिया। कहना व्यर्थ है कि शङ्कर का यह कार्य नितान्त गौरवपूर्ण हुआ। सन्यासी लोगों ने हमारे धर्म के रक्षण के लिये बहुत बढ़िया काम पहले किया है और आज भी कर रहे हैं। धर्म के ऊपर जब संकट के आने की आशंका होती है तब यह विरक्त मण्डली आगे आती है और गृहस्थों को समझा बुझाकर सन्मार्ग पर डटे रहने का उपदेश देती है। इस प्रकार 'संन्यासीसंघ' की स्थापना को हम आचार्य का तृतीय महत्त्वपूर्ण कार्य कह सकते हैं।

(४) अपने कार्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये शंकर ने भारतवर्ष की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की। इनका विशिष्ट वर्णन किसी पिछले परिच्छेद में किया गया है। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि इन मठों के शासक वस्तुतः भारत के धार्मिक शासक थे जिनकी आज्ञा आस्तिक जनता बड़े गौरव तथा आदर से मानती थी। भारतवर्ष का धार्मिक दृष्टि से भी विभाजन

मठ स्थापन

कर उन्हें इन्हीं मठों के अधीन कर दिया। मठ के अध्यक्ष का प्रधान कार्य है कि वह अपने शासन क्षेत्र में घूम-घूम कर सदा धार्मिक भावना जागरित रक्खे। यह मठस्थापन का कार्य आचार्य का चौथा व्यावहारिक कार्य है जिससे उनका मत जनता के हृदय को स्पर्श कर सका।

शङ्कर के उपदेश नितान्त प्रभावशाली थे; इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। तभी तो इनका प्रभाव देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक शीघ्र पड़ गया। इस प्रभाव का रहस्य इस बात में छिपा हुआ है कि उनके उपदेश अनुभव की दृढ़ भित्ति पर आश्रित हैं। अनुभूत सत्य का ही उपदेश सबसे अधिक प्रभावशाली होता है। अद्वैतमत का प्रभाव भारतीय जनता पर खूब गहरा पड़ा। रामानुज, मध्व तथा अन्य आलोचकों ने मायावाद के खण्डन में जी-जान से उद्योग किया परन्तु आचार्य का सिद्धान्त इतनी मार्मिक है कि विरोध होने पर भी हिन्दू जनता अद्वैतवाद में भरपूर श्रद्धा रखती है।

पाण्डित्य

आचार्य शङ्कर दार्शनिकों के ही शिरोमणि नहीं हैं, प्रत्युत उनकी गणना संसार के उन दार्शनिकों में की जाती है जिन्होंने अपने विचारों से मानव-विचार की धारा ही पलट दी। वे कितने उच्चकोटि के दार्शनिक थे, इसका परिचय उनकी रचनावली दे रही है। उन्होंने प्रस्थानत्रयी जैसे कठिन अथ च दुरूह अध्यात्म ग्रन्थों का अभिप्राय अपने भाष्यों में इतनी सरलता तथा सुगमता से समझाया है कि इसका पता विज्ञ पाठक को पद-पद पर लगता है। भाष्यों की भाषा नितान्त रोचक, बोधगम्य तथा प्रौढ़ है। शैली प्रसन्न-गम्भीर है। इन कठिन गम्भीर ग्रन्थों की व्याख्या इतनी प्रसादमयी वाणी में की गई है कि पाठक को पता नहीं चलता कि किसी दुरूह विषय का वह विवेचन पढ़ रहा है। शङ्कराचार्य का ज्ञान बड़ा ही व्यापक था, वह केवल वैदिक धर्म के मूल ग्रन्थों तक ही सीमित न था, प्रत्युत उसकी परिधि खूब ही विस्तृत थी। जिन मतों का उन्होंने खण्डन किया है उनकी जानकारी विशेष रूप से उन्हें थी। बौद्ध, जैन, पाञ्चरात्र तथा पाशुपत, सांख्य, न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसा—इन शास्त्रों में उनकी अबाध प्रगति प्रतीत होती है। वैदिक दर्शनों के गाढ़ परिचय पर आलोचकों को विस्मय नहीं होता, परन्तु सचमुच आचार्य का बौद्धदर्शन के मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन एक विस्मयनीय घटना है। आचार्य ने उस समय के प्रकाण्ड बौद्धाचार्यों—विशेषतः दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति—के ग्रन्थों का पर्याप्त परिशीलन किया था। ध्यान देने की बात यह है कि आचार्य ने ऐसे कतिपय बौद्ध सिद्धान्तों का खण्डन किया है जो प्रचलित ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। परन्तु आजकल प्रकाशित होने वाले बौद्धग्रन्थों में शङ्कर-कृत पूर्वपक्ष की सत्ता देखकर आश्चर्य होता है। बिना बौद्धदर्शन के विशाल तथा गम्भीर अध्ययन के कोई भी व्यक्ति इतना पुंखानुपुंख खण्डन कभी नहीं कर सकता। अन्य दर्शनों की भी ठीक यही दशा है। जान तो पड़ता है कि शङ्कराचार्य बड़े भारी अध्ययनशील विद्वान् थे। यावत् उपलब्ध दर्शनग्रन्थों का उन्होंने विचारपूर्वक अध्ययन किया था तथा खूब प्रवेशपूर्वक उनका मनन तथा अनुशीलन किया था।

शङ्कराचार्य भारतीय दार्शनिकों के मुकुटमणि हैं, इसे कौन स्वीकार नहीं करता? जिस प्रकार कोई धनुर्धर अपना तीर चलाकर लक्ष्य के मर्मस्थल को विद्ध कर देता है, उसी प्रकार आचार्य ने अपना तर्करूपी तीर चलाकर विपक्षियों के मूल सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न कर दिया है। मूल सिद्धान्त के खण्डन करने की उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। उस सिद्धान्त के खण्डन करते ही अन्य सिद्धान्त बालू की भीत की तरह भूतलशायी हो जाते हैं। आचार्य के भाष्यों को हम वीणा के सदृश मान सकते हैं। वीणा के तार की एक विशिष्टता रहती है। उससे एक ध्वनि तो ऐसी निकलती है जिसे सर्वसाधारण सुनते हैं और पहचानते हैं। परन्तु उसके मधुर झंकार के भीतर एक सूक्ष्म कोमल ध्वनि भी निकलती है

जिसे कलाविदों के ही कान सुनते हैं और पहचानते हैं। भाष्यों की भी ठीक ऐसी ही दशा है। उनके ऊपरी अर्थ का बोध तो सर्वसाधारण करते ही हैं, परन्तु इनके भीतर से एक सूक्ष्म गम्भीर अर्थ की भी ध्वनि निकलती है जिसे विज्ञ पण्डित ही समझते-बूझते हैं। भाष्यों की गम्भीरता सर्वथा स्तुत्य तथा श्लाघनीय है। आचार्य ने छोटे-छोटे प्रकरण-ग्रन्थों में अपने सिद्धान्त सरल सुबोध भाषा में प्रदर्शित करने की अद्भुत कला दिखलाई है। यह तो सर्वमान्य बात है कि विषय का संक्षिप्त विवेचन वही यथार्थ रूप से कर सकता है जिसने उसका विस्तृत तथा गम्भीर विचार किया हो। शङ्कर के समस्त प्रकरण ग्रन्थ विषय प्रतिपादन की दृष्टि से नितान्त उपादेय तथा रुचिकर हैं। छोटे-छोटे छन्दों में, परिचित दृष्टान्तों की सहायता से पाण्डित्यपूर्ण विषय अनायास ही बुद्धिगम्य हो जाते हैं। आचार्य की यह विशिष्टता प्रत्येक पाठक की दृष्टि को आकृष्ट करती है। वाचस्पति मिश्र जैसे मर्मज्ञ विद्वान् ने आचार्य की वाणी को, उनके वचनों को उसी प्रकार पवित्र करने वाली बतलाया है जिस प्रकार भगवती भागीरथी का जल गलियों के जल को पवित्र बना डालता है—

> आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम् ।
> रथ्योदकमिव गङ्गा प्रवाहपातः पवित्रयति ॥
>
> (भामती)

वाचस्पति का यह कथन यथार्थ है !

कवित्व

कविता मानव-हृदय को आनन्द से उल्लसित बनाने वाली कमनीय कला है। जिस कवि का हृदय रस से जितना ही सिक्त होगा, उसकी कविता उतनी ही स्निग्ध और हृदयग्राहिणी होगी। छन्द तो कविता का जरूरी जामा नहीं है। सच्ची कविता गद्य-पद्य का विभेद नहीं जानती। वह तो अपना सरस चमत्कार दिखलाने के लिये सदा प्रस्तुत रहती है। हमारे शास्त्रकारों ने पते की बात कही है कि काव्यरचना की शक्ति भगवती शारदा की अनुकम्पा का प्रसाद है। संसार में मनुष्य का चोला मिलना ही कठिन होता है; उसपर विद्या का अर्जन दुर्लभ होता है; विद्या-सम्पन्न होने पर कवित्व की प्राप्ति दुर्लभ घटना है, और तिसपर कविता लिखने की शक्ति रखना तो संसार में एकदम दुर्लभ है :—

> नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
> कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ।

बात विचित्र है, परन्तु है बिल्कुल सत्य। शङ्कराचार्य में पाण्डित्य के साथ साथ कवित्व का अनुपम सम्मेलन था। आचार्य की कविता पढ़ कर सहसा विश्वास नहीं होता कि यह किसी तर्क-निष्णात परमविदूषक विद्वान् की रचना है। विचारणीय बात है ज्ञानमार्गी तथा भक्तिमार्गी आचार्यों की कविता का नितान्त स्फुट विभेद। शंकर प्रौढ़ ज्ञानमार्गी थे—उनके दर्शन में ज्ञान की ही

महती विशिष्टता है, भक्ति तो केवल सगुण ब्रह्म की ही उपलब्धि कराने का साधन है, उस से हम अपने उच्च आदर्श पर पहुँच नहीं सकते, परन्तु रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य तो वैष्णव मत के उपदेष्टा आचार्य हैं। उनके यहाँ तो भक्ति ही भगवान् तक पहुँचाने में सर्वतोभावेन जागरूक रहती है—भगवान् की अनुकम्पा पाने का एकमात्र उपाय भक्ति ही है। साधन की इस भिन्नता के कारण हम आशा किये हुए थे कि भक्तिवादी आचार्यों की कविता हृदयग्राहणी, स्निग्ध तथा रसमय होगी परन्तु सच्ची बात ऐसी नहीं है। 'को बड़ छोट कहत अपराधू'। ये वैष्णव आचार्य भगवान् के परमभक्त उपासक थे, इसमें रत्तक-मात्र भी सन्देह नहीं है, परन्तु काव्य के मर्मज्ञ आलोचक को हठ त् कहना पड़ता है कि ज्ञानवादी अद्वैती शङ्कराचार्य की कविता भक्तिवादी वैष्णव आचार्यों की कविता से, काव्य सम्पत्ति की दृष्टि में, शब्द की सुन्दरता में तथा अर्थ की अभिरामता में, कल्पना की कमनीयता में तथा रस की अभिव्यक्ति में, अवश्य ही बढ़कर है। इन आचार्य के पद्यों में प्रौढ़ता है, तार्किकता है परन्तु उस स्निग्धता तथा कोमलता का अभाव है जो सहृदयों का हृदय आवर्जन करती है। परन्तु शङ्कराचार्य की कविता संस्कृत साहित्य की एक मनोरम वस्तु है।

शङ्कर की कविता रस-भावनिरन्तरा है, यह आनन्द का अजस्र स्रोत है, यह उज्ज्वल अर्थरत्नों की मनोरम पेटिका है, कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। उसमें एक विचित्र मोहकता है, अनुपम मादकता है, जिसे पढ़ते ही मस्ती छा जाती है। कवितामें शब्दसौन्दर्य इतना अधिक है कि शब्दों की माधुरी चल कर चित्त अन्य विषयों से हट कर इस मनोरम काव्य-प्रवाह में प्रवाहित होने लगता है। कौन ऐसा भावुक होगा जिसका मनोमयूर 'भजगोविन्द' स्तोत्र की भावभंगी पर नाच नहीं उठता ?

भज गोविन्द भज गोविन्द भज गोविन्द मूढमते।

प्राप्ते सन्निहिते ते मरणे

नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे।

बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।

वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥

—की मधुर स्वर-लहरी हमारे कानों में जब सुधा बरसाने लगती है, तब हम इस दुःखमय भौतिक जगत् से बहुत ऊँचे उठकर किसी अलौकिक जगत् में पहुँच जाते हैं और सद्यः ब्रह्मानन्द का आस्वाद लेने लगते हैं। काव्य का आनन्द उनके प्रत्येक स्तोत्र के पाठ से होता है, विशेषतः श्री ललिता के स्तोत्रों से। 'आनन्दलहरी' सचमुच भावुकों के हृदय में आनन्द की लहरी उठाती है। भगवती को आचार्य चिदानन्द की लतिका (लता) बतलाते हैं। इस प्रसंग में सांगरूपक की रमणीयता अनुपम है—

पूर्ण आनन्द आता है। उनकी एक विशिष्ट शैली है। यह तो मानी हुई बात है कि अद्वैत तत्त्व उन्नत मस्तिष्क की उपज है—वह साधारण बुद्धि के लिए दुरूह विषय है, परन्तु उसी विषय को आचार्य शङ्कर ने इतने सुन्दर, सरस तथा सुबोध शब्दों में अभिव्यक्त किया है कि विषय को हृदयंगम होते विलम्ब नहीं होता। पढ़ते समय जान नहीं पड़ता कि इतने गम्भीर विषय का प्रतिपादन हो रहा है। बीच बीच में लोकोक्तियों के पुट से तथा दृष्टान्तों के सद्भाव से आचार्य के लेख में सञ्जीवनी शक्ति का संचार हो जाता है। इसीलिये उनके भाष्य 'प्रसन्न गम्भीर' कहे गये हैं—जिनमें गम्भीरता के साथ साथ प्रसाद गुण की मनोहर अभिव्यक्ति होती है।

ब्रह्मसूत्र भाष्य का आरम्भ ही बड़ी उदात्त शैली से किया गया है। पठनमात्र से विचित्र गम्भीरता की भावना जाग्रत हो उठती है। वाक्यों को छोटा या बड़ा करना भावानुकूल ही किया गया है। अध्यास विषय का वर्णन सुनिये—

एवमहं प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तःकरणादिषु अध्यवस्यति। एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो। मिथ्या-प्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रसिद्धः।

शंकर के गद्य काव्य का आनन्द लेने के लिए केवल एक वाक्य स्मरण रखना चाहिए जिसपर मेरी दृष्टि में अनेक गद्य के बड़े पोथे निछावर किये जा सकते हैं। वह वाक्य है—नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हति—जो व्यक्ति पैरों से भागने में समर्थ है उसे घुटनों के बल रेंगना कभी शोभा नहीं देता। बहुत ही ठीक!

तान्त्रिक उपासना

आचार्य के जीवन की एक विशिष्ट दिशा की ओर विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट करना नितान्त आवश्यक है—यह है उनकी उपासना-पद्धति की विशिष्टता। शङ्कर मन्त्रशास्त्र के एक बड़े भारी मर्मज्ञ विद्वान् थे। परन्तु उन्होंने अपने तान्त्रिकरूप को भाष्यों के पृष्ठों में अभिव्यक्त होने नहीं दिया है। इसमें एक रहस्य है। भाष्य की रचना तो सर्वसाधारण के लिए की गयी थी, इसलिए उसमें ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन है। उपासना नितान्त अन्तरङ्ग वस्तु है। उसकी साधना के लिए उपयुक्त अधिकारी चाहिये। ज्ञान के लिए उतने विशिष्ट कोटि के अधिकारी की आवश्यकता नहीं होती जितनी तान्त्रिक उपासना के लिए। उपयुक्त अधिकारी के मिलने पर ही उस उपासना का रहस्य किसी को समझाया जा सकता है। यही कारण है कि शङ्कर ने इस विषय को अपने भाष्यों में आने नहीं दिया। परन्तु इसका प्रतिपादन उन्होंने 'सौन्दर्य लहरी' तथा 'प्रपञ्चसार' में पर्याप्त मात्रा में कर दिया है। वे साधना-साम्राज्य के सम्राट् थे। वे भगवती त्रिपुरा सुन्दरी के अनन्य उपासक थे। मठों में आचार्य ने श्रीविद्यानुकूल देवी की पूजा-अर्चा का विधान

प्रचलित किया। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि वह पूजा परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप से चल रही है। आचार्य का यह साधक रूप उनके जीवन-मन्दिर का कलशस्थानीय है। इनका जीवन क्या था? परमार्थ साधन की दीर्घव्यापिनी परम्परा था। वे उस स्थान पर पहुँच चुके थे जहाँ स्वार्थ का कोई भी चिह्न अवशिष्ट नहीं रहता। सब कुछ परमार्थ ही था। ग्रंथों के अध्ययन से हम उनकी उन्नत विचारशक्ति तथा अलौकिक प्रतिभा से परिचित होते हैं। परन्तु उनमें एक और विशेष बात थी साधारणजन के प्रति सहानुभूति। उस महान् व्यक्ति के लिए हमारे हृदय में बहुत ही अधिक आदर होता है जो स्वयं हिमालय के ऊँचे शिखर पर चढ़ गया हो और घाटी के दुर्गममार्ग में धीरे-धीरे पैर रखकर आगे बढ़ने वाले राहियों के ऊपर सहानुभूति दिखला कर उनको राह बतलाता हो। आचार्य की दशा भी ठीक उसी व्यक्ति के समान है। वे स्वयं प्रज्ञा के प्रासाद पर आरूढ़ थे, उस पर चढ़ने वाले व्यक्ति के ऊपर सहानुभूति तथा अनुकम्पा दिखला कर उसके मार्ग का निर्देश कर रहे थे। चढ़ने के अभिलाषी जनों के ऊपर इन्होंने अनादर दृष्टि कभी न डाली, प्रत्युत उनपर दया दिखलायी, अनुकम्पा की जिससे वे भी उत्साहित होकर आगे बढ़ते जाँय और उस अनुपम आनन्द के लूटने का सौभाग्य प्राप्त करें। आचार्य की स्थिति का वर्णन निम्नलिखित श्लोक से भलीभाँति किया जा सकता है जिसे व्यास ने अपने योगभाष्य (१।४७) में उद्धृत किया है—

> प्रज्ञाप्रासादमारुह्याशोच्यः शोचतो जनान्।
> भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

× × ×

आचार्य शङ्कर के बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व का यह सामान्य परिचय है। इससे स्पष्ट है कि जगत् की व्यावहारिक सत्ता के प्रतिपादन करने वाले आचार्य जितने आदर्शवादी थे उतने ही यथार्थवादी थे। उनका अद्वैतसिद्धान्त उच्च विचार-शक्ति का परिणाम होने पर भी उन्हें संसार के अस्तित्व से, व्यवहार की व्यापकता से पराङ्मुख नहीं कर सका। अद्वैत वेदान्त व्यावहारिक धर्म है जिस पर विभिन्न मतवाले भी आस्था रख सकते हैं। अद्वैत वेदान्त के मूल प्रतिष्ठापकों की बात हम भलीभाँति नहीं जानते, परन्तु इसे इतनी व्यापकता प्राप्त हुई है कि यह भारतीय जनता का व्यावहारिक धर्म बन गया है। यह सब शंकराचार्य की ही प्रतिभा का प्रसाद है। छोटी उम्र में ऐसा व्यापक कार्य सम्पन्न करते देख कर आलोचक की दृष्टि आश्चर्य से चकित हो उठती है। अष्टम वर्ष में चारों वेदों का अध्ययन, द्वादश वर्ष में समग्र शास्त्रों की अभिज्ञता, सोलहवें में भाष्य की रचना—सचमुच आश्चर्य-परम्परा है। 'आश्चर्य-परम्परा केयम्?'

> अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
> षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

आचार्य अध्यात्मवेत्ता होते हुए भी नितान्त कर्मठ थे, ज्ञान की महिमा के प्रतिपादक होने पर भी उपासना के परम उपासक थे। वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा अक्षुण्ण बनाये रखने तथा उसकी नींव दृढ़ करने के लिए शंकराचार्य को अपना कार्य स्थायी बनाना था और इसके लिए आचार्य की व्यवस्था सर्वतो भावेन सफल रही। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आचार्य शंकर ने जिस वृक्ष का बीजारोपण किया वह फूला फला। जिस उद्देश्य की पूर्ति की अभिलाषा से वह रोपा गया था, वह सिद्ध हुआ। आज भारत भूमि में वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा, वेदों के प्रति श्रद्धा, ज्ञान के प्रति आदर, जो कुछ दीख पड़ता है उसके लिए अधिक अंश में आचार्य को श्रेय देना चाहिये। शङ्कर का जो महान् उपकार हमारे ऊपर है हम उसके लिए अपनी कृतज्ञता किन शब्दों में प्रकट करें? आचार्य शङ्कर उच्चकोटि के प्रौढ़ दार्शनिक थे, जगत् से ममता छोड़ देने वाले सन्यासी थे, लोक के निर्वाह के लिए नितान्त व्यवहार-कुशल पण्डित थे, कविता के द्वारा रसिकों के हृदय में आनन्द स्रोत बहाने वाले भावुक कवि थे, भगवती ललिता के परम उपासक सिद्ध जन थे— एक शब्द में हम कह सकते हैं वे युगान्तरकारी सिद्ध पुरुष थे। उनके गुणों की प्रशंसा कौन नहीं करता? उनके विरोधियों को भी उनके उदात्त चरित्र, परम सात्विक जीवन के प्रति श्रद्धा से नतमस्तक होना पड़ता है। उन्हें हम लोग भगवान् शंकर का साक्षात् अवतार मानते हैं। वे भगवान् की एक देदीप्यमान दिव्य विभूति थे जिनकी आभा शताब्दियों के बीतने पर भी उसी प्रकार प्रद्योतित हो रही है।

हम लोग उनके उदात्त जीवन चरित का अध्ययन कर अपने जीवन को पवित्र बनावें—उनके मधुर उपदेशों का अनुसरण कर अपने भौतिक जीवन को सुखमय तथा सफल बनावें—आचार्य शङ्कर के प्रति यही हमारी श्रद्धाञ्जलि होगी। इसी विचार से यह वाक्यपुष्पाञ्जलि चरितनायक शंकराचार्य के चरणारविन्द पर अर्पित की जा रही है —

आकल्पमेतत् परमार्थबोधं
श्री शंकराचार्यगुरोः कथार्थम्।
सच्छिद्रव्यमुक्तिप्रदमस्तु लोके
ससेव्यतामार्यजनैरमेदम्॥

... .

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्।
तथास्तु। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति॥

अनुक्रमणी

(१) सहायक ग्रन्थ

1. C. N. Krishnaswami Aiyer—Shankaracharya, His Life and Times (G. A. Natesan Madras).
2. Maxmuller : India—What it can Teach us.
3. Bhasyacharya: Age of Sankara (Adyar Pamphlets, No. 3).
4. T. A. Gopinath Rao—Copperplate Inscriptions of Sankaracharya Matha.
5. K. T. Telang . Sankaracharya, Philosopher and Mystic Adyar, 1911.
6. N. K. Venkatesan : Sankaracharya and His Kamaktoi Pitha, Kumbhakonan, 1916.
7. T. S. Narayan Sastri : The Age of Sankara.
8. N. Venkata Raman · Sankaracharya the Great and His Successors at Kanchi (Ganesh and Co., Madras, 1923).
9. Sri Sankaracharya the Great and his Connexion with Kanchipuri (Bangiya Brahma Sabha, Calcutta)
10. S. K. Belvelkar : Vedanta Philosophy (Lecture VI Bilvakunja Publishing House, Poona, 1929).

११ शिवराम शास्त्री—श्रंमुख दर्पण

१२ वेंकटराम—शङ्करभगवत्पाद-चरितम्

१३ यज्ञेश्वर शास्त्री· आर्य विद्यासुधाकर (लाहौर)

१४ गोपीनाथ कविराज—शांकरभाष्यानुवाद की भूमिका (अच्युतकार्यालय, काशी)

१५ राजेन्द्रनाथघोष—आचार्य शङ्कर ओ रामानुज (बं)

१६ हरिमङ्गलमिश्र—स्वामीशङ्कराचार्य का जीवन चरित— सं० १९७५, प्रयाग.

१७ उमादत्त शर्मा—शंकराचार्य सं० १९८३, कलकत्ता

१८ बलदेव उपाध्याय—शङ्कर दिग्विजय (माधव) का (विस्तृत ऐतिहासिक भूमिका के साथ) अनुवाद, २००० सं. हरिद्वार।

१९ बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन (परिवर्धित संस्करण, सं. २००२, काशी)

२० शरच्चन्द्र शास्त्री—शङ्कराचार्य-चरित (बंगला, कलकत्ता, १३१० साल)

२१ राजेन्द्रनाथ घोष सम्पादित शांकरग्रन्थावली (बँगला, कलकत्ता, १३३४ साल, (भूमिका)

22. S. S. Surya Narayan Sastri · Sankaracharya. (G. A Natesan and Co , Madras.)

23. Ganganath Jha—Shankara Vedanta (Allahabad University 1939).

२४ बलदेव प्रसाद मिश्र—क्रान्ति नाटक (चाँद बुकडिपो, प्रयाग, १९३९)
२५ गोस्वामी पृथ्वीगीर हरिगोर—गोसावी वत्यांचा सम्प्रदाय (मराठी-यवतमाल) दो भाग।

२६ रमाकान्त त्रिपाठी—स्वामी शंकराचार्य (हि पु. ए. काशी १९००)
२७ श्री शङ्करविजय चूर्णिका (निर्णयसागर, बम्बई)
२८ शङ्कराचार्य जीवन चरित्र-ले० स्वामी परमानन्द (खेमराज, बम्बई, १९१३)
२९ 'गीवाधर्म' का शङ्करांक (काशी १९३९ मई)

(२) शङ्करदिग्विजय

(१) माधव (कृत—आ० स० सी० संख्या २२)
(२) आनन्दगिरि (अनन्तानन्दगिरि—कलकत्ता)
(३) सदानन्द
(४) चिद्विलास (Printed in Telugu and Grantha)
(५) व्यासगिरि (Tanjore Palace Library)
(६) आचार्य चरितम् (मलयालम अक्षरों में, उपनाम केरलीयशंकर विजय)।
(७) राजचूडामणि दीक्षित शङ्कराभ्युदय (Vani Vilas Press,)
(८) शङ्करदेशिकेन्द्र-शङ्करविजय-विलास-काव्य (ms. Aufrect 626, Oppert II, 492)
(९) शंकरविजय कथा (ms. Madras Oriental Library.)
(१०) शङ्कराचार्य चरित (ms Burnell 4746, Oppert 6232)
(११) शंकराचार्यावतारकथा- आनन्दतीर्थ (S. Rice 742)
(१२) शंकराचार्योत्पत्ति
(१३) प्राचीन शङ्करविजय (मूकशङ्कर, 18th head of Kanchi Matha.)
(१४) बृहत्-शंकर विजय (MS. by सर्वज्ञचित्सुख)
(१५) शङ्कर विलास विद्यारण्य (हस्त लिखित)
(१६) ——चम्पू जगन्नाथ (हस्त लिखित)
(१७) ——अभ्युदयकाव्य—रामकृष्ण
(१८) श. वि. सार—नरराज

(३) अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थकार

अखण्डानन्द	तत्वदीपन (विवरण की व्याख्या) चौ० सं० सी० १७
अखण्डानन्द	ऋजु प्रकाशिका (भामती की टीका)
अच्युत कृष्णानन्द	कृष्णालङ्कार (सिद्धान्तलेश की टीका)
अद्वैतानन्द	ब्रह्मविद्याभरण (ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य का व्याख्यान) चौ० सं० सी०
अनन्तदेव	सिद्धान्ततत्त्व—चौ० सं० सी०
अनन्तानन्दगिरि	ऐतरेय उपनिषद् भाष्य-टीका
,,	प्रश्न भाष्य टीका
,,	शंकर विजय
अनुभूति स्वरूपाचार्य	प्रमाणरत्नमाला टीका,
,,	माण्डूक्य कारिका भाष्य टीका
अप्पय दीक्षित	उपक्रम पराक्रम (चौ० सं० सी० २२)
,,	न्यायरक्षामणि (ब्रह्मसूत्र की व्याख्या)
,,	सिद्धान्तलेशसंग्रह (चौ० सं० सी०)
,,	कल्पतरु परिमल (नि० सा०)
,,	मध्व तन्त्र मुखमर्दन (आनन्दाश्रम सं० सी० ११३)
अमरदास	मणि प्रभा मिताक्षरा (उपनिषदों की व्याख्या) चौ० सं० सी०
अमलानन्द	वेदान्त कल्पतरु (भामती की टीका)
,,	शास्त्रदर्पण (ब्रह्मसूत्र की टीका)
अनन्तानन्द	प्रकटार्थ विवरण में निर्दिष्ट
आनन्द गिरि	वाक्य वृत्ति टीका
,	त्रिपुटी टीका
,,	उपदेशसाहस्री टीका
,,	न्यायरत्न दीपावली
,,	न्यायनिर्णय (ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य की टीका)
,,	गीताभाष्य टीका (आनन्दाश्रम सं० सी० ३४)
,,	पञ्चीकरण विवरण
,,	बृहदारण्यकवार्तिक कारिका (आनन्दाश्रम)
आनन्दपूर्ण	न्याय चन्द्रिका
,,	पञ्चपादिका टीका
,,	टीकारत्न (विवरण की टीका)
,,	खण्डन फक्किका विभाजन (खण्डन की टीका)
,,	न्याय कल्पलतिका (बृहदारण्यकवार्तिक की टीका) चौ० सं० सी०
,,	(खण्डनखण्डखाद्य टीका)
,,	विद्यासागर

आनन्दपूर्ण	भावशुद्धि (ब्रह्मसिद्धि की टीका)
,,	न्याय दीपावली
आनन्द बोध	शाब्दनिर्णय दीपिका
,,	न्याय मकरन्द (चौ० सं० सी० ११)
आनन्दानुभव	इष्टसिद्धि टीका
,,	न्यायरत्न दीपावली
आपदेव	बाल बोधिनी (वेदान्त सार की टीका)
उत्तमश्लोकयति	वेदान्त सूत्र लघुवार्तिक (चौ० सं० सी० ४६)
कृष्णतीर्थ	अन्वयार्थ प्रकाशिका (संक्षेप शारीरक पर टीका) आनन्दाश्रम सं० ८३
गोविन्दानन्द	रत्नप्रभा (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की टीका)
गंगाधरेन्द्रसरस्वती	प्रणवकल्पप्रकाश (चौखम्भा स० सी० ७४)
,,	वेदान्त सिद्धान्त सूक्ति मञ्जरी (चौ० स० सी० ३६)
गंगाधरसरस्वती	स्वराज्यसिद्धि पर टीका
चित्सुखाचार्य	अधिकरण मञ्जरी
,,	अधिकरण संगति
,,	अभिप्राय प्रकाशिका (ब्रह्मसिद्धि की टीका)
,,	खण्डन खाद्य टीका
,,	तत्त्वदीपिका
,,	न्यायमकरन्द टीका
,,	प्रमाणरत्नमाला टीका
,,	भावद्योतनिका (विवरण की टीका)
,,	सुबोधिनी (संक्षेप शारीरक पर टीका, आनन्दाश्रम ८३)
,,	भावतत्त्वप्रकाशिका (नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका)
जनार्दन	तत्त्वालोक
जीवगोस्वामी	गोपालतापिनी टीका (हस्तलिखित)
ज्ञानघनपाद	तत्त्व शुद्धि
ज्ञानामृत यति	विद्यासुरभि (नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका)
ज्ञानोत्तम	इष्टसिद्धि टीका
,,	चन्द्रिका (नैष्कर्म्य सिद्धि की टीका) बनारस सं० सी०
,,	ज्ञान सिद्धि
ज्ञानोत्तम	न्याय सुधा
,,	विद्याश्री (ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य की टीका, हस्तलिखित)
ज्ञानोत्तम (गौडेश्वराचार्य)	ज्ञानसुधा
ताराचरण शर्मा	खण्डनपरिशिष्ट (खण्डनपर टीका) चौखम्भा सं० सी०
दिगम्बरानुचर	प्रकाश (ईश, केन और कठ पर टीका, आनन्दाश्रम ७६)

दिवाकर	बोधसार टीका (बनारस संस्कृत सीरीज)
धनपति	वेदान्त परिभाषा की टीका (ह० लि०)
धर्मराजाध्वरीन्द्र	वेदान्त परिभाषा
नरहरि	बोधसार (बनारस संस्कृत सीरीज)
नाना दीक्षित	सिद्धान्त दीपिका (वेदान्त मुक्तावली की टीका)
नारायण तीर्थ	सिद्धान्त बिन्दु पर नारायणी टीका (काशी संस्कृत सीरीज ६५)
,,	विभावना (ब्रह्मसूत्र पर टीका)
,,	लघु व्याख्या (सिद्धान्तबिन्दु पर टीका)
नारायण पण्डित	दीपिका टीका (अनेक उपनिषदों की, एशियाटिक सोसाइटी)
नारायणाश्रम	तत्त्व विवेक दीप (हस्तलिखित १६१)
,,	सत्क्रिया (भेद धिक्कार पर टीका)
नित्यानन्द मुनि	मिताक्षरा बृहदारण्यक पर टीका, आ० सं० सी० ३१
,,	मिताक्षरा (छान्दोग्य पर टीका) आ० सं० सी० ७९
नीलकण्ठ	वेदान्त शतक
,,	आनन्दमयाधिकरण विचार
नृसिंह सरस्वती	सुबोधिनी (वेदान्तसार पर टीका)
नृसिंहाश्रम	अद्वैत दीपिका (नारायण पाद की टीका के साथ, चौ० सं० सी०)
,,	दीपन (वेदान्त तत्व विवेक की टीका)
,,	तत्त्वबोधिनी (संक्षेप शारीरक पर टीका)
,,	प्रकाशिका (विवरण पर टीका)
,,	भावप्रकाशिका (तत्व-दीपन पर टीका)
,,	नृसिंह विज्ञापन
,,	वेदान्त रत्नकोश (पञ्चपादिका की टीका)
,,	वेदान्त तत्व विवेक
,,	भेदधिक्कार
परमानन्द	अवधूत गीता—टीका
पुरुषोत्तम दीक्षित	सुबोधिनी (संक्षेप शारीरक पर टीका)
पूर्णप्रकाशानन्द सरस्वती	रत्नप्रभा (चतु सूत्री) पर टीका (चौखम्भा सं० सी०)
पूर्णानन्द	चतुःसूत्री पर भाष्य (चौखम्भा)
प्रकाशात्मा	विवरण
,,	न्यायसंग्रह (शांकर भाष्य पर टीका) हस्तलिखित
,,	शाब्दनिर्णय (अनन्तशयन ग्रन्थमाला)
प्रकाशानन्द यति	वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली
,,	तत्त्वप्रकाशिका (तत्त्वालोक पर टीका)
प्रगल्भमिश्र	खण्डनदर्पण (खण्डन पर टीका) चौखम्भा
प्रज्ञानन्द सरस्वती	प्रज्ञानन्दप्रकाश; भावार्थ कौमुदी के साथ (चौखम्भा)

वैद्यनाथ	[illegible]
शंकर मिश्र	आनन्दवर्धन (खण्डनखण्ड-खाद्य की टीका)
शङ्कराचार्य	ईशोपनिषद्-भाष्य ।
	ऐतरेय भाष्य ।
	कठ-भाष्य ।
	केन-पदभाष्य
	,,—वाक्य भाष्य ।
	छान्दोग्य भाष्य ।
	तैत्तिरीय भाष्य ।
	नृसिंह-पूर्वतापिनी भाष्य ।
	प्रश्न भाष्य ।
	बृहदारण्यक भाष्य ।
	ब्रह्मसूत्र भाष्य ।
	भगवद्गीता भाष्य ।
	माण्डूक्य भाष्य ।
	माण्डूक्य कारिका भाष्य ।
	मुण्डक भाष्य ।
	श्वेताश्वतर भाष्य ।
	सनत्सुजातीय भाष्य ।
शङ्करानन्द	आत्म पुराण (सटीक) चौखम्भा
शङ्करानन्द	ब्रह्मसूत्र दीपिका (बनारस सं० सीरीज २४,
,,	दीपिका (कैवल्य उपनिषद् पर टीका । एशियाटिक सोसाइटी, (कलकत्ता)
,,	दीपिका (कौशितकी पर टीका)
,,	दीपिका (नृसिंह तापिनी पर टीका)
,,	नृसिंह पूर्वतापिनी भाष्य आनन्दाश्रम ३०
,,	माण्डूक्य उपनिषद् दीपिका (काशी सं० सीरीज)
,,	वाक्यवृत्ति (आनन्दाश्रम ८०)
श्री हर्ष	खण्डनखण्डखाद्य
श्रीधराचार्य	अद्वयसिद्धि
सदानन्द	वेदान्तसार
सदानन्द काश्मीरक	अद्वैत ब्रह्मसिद्धि
,,	ईश्वरवाद
,,	स्वरूपनिर्णय
,,	स्वरूप प्रकाश
,,	अद्वैतसिद्धि सिद्धान्तसार (चौ० सं० सीरीज)

सदानन्द काश्मीरीक	गीताभावप्रकाश (पद्यमयी टीका)
,,	तत्वविवेक पर टीका (हस्तलिखित)
,,	प्रत्यक् तत्त्वचिन्तामणि (प्रभा टीका के साथ)
	(अच्युत ग्रन्थमाला काशी)
,,	शंकर दिग्विजयसार
स्वयं प्रकाश	पञ्चप्रक्रिया (अद्वैतमकरन्द टीका)
सर्वज्ञात्ममुनि	संक्षेप शारीरक
सुख प्रकाश	अधिकरणरत्नमाला
,,	न्यायदीपावली टीका
,,	न्याय मकरन्द टीका
,,	भावद्योतनिका (तत्वप्रदीपिका पर टीका)
सुरेश्वराचार्य	तैत्तिरीय भाष्य वार्तिक (आनन्दाश्रम सं० सी० १३)
,,	नैष्कर्म्यसिद्धि
,,	बृहदारण्यक भाष्य-वार्तिक आनन्दाश्रम १६
सूर्यनारायण शुक्ल	खण्डनरत्न मालिका (खण्डन पर टीका) चौखम्भा
स्वयं प्रकाशानन्द	मिताक्षरा (माण्डूक्य-कारिका पर टीका) चौ० सं० सी० ४८
स्वयं प्रकाश	अद्वैत मकरन्द पर टीका
हनुमान	पैशाच भाष्य—गीता पर (आनन्दाश्रम सं० सी० ४०)
हरिदीक्षित	ब्रह्मसूत्र वृत्ति (आनन्दाश्रम सं० सी० ८२)

(४) अद्वैतवेदान्त के ग्रन्थ

ग्रन्थ	ग्रन्थकार	विवरण
अद्वयसिद्धि	श्रीधराचार्य	
अद्वैतचन्द्रिका	ब्रह्मानन्द सरस्वती	अद्वैतसिद्धि की टीका
अद्वैत चिन्तामणि	रङ्गोजी भट्ट	सरस्वती भवन टैक्स्ट (नं० २)
अद्वैत दीपिका	नृसिंहाश्रम	
अद्वैत ब्रह्मसिद्धि	सदानन्द काश्मीरक	कलकत्ता विश्वविद्यालय
अद्वैत मकरन्द	लक्ष्मीधर	
,, टीका	स्वयं-प्रकाश	
अद्वैतरत्न लक्षण	मधुसूदन	
अद्वैत-रस-मञ्जरी		चौखम्भा सं० सीरीज में प्रकाशित
अद्वैत विद्यांकुर	रङ्गराजाध्वरीन्द्र	
अद्वैतशास्त्र सारोद्धार	रङ्गोजी भट्ट	
अद्वैत सिद्धि	मधुसूदन	
अद्वैत सिद्धान्त	ब्रह्मानन्द सरस्वती	विद्योतन की टीका
अद्वैतसिद्धिसिद्धान्तसार	सदानन्द पण्डित	चौखम्भा सं० सी० नं० १८

अद्वैतामोद	वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर	आ० सं० सी०
अधिकरण मंजरी	चित्सुख	
अधिकरण रत्नमाला	सुख प्रकाश	
अधिकरण संगति	चित्सुख	
अनुभूति प्रकाश	विद्यारण्य	
अनुभूति लेश	वामन पण्डित	चौखम्भा में प्रकाशित
अनुमिति निरूपण	रामनारायण	
अन्वयार्थ प्रकाशिका	रामतीर्थ	सक्षेप शारीरक की टीका
अन्वयार्थ बोधिनी	,,	सक्षेप शारीरिक पर टीका काशी संस्कृत सीरीज (न०२) में प्रकाशित
अभिप्राय प्रकाशिका	चित्सुख	ब्रह्मसिद्धि की टीका
अभेदरत्न	मल्लनाराध्य	१५०० ई
अवधूत गीता		
अवधूत गीता टीका	परमानन्द	
आत्मपुराण	शंकरानन्द	चौखम्भा सं० सी० काशी
आनन्दमयाधिकरण विचार	नीलकण्ठ	
इष्टसिद्धि	विमुक्तात्मा	गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज
,, टीका	आनन्दानुभव	
,, टीका	ज्ञानोत्तम	
ईशोपनिषद् भाष्य	शंकराचार्य	आ० स० सी०
ईश्वरवाद	सदानन्द काश्मीरक	
उपदेशसाहस्री	शंकराचार्य	निर्णय सागर से प्रकाशित
,, ,, टीका	आनन्दगिरि	,,
उपनिषद्—दीपिका	शंकरानन्द	
—भाष्य	शंकराचार्य	
,, ,,	भास्करानन्द	चौखम्भा से प्रकाशित
,, विवरण	विज्ञानात्म भगवान्	
,, मणिप्रभा		,,
ऋजु प्रकाशिका	अखण्डानन्द	भामती की टीका
ऋजु विवरण	विष्णु भट्ट उपाध्याय	विवरण की टीका
ऐतरेय उपनिषद् भाष्य टीका	अनन्तआनन्द गिरि	
ऐतरेय भाष्य	शंकराचार्य	मुद्रित (आ० स० सी०)
कठभाष्य—	शंकराचार्य	आ० स० सी०
कल्पतरु परिमल	अप्पयदीक्षित	
,, मञ्जरी	वैद्यनाथ	कल्पतरु की टीका
केन पद भाष्य	शंकराचार्य	आ० स० सी०

कैवल्यरत्न वाक्य भाष्य	वासुदेव ज्ञान मुनि तीर्थ	चौ० सं० सी०
कृष्णालंकार	अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ	सिद्धान्तलेश की टीका; चौ०
खण्डनखण्ड खाद्य	श्री हर्ष	
,, (टीका)	शंकर मिश्र	टीका का नाम आनन्दवर्धन
,, (,,)	चित्सुख	
,, (,,)	प्रगल्भमिश्र	टीका का नाम खण्डन दर्पण चौखम्भा सं० सीरीज
,,	तारा चरण शर्मा	टीका-नाम खण्डन परिशिष्ट चौखम्भा सं० सीरीज
,, ,,	आनन्दपूर्ण	टीका-नाम 'खण्डन फक्किका विभजन' चौखम्भा सं० सी०
,, ,,	रघुनाथ भट्टाचार्य	टीका नाम—खण्डन भूषामणि चौ० सं० सी०
,, ,,	सूर्यनारायण शुक्ल	टीका नाम—खण्डनरत्न मालिका चौ० सं० सी०
गीता भाष्य	शंकराचार्य	
,, टीका	आनन्दगिरि	आ० सं० सी० ३४
,, ,,	मधुसूदन	टीका-नाम-'गूढार्थदीपिका'
,, ,,	महानन्द पण्डित	टीका नाम गीता-भाव-प्रकाश
गोपाल तापिनी (टीका)	विश्वेश्वर पण्डित	एशियाटिक सोसाइटी
,, ,,	जीवगोस्वामी	(हस्तलिखित)
चन्द्रिका	ज्ञानोत्तम मिश्र	नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका (बाम्बे सं० सी० में प्रकाशित)
छान्दोग्यभाष्य	शंकराचार्य	आ० सं० सी०
जीवन्मुक्तिविवेक	विद्यारण्य	आ० सं० सी० २०
,, टीका	अच्युत राय मोडक	टीकानाम-पूर्णानन्देन्दु कौमुदी
ज्ञानसिद्धि	ज्ञानोत्तम	
ज्ञानसुधा	ज्ञानोत्तम (गौडेश्वराचार्य)	
टीकारत्न	आनन्दपूर्ण	विवरण की टीका
तत्त्वदीपन	अखण्डानन्द मुनि	विवरण की व्याख्या चौ०सं०सी०
तत्त्वदीपिका	चित्सुख	
तत्त्वप्रकाशिका	प्रकाशानन्द	तत्त्वालोक की टीका
तत्त्वबोधिनी	नृसिंहाश्रम	संक्षेप शारीरक की टीका
तत्त्व विवेक		
तत्त्व विवेक टीका	सदानन्द पण्डित	
,,	महोविद्दीप्ति	

तत्त्वविवेक दीपन	नारायणाश्रम	इ० लि०
तत्त्व शुद्धि	ज्ञान घनपाद	
तत्त्वानुसन्धान	महादेवानन्द सरस्वती	चा० सं० सी० नं० २४
,, ,, टीका	रामनारायण	इ० लि०
तत्त्वालोक	जनार्दन	
त्र्यम्यन्त भावदीपिका	रामानन्द तीर्थ	ऋजुविवरण की टीका
त्रिपुटी टीका	आनन्द	
तात्पर्यदीपिका	माधवमन्त्री	सूतसंहिता की टीका आ० सं० सी०
तात्पर्यबोधिनी	रामनारायण	पंचदशी की टीका-इ० लि०
तैत्तिरीय भाष्य	शंकराचार्य	मु०
,, ,, वार्तिक	सुरेश्वराचार्य	आ० सं० सी० १३
दक्षिणामूर्तिस्तोत्र	शंकराचार्य	
,, वार्तिक	सुरेश्वराचार्य	
,, ,, टीका	रामतीर्थ	
दीपन टीका	नृसिंहाश्रम	वेदान्त तत्त्व विवेक की टीका
दीपिका टीका ब्रह्मसूत्र	शंकरानन्द	आ० सं० सी० ६७
,, कैवल्य उपनिषद्	,,	एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
,, कौषीतकी ,,	,,	,,
,, नृसिंहतापनीय	,,	,,
,, नृसिंह उत्तर तापनी	विद्यारण्य	आ० सं० सी० १०
,, उपनिषद्	नारायण पण्डित	एशि० सो० कलकत्ता
नारायणी टीका	नारायण तीर्थ	सिद्धान्तबिन्दु पर टीका चौ० सं० सी०
न्याय-कल्प-लतिका	आनन्दपूर्ण	टीका—बृहदारण्यक वार्तिक की
न्यायचन्द्रिका	आनन्दपूर्ण	
न्याय दीपावली	आनन्दबोध	
,, (टीका)	सुखप्रकाश	
न्यायनिर्णय	आनन्द	शाङ्करभाष्य पर टीका
न्याय मकरन्द	आनन्दबोध	चौ० सं० सी० १
,, टीका	चित्सुख	
न्याय मकरंद	सुखप्रकाश	
न्यायरत्नमणि	अप्पयदीक्षित	ब्रह्मसूत्र पर टीका
न्याय रत्नदीपावली टीका	आनन्द	
न्यायरत्नावली	ब्रह्मानन्द	सिद्धान्त बिन्दु पर टीका
		चौ० सं० सी० ६५
न्यायसंग्रह	प्रकाशात्मा	शाङ्करभाष्य पर टीका
न्यायसुधा	ज्ञानोत्तम	

निरंजन भाष्य	विश्वदेवाचार्य	सिद्धान्त दर्शन पर
नैष्कर्म्यसिद्धि	सुरेश्वर	चौ० सं० सी०
नृसिंह विज्ञापन	नृसिंहाश्रम	
नृसिंह पूर्व तापिनी भाष्य	—शंकर	आनन्दाश्रम सं०सी० ३० नि० सा०
पञ्चदशी	विद्यारण्य	
पञ्चपादिका व्याख्या	विज्ञानवास यति	हस्तलिखित
पञ्चपादिका टीका	आनन्दपूर्ण	
पञ्चप्रक्रिया	सर्वज्ञात्ममुनि	ह० लि०
पञ्चीकरण विवरण	आनन्द	
पञ्चीकरण वार्तिक टीका ,, विवरण		चौ० सं० सी० ७
पदयोजनिका	रामतीर्थ	उपदेश साहस्री पर टीका
पैशाच भाष्य	हनुमान	गीता की टीका आ० सं० सी० ४०
प्रकटार्थ विवरण		शाङ्करभाष्य पर टीका; मद्रास विश्व विद्यालय से प्रकाशित
प्रकाश	दिगम्बरानुचर	ईश, केन, कठ पर टीका आ० सं० सी० ७६
प्रकाशिका	नृसिंहाश्रम	विवरण की टीका
प्रज्ञानन्दप्रकाश	प्रज्ञानन्द सरस्वती	
प्रणवकलाप्रकाश	गंगाधरेन्द्र सरस्वती	चौ० सं० सी० ७४
प्रत्यक तत्त्वचिन्तामणि	सदानन्द	अच्युत ग्रन्थमाला से प्रकाशित
प्रमाणरत्नमाला	अनुभूति स्वरूपाचार्य	
,, ,, टीका	चित्सुख	
प्रश्नभाष्य टीका	अनन्तानन्द गिरि	
प्रश्न भाष्य	शंकराचार्य	आ० सं० सी०
बालबोधिनी	आपदेव	वेदान्तसार की टीका
बोधसार	नरहरि	चौ० स० सी०
,, टीका	दिवाकर	चौ० सं० सी०
बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक	सुरेश्वराचार्य	आ० स० सी० १६
बृहदारण्यक भाष्य	शंकराचार्य	चौ० सं० सी०
,, टीका	आनन्दगिरि	,, ,, ,,
बृहदारण्यकवार्तिकसार	विद्यारण्य	हिन्दी अनुवाद; आ० मा० काशी
ब्रह्मगीता टीका	विद्यारण्य	
ब्रह्मतत्त्व समीक्षा	वाचस्पति	
ब्रह्मप्रकाशिका—	—	प्रकटार्थविवरण में उल्लिखित है।
ब्रह्मविद्याभरण—	अद्वैतानन्द	शंकरभाष्य पर टीका, चौ०सं०सी०

ब्रह्मसिद्धि	मण्डन	मद्रास से प्रकाशित
ब्रह्मसूत्र भाष्य	शंकराचार्य	आ० सं० सी०
ब्रह्मसूत्रतात्पर्य विवरण	भैरव शर्मा	चौ० सं० सी०
ब्रह्मसूत्र वृत्ति	हरिदीक्षित	आ० सं० सी० ८२
ब्रह्म मृतम्	जी कृष्ण ब्रह्मतीर्थ	चौ० सं० सी० १२
ब्रह्म सूत्र तरंगिणी	रामानन्द सरस्वती	ब्रह्मसूत्रपर टीका
,, वर्षिणी		,, ,, आ० स० सी० ६७
भगवद्गीता भाष्य	शंकराचार्य	आ० सं० सी० ३६
भामती	वाचस्पति मिश्र	ब्र० सू० शाङ्कर भाष्य की टीका (नि० सा०)
भावतत्त्वप्रकाशिका	चित्सुख	नैष्कर्म्यसिद्धि पर टीका
भावद्योतनिका	सुखप्रकाश	तत्त्वप्रदीपिका पर टीका
भावद्योतनी	चित्सुख	विवरण की टीका
भावप्रकाशिका	नृसिंहाश्रम	तत्त्वदीपन पर टीका
,,	चित्सुख	शांकर भाष्य पर टीका
भावशुद्धि	आनन्दपूर्ण	ब्रह्मसिद्धि पर टीका
भाष्य चतुःसूत्री	पूर्णानन्द	चौ० सं० सी०
भेदधिक्कार	नृसिंहाश्रम	
मणिप्रभा मिताक्षरा	अमरदास	एकादश उपनिषदों पर टीका चौ० सं० सी०
मध्वतन्त्र मुखमर्दन	अप्पयदीक्षित	आ० सं० सी० ११३
माण्डूक्य उपनिषद् दीपिका	शंकरानन्द	चौ० सं० सी०
,, का० भा० टीका	अनुभूति स्वरूपाचार्य	
माण्डूक्य भाष्य	शंकराचार्य	आ० सं० सी०
,, कारिकाभाष्य	,,	,,
मानस नयन-प्रसादिनी	प्रत्यक् स्वरूपाचार्य	चित्सुखी पर टीका
मिताक्षरा	स्वयं प्रकाशानन्द	माण्डूक्य कारिका पर टीका; चौ० सं० सी० ४८
,,	नित्यानन्द मुनि	छान्दोग्य पर टीका आ० स० सी० ७८
,,	,,	बृहदारण्यक पर टीका आ० सं० सी० ३१
मुक्तावली—	ब्रह्मानन्द सरस्वती	ब्रह्मसूत्र पर टीका
मुण्डक भाष्य	शंकराचार्य	आ० सं० सी०
रत्नप्रभा	गोविन्दानन्द	ब्र० सू० शांकर भाष्य पर टीका
,, टीका	पूर्ण प्रकाशानन्द सरस्वती	

लघुव्याख्या	नारायण तीर्थ	सिद्धान्तबिन्दु पर टीका
लघुसंग्रह	महेश्वर तीर्थ	बृहदारण्यक वार्तिकसार पर टीका चौ० सं० सी०
वाक्यवृत्ति	शङ्कराचार्य	आ० सं० सी० ८०
,, टीका	विश्वेश्वर	आ० सं० सी० ८०
,, टीका	आनन्द	
वाक्यसुधा टीका	ब्रह्मानन्द भारती	ब० स० सी० १६
विज्ञाननौका टीका	रामनारायण	
विद्यामृतवर्षिणी	राघवानन्द सरस्वती	सङ्क्षेपशारीरकपर टीका (ह० लि०)
विद्याश्री	ज्ञानोत्तम	शाङ्करभाष्य पर टीका (ह० लि०)
विद्यासुरभि	ज्ञानामृत यति	नैष्कर्म्य सिद्धि पर टीका
विद्वन्मनोरंजनी	रामतीर्थ	वेदान्तसार पर टीका
विभावना	नारायण तीर्थ	ब्रह्मसूत्र पर टीका
विवरण	प्रकाशात्मा	
विवरणोपन्यास	रामानन्द सरस्वती	म० स० सी० १६
विवरण दर्पण	रङ्गराजाध्वरीन्द्र	विवरण पर टीका
विवरण प्रमेय संग्रह	विद्यारण्य	
वेदान्त-शतक	नीलकण्ठ	
वेदान्त कल्पतरु	अमलानन्द	नि० सा०
वेदान्त कल्प दीपिका	मधुसूदन	
वेदान्त कौमुदी	रामाद्वय—	हस्तलिखित
वेदान्त तत्व कौस्तुभ	भट्टोजिदीक्षित	
वेदान्त तत्वविवेक	नृसिंहाश्रम—	
वेदान्त परिभाषा	धर्मराजाध्वरीन्द्र	
,, टीका	शिवदत्त	हरिदास सं० सी० ६
वेदान्त रत्न कोश	नृसिंहाश्रम	पञ्चपादिका पर टीका
वेदान्त शिखामणि	रामकृष्ण	वेदान्त परिभाषा पर टीका
वेदान्तसार	सदानन्द	
,, टीका	रामकृष्ण	
वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली	प्रकाशानन्द	हिन्दी अनुवाद, काशी
वेदान्त सिद्धान्तसूक्तिमंजरी	गंगाधरेन्द्र सरस्वती	चौ० स० सी० २६
वेदान्तसूत्र मुक्तावली	ब्रह्मानन्द सरस्वती	ब्रह्मसूत्र पर टीका आ० स० सी० ७७
वेदान्त सूत्र लघुवार्तिक	उत्तम श्लोकयति	च० स० सी० ४६
वैयासिक न्यायमाला	विद्यारण्य और भारतीतीर्थ	आ० स० सी० २१

शङ्करपाद भूषण	रघुनाथ सूरि	ब्र० सू० की टीका, आ० सं० सी० १०१
शब्दनिर्णय	प्रकाशात्मा	अनन्त शयन सं० ग्र०
शब्दनिर्णय दीपिका	आनन्द बोध	
शारीरक रहस्यार्थ प्रकाशिका	रामतीर्थ	ब्र० सू० शङ्कर भाष्य की टीका
शास्त्र दर्पण	अमलानन्द	ब्र० सू० की टीका
श्वेताश्वतर भाष्य	शंकराचार्य	आ० सं० सी०
श्वेताश्वतर भाष्य टीका	विज्ञानात्मा	
सनत् सुजातीय भाष्य	शंकराचार्य	आ० सं० सी०
संक्षेप शारीरक	सर्वज्ञात्ममुनि	
,, टीका	चित्सुख	टीकानाम-सुबोधिनी आ० सं० सी० ८३
,, ,,	कृष्णतीर्थ	,, —अन्वयार्थ प्रकाशिका आ० सं० सी० ८३
,, ,,	मधुसूदन	,, —सारसंग्रह का० सं० सी० १८
,, ,,	पुरुषोत्तम दीक्षित	
,, ,,	रामतीर्थ	
,, ,,	विश्ववेद	सिद्धान्तदीप; ह० लि०
सत्क्रिया	नारायणाश्रम	भेदधिक्कार की टीका
सिद्धान्त तत्त्व	अनन्तदेव	चौ० सं० सी०
सिद्धान्त दर्शन	वेदव्यास	
सिद्धान्त दीप	विश्ववेद	सं० शा० की टीका; हस्तलिखित
सिद्धान्त दीपिका	नाना दीक्षित	वेदान्त मुक्तावली की टीका
सिद्धान्तबिन्दु	मधुसूदन सरस्वती	हिन्दी अनुवाद, काशी
,, टीका		
सिद्धान्तलेश संग्रह	अप्पय दीक्षित	} चौखम्भा सं० सी०, काशी
,, टीका	अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ	
सुबोधिनी	नृसिंहाश्रम	वेदान्तसार की टीका
,,	पुरुषोत्तम दीक्षित	सं० शा० की टीका
स्वराज्यसिद्धि टीका	गंगाधर सरस्वती	
स्वरूप-प्रकाश	सदानन्द काश्मीरक	ह० लि०
स्वानुभवादर्श	माधवाश्रम	चौ० सं० सी० ४०